



तत्त्वार्थसूत्र

- आचार्य-उमास्वामी

Index

गाथा / सूत्र	विषय
अधिकार-१ (जीवाधिकार)	
001)	मोक्ष का उपाय
002)	सम्यग्दर्शन का लक्षण
003)	उत्पत्ति के आधार पर सम्यग्दर्शन के भेद
004)	सात तत्त्व
005)	सम्यग्दर्शन और जीव आदि के व्यवहार में आने वाले व्यभिचार को दूर करने के लिए निक्षेपों का कथन
006)	तत्त्वों को जानने का उपाय
007)	प्रमाण और नय के द्वारा जाने गये जीव आदि तत्त्वों को जानने का अन्य उपाय
008)	जीव आदि को जानने के और भी उपाय
009)	ज्ञान के भेद
010)	ज्ञान ही प्रमाण है
011)	परोक्ष प्रमाण
012)	प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान
013)	परोक्ष प्रमाण के संबंध में विशेष कथन
014)	मतिज्ञान किससे उत्पन्न होता है
015)	मतिज्ञान के भेद
016)	अवग्रह आदि ज्ञानों के और भेद
017)	बहु बहुविध आदि किसके विशेषण हैं
018)	सभी पदार्थों के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं या उसमें कुछ अंतर है?
019)	व्यंजनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता
020)	श्रुतज्ञान का स्वरूप
021)	अवधिज्ञान के भेद
022)	क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है?
023)	मनःपर्यय के भेद
024)	मनःपर्यय के दोनो भेदों में विशेषता
025)	अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में अन्तर
026)	मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय
027)	अवधिज्ञान का विषय
028)	मनःपर्यय ज्ञान का विषय
029)	केवल ज्ञान का विषय
030)	एक जीव में एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं?
031)	कौन-कौन से ज्ञान मिथ्या भी होते हैं?
032)	मिथ्यादृष्टि के ज्ञानों को मिथ्या क्यों कहा जाता है?
033)	नय के भेद

अधिकार-२ (जीवाधिकार)

034)	जीव के परिणामों (भावों) के प्रकार
035)	परिणामों (भावों) के उत्तर-भेद
036)	औपशमिकभाव के भेद
037)	क्षायिकभाव के भेद
038)	क्षायोपशमिक भाव के भेद
039)	पारिणामिक भाव के भेद
040)	लक्षण के भेद
041)	उपयोग के भेद

अधिकार-३ (जीवाधिकार)

अधिकार-४ (जीवाधिकार)

अधिकार-५ (अजीवाधिकार)

अधिकार-६ (आस्रवाधिकार)

अधिकार-७ (आस्रवाधिकार)

अधिकार-८ (बंधाधिकार)

अधिकार-९ (संवर-निर्जराधिकार)

अधिकार-१० (मोक्षाधिकार)

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्उमास्वामीदेव-प्रणीत

श्री

तत्त्वार्थ-सूत्र

मूल संस्कृत सूत्र, श्री पूज्यपाद-आचार्य विरचित 'सर्वार्थ-सिद्धि' नामक संस्कृत टीका का हिंदी अनुवाद, श्री अकलान्काचार्य विरचित 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक' नामक संस्कृत टीका का हिंदी अनुवाद सहित

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः
प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकम इदं शास्त्रं श्रीतत्त्वार्थ-सूत्र-नामधेयं,
अस्य मूलाग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः

प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीआचार्यउमास्वामीदेव विरचितं, सर्वे श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र श्रीतत्त्वार्थ-सूत्र नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूँथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीआचार्यउमास्वामीदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है। सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें।)

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

आ. उमास्वामी (ई.श.३) कृत मोक्षमार्ग, तत्त्वार्थ दर्शन विषयक १० अध्यायों में सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। कुल सूत्र ३५७ हैं। इसी को मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों को समान रूप से मान्य है। जैन आम्नाय में यह सर्व प्रधान सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है। जैन दर्शन प्ररूपक होने के कारण यह जैन बाइबल के रूप में समझा जाता है। इसके मंगलाचरण रूप प्रथम श्लोक पर ही आ०समन्तभद्र (ई.श.२) ने आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) की रचना की थी, जिसकी पीछे अकलंकदेव (ई०६२०-६८०) ने ८०० श्लोक प्रमाण अष्टशती नाम की टीका की। आगे आ०विद्यानन्दि नं.१ (ई०७७५-८४०) ने इस अष्टशती पर भी ८००० श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामकी व्याख्या की। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर अनेकों भाष्य टीकाएँ उपलब्ध हैं—

- श्वेताम्बराचार्य वाचकउमास्वामीकृततत्त्वार्थाधिगम भाष्य (संस्कृत);
- आ०समन्तभद्र (ई०२) विरचित ९६०० श्लोक प्रमाण गन्धहस्ति महाभाष्य;
- श्री पूज्यपाद (ई०श०५०) विरचित सर्वार्थसिद्धि;
- योगीन्द्र देव विरचित तत्त्व प्रकाशिका (ई०श०६)
- श्री अकलंक भट्ट (ई०६२०-६८०) विरचित तत्त्वार्थ राजवार्तिक;
- श्री अभयनन्दि (ई.श.१०-११) विरचित तत्त्वार्थ वृत्ति;
- श्री विद्यानन्दि (ई०७७५-८४०) विरचित श्लोकवार्तिक।
- आ०शिवकोटि (ई०श०११) द्वारा रचित रत्नमाला नामकी टीका।
- आ०भास्करनन्दि (ई०श०१२) कृत सुखबोध नामक टीका।
- आ०बालचन्द्र (ई०श०१३) कृत कन्नड़ टीका।
- विबुधसेनाचार्य (?) विरचित तत्त्वार्थ टीका।
- योगदेव (ई०१५७९) विरचित तत्त्वार्थ वृत्ति।
- प्रभाचन्द्र नं०८ (ई०१४३२) कृत तत्त्वार्थ रत्नप्रभाकर
- भट्टारक श्रुतसागर (वि.श.१६)कृत तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुत सागरी)।
- द्वितीय श्रुतसागर विरचित तत्त्वार्थ सुखबोधिनी।
- पं०सदासुख (ई०१७९३-१८६३) कृत अर्थ प्रकाशिका नाम टीका।

त्रैकाल्यं द्रव्य-षट्कं नव-पद-सहितं जीव-षट्काय-लेश्याः
पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवन-महितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्धति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः

अर्थ - तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह काय, छहेश्या, पांच अस्तिकाय, पांच व्रत, पांच समिति, गति, पांच ज्ञान और पांच चारित्र भेद रूप ये सब मोक्ष के मूल हैं, ऐसा तीनों लोकों के पूज्य अर्हत भगवान के द्वारा कहा है। जो बुद्धिमान इनकी प्रतिति करता है, श्रद्धान करता है और स्पर्श करता है / इनके नजदीक जाता है, वह निश्चय से शुद्धदृष्टि है ॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणा-फलं पत्ते
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो
उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहणं साहणं च णिच्छरणं
दंसण-णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया

अर्थ - जगत में प्रसिद्ध चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार करके क्रम से आराधना को कहूंगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्व के उद्योतन, उद्भव, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है ॥

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अधिकार-१ (जीवाधिकार)

+ मोक्ष का उपाय -

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढ़िक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण-सिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्च धातु से क्तिप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्जति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है। प्रकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है। इसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें-से प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। लक्षण और भेद के साथ इनका स्वरूप विस्तार से आगे कहेंगे। नाममात्र यहाँ कहते हैं - पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। जिस-जिस प्रकार से जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के पहले सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय), संशय और विपर्यय ज्ञानों का निराकरण करने के लिए दिया है। जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के उपरम होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्र के पहले 'सम्यक्' विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरण के निराकरण करने के लिए दिया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्रका व्युत्पत्त्यर्थ - दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्' - जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखनामात्र। ज्ञान शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्' - जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना मात्र। चारित्र शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्' - जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है या आचरण करना मात्र।

शंका – दर्शन आदि शब्दों की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर कर्त्ता और करण एक हो जाता है किन्तु यह बात विरुद्ध है ?

समाधान – यद्यपि यह कहना सही है तथापि स्वपरिणाम और परिणामी में भेद की विवक्षा होने पर उक्त प्रकार से कथन किया गया है। जैसे 'अग्नि दाह परिणाम के द्वारा ईंधन को जलाती है यह कथन भेद-विवक्षा के होने पर ही बनता है। यहाँ चूँकि पर्याय और पर्यायी में एकत्व और अनेकत्व के प्रति अनेकान्त है, अतः स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य विवक्षा के होने से एक ही पदार्थ में पूर्वोक्त कर्त्ता आदि साधनभाव विरोध को प्राप्त नहीं होता। जैसे कि अग्नि से दहन आदि क्रिया की अपेक्षा कर्त्ता आदि साधन भाव बन जाता है, वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिए।

शंका – सूत्र में पहले ज्ञान का ग्रहण करना उचित है, क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञान-पूर्वक होता है और दूसरे ज्ञान में दर्शन शब्द की अपेक्षा कम अक्षर हैं ?

समाधान – यह कहना युक्त नहीं कि दर्शन ज्ञान-पूर्वक होता है इसलिए सूत्र में ज्ञान को पहले ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। जैसे - मेघ-पटल के दूर हो जाने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं, उसी प्रकार जिस समय दर्शन-मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से आत्मा सम्यग्दर्शन पर्याय से आविर्भूत होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। दूसरे, ऐसा नियम है कि सूत्र में अल्प अक्षरवाले शब्द से पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, अतः पहले ज्ञान शब्द को न रखकर दर्शन शब्द को रखा है।

शंका – सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है ?

समाधान – क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान के सम्यक् व्यपदेश का हेतु है। चारित्र के पहले ज्ञान का प्रयोग किया है, क्योंकि चारित्र ज्ञान-पूर्वक होता है। सब कर्मों का जुदा होना मोक्ष है और उसकी प्राप्ति का उपाय मार्ग है। सूत्र में 'मार्गः' इस प्रकार जो एक-वचन रूप से निर्देश किया है वह, सब मिलकर मोक्ष-मार्ग है, इस बात के जताने के लिए किया है। इससे प्रत्येक में मार्गपन है इस बात का निराकरण हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का साक्षात् मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए।

अब आदि में कहे गये सम्यग्दर्शन के लक्षण का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

प्रश्न – ज्ञान और चारित्र में काल-भेद नहीं है इसलिये इन दोनों में अगम्य अवबोध के समान एकत्व है ?

उत्तर – ऐसा नहीं है - शीघ्र उत्पत्ति में सूक्ष्म काल की अप्रतिपत्ति शतपत्रों के छेदन के समान है।

प्रश्न – ज्ञान और चारित्र में एकत्व है कालभेद नहीं होने से, अगम्य अवबोध के समान। जैसे - मोहोदय से विकल अन्य (पर) रूत्री सेवन करने में तत्पर, किस, व्यभिचारी पुरुष ने मेहोदय के कारण बहुत अंधकार से आच्छादित रात्रि में विथ्यांतराल (मार्ग) में जाती हुई अपनी व्यभिचारिणी माता को अपनी अभिलषित रूत्री समझकर स्पर्श किया, इतने में बिजली चमकी। उस विद्धयुत के प्रकाश से जैसे ही उसे यह ज्ञान हुआ कि यह मेरी है 'माता' है - वैसे ही वह अगम्य का बोध होने से शीघ्र अगम्यगमन से निवृत्त हो जाता है। इस अगम्यबोध और अगम्यनिवृत्ति में कालभेद नहीं है। उसी प्रकार जैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इस जीव को यह सम्यक्ज्ञान होता है कि जीवहिंसा नहीं करनी चाहिये, इस अगम्यबोध से वह अगम्य (हिंसादि) से निवृत्त हो जाता है। हिंसा के कारणों से निवृत्त होना ही चारित्र है। इस जीवज्ञान और हिंसानिवृत्ति में कालभेद नहीं है इसलिये ज्ञान और चारित्र को एक मानना चाहिये।

उत्तर – ऐसा कहना उचित नहीं है - क्योंकि शीघ्र उत्पत्ति में सूक्ष्मकाल की अप्रतिपत्ति है। उसमें (ज्ञानचारित्र में) भी कालभेद है परन्तु सूक्ष्म होने से कालभेद प्रतीत नहीं होता है। कैसे? सौ कमलपत्रों में छेद करने के समान। जैसे ऊपर नीचे रखे हुए १०० कमलपत्रों को सूई से एक साथ छेदने पर भी असंख्यात समय हैं वह सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष हैं और अतिसूक्ष्म हैं, छद्मस्थ के दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। क्योंकि जब तक एक पत्र को छेदकर सूई दूसरे को भेदती है उतने समय में असंख्यात समय हो जाते हैं, इस प्रकार सूक्ष्म काल का उपदेश है। उसी प्रकार अगम्य अवबोध का काल भिन्न है - और अगम्यनिवृत्ति का काल भिन्न है ॥६३॥

+ सम्यग्दर्शन का लक्षण -

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

अन्वयार्थ : अपने अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

तत्त्व शब्द भाव सामान्य का वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ 'तत्' पद से कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसका उस रूप होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। अर्थ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है... अर्थात् निश्चीयते इत्यर्थः - जो निश्चय किया जाता है। यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दों के संयोग से तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः' ऐसा समास करने पर प्राप्त होता है। अथवा भाव-द्वारा भाववाले पदार्थ का कथन किया जाता है, क्योंकि भाव भाववाले से अलग नहीं पाया जाता। ऐसी हालत में इसका समास होगा 'तत्त्वमेव अर्थः तत्त्वार्थः'। तत्त्वार्थ का श्रद्धान तत्त्वार्थश्रद्धान कहलाता है। उसे ही सम्यग्दर्शन जानना चाहिए।

शंका – दर्शन शब्द 'दृशि' धातु से बना है जिसका अर्थ आलोक है, अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है ?

समाधान – धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, अतः 'दृशि' धातु का श्रद्धानरूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है।

शंका – यहाँ 'दृशि' धातु का प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया है ?

समाधान – मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से। तत्त्वार्थ का श्रद्धान आत्मा का परिणाम है वह मोक्ष का साधन बन जाता है, क्योंकि वह भव्यों के ही पाया जाता है, किन्तु आलोक चक्षु आदि के निमित्त से होता है जो साधारण रूप से सब संसारी जीवों के पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं है।

शंका – सूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' के स्थान में 'अर्थश्रद्धानम्' इतना कहना पर्याप्त है ?

समाधान – इससे अर्थ शब्द के धन, प्रयोजन और अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहण का प्रसंग आता है जो युक्त नहीं है, अतः 'अर्थश्रद्धानम्' केवल इतना नहीं कहा है।

शंका – तब 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान – इससे केवल भाव मात्र के ग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग (वैशेषिक) तत्त्व पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादि का ग्रहण करते हैं। अब यदि सूत्र में 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही रहने दिया जाता है तो इससे इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है। अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है, इसलिये सूत्र में केवल तत्त्व पद के रखने से 'सब सर्वथा एक हैं' इस प्रकार स्वीकार करने का प्रसंग प्राप्त होता है। 'यह सब दृश्य व अदृश्य जग पुरुषस्वरूप ही है' ऐसा किन्हीं ने माना भी है। किन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आता है, अतः इन सब दोषों के दूर करने के लिए सूत्र में 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दोनों पदों का ग्रहण किया है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है – सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षणवाला **सराग सम्यग्दर्शन** है और आत्मा की विशुद्धिमात्र **वीतराग सम्यग्दर्शन** है।

अब जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है इस बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

प्रश्न – 'सम्यक' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – 'सम्यक' यह प्रशंसार्थक शब्द (निपात) या क्यन्त प्रत्ययांत है। सम्यक शब्द को निपट, प्रशंसा अर्थ में जानना चाहिए। क्योंकि यह प्रशंसा रूप, गति, जाति, कुल, आयु, विज्ञान आदि अभ्युदय और निःश्रेयस का प्रधान कारण होता है।

प्रशस्त दर्शन सम्यग्दर्शन है ।

शंका – 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वोः' इस प्रमाण के अनुसार सम्यक शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में होता है अतः

इसका प्रशंसा अर्थ उचित नहीं है ।

समाधान – निपात शब्द अनेकार्थ वाचक है, इसलिये प्रशंसा अर्थ मानने में कोई विरोध नहीं है । अथवा - सम्यक् शब्द का अर्थ 'तत्त्व' में निपात किया जाता है, जिसका अर्थ है -- तत्त्वदर्शन, सम्यग्दर्शन । अविपरीत अर्थ को तत्त्व कहते हैं । अथवा - सम्यक् शब्द क्तिप् प्रत्ययान्त है । इसका अर्थ है -- जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही मानने वाला । यह सम्यग्दर्शन है -- क्या है ? ॥१॥

दर्शन शब्द करणादि साधन कहा गया है । 'दृश्' धातु में करणादि साधन में 'युटि' प्रत्यय से दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति हुई है ॥२॥

प्रश्न – द्रश धातु अवलोकन अर्थ में होती है उससे श्रद्धान अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता ?

उत्तर – ऐसा नहीं है क्योंकि एक धातु के अनेक अर्थ होते हैं ।

प्रश्न – दर्शन द्रश धातु से बना है और द्रश धातु का अर्थ अवलोकन, आलोक है । इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थ की प्राप्ति आलोक है, यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है, यहाँ तो श्रद्धान इष्ट है । दर्शन का अर्थ श्रद्धान नहीं हो सकता इसलिये तत्त्वार्थ का श्रद्धान यह संप्रत्यय (अर्थ) नहीं हो सकता ।

उत्तर – ऐसा नहीं है क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं इसलिये उनमें से श्रद्धान अर्थ ही लेना चाहिये ॥३॥

प्रश्न – यह कैसे जाना जा सकता है कि यहाँ श्रद्धान अर्थ इष्ट है, आलोक इष्ट नहीं है ।

उत्तर – मोक्ष का कारण होने से श्रद्धान इष्ट है । यहाँ मोक्ष के कारणों का प्रकरण है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान मोक्ष का कारण है, आलोक मोक्ष का कारण नहीं । इसलिये प्रकरण से दर्शन का अर्थ श्रद्धान ही इष्ट है; देखना नहीं ॥४॥

प्रश्न – तत्त्व यह शब्द किस प्रत्यय का वाचक है ?

उत्तर – तत्त्व शब्द प्रकृति अपेक्षा होने से भाव-सामान्य का वाचक है । 'तत्' यह प्रकृति सर्वनाम होने से सामान्य अभिधायी है, 'त्व' प्रत्यय भाव में होता है ।

प्रश्न – किसका भाव ?

उत्तर – 'तत्' शब्द अर्थ वाचक है ।

प्रश्न – कौन सा अर्थ है ?

उत्तर – सर्व अर्थ ग्रहण किया जाता है । इसलिये उस अर्थ की अपेक्षा से तत्त्व शब्द से भाव (अर्थ) का भाव सामान्य कहा जाता है । अतः तत्त्व शब्द का स्पष्ट अर्थ है - जो पदार्थ जिस रूप से है, उसका उसी रूप से होना ॥५॥

तत्त्व के द्वारा जिसका निश्चय किया जाता है, वही तत्त्वार्थ है । जो जाना जाता है, ज्ञान का विषय है, उसको अर्थ कहते हैं और तत्त्व से जिसका निर्णय हो उसे तत्त्वार्थ कहते हैं अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित है उसका उसी रूप से ग्रहण जिसके सन्निधान से होता है, वह सम्यग्दर्शन है ॥६॥

जैसे दर्शन शब्द करण, भाव और कर्म इन तीनों साधनों से निष्पन्न होता है उसी प्रकार श्रद्धान शब्द की भी करण, कर्म और भाव साधन से निष्पत्ति जाननी चाहिये । 'जिसके द्वारा श्रद्धान हो' (करण साधन); 'जो श्रद्धान किया जाय' (कर्म साधन) और 'श्रद्धान मात्र' (भाव साधन) ॥७॥

यह श्रद्धान आत्मा की पर्याय है । अर्थात् श्रद्धान शब्द वाच्य करणादि व्यपदेश युक्त (वह) अर्थ आत्मा का परिणाम ही जानना चाहिये ॥८॥

प्रश्न – आगे कहे जाने वाले सूत्र के विवरण से तो सम्यग्दर्शन पुद्गल द्रव्य का वाचक है ।

उत्तर – ऐसा नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति आत्म परिणामों से होती है ।

शंका – आगे कहे जाने वाले 'निर्देश स्वामित्व' आदि सूत्र के विवरण से सम्यक्त्व प्रकृति रूप पुद्गल-द्रव्य का ही सम्यग्दर्शन शब्द से ग्रहण होता है ?

समाधान – ऐसा कथन उचित नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति आत्म-परिणामों से ही होती है । 'तत्त्वार्थ-श्रद्धान क्या है' ऐसा पूछने पर यही कहा जाता है कि तत्त्वार्थ-श्रद्धान आत्मा का परिणाम है । सम्यग्दर्शन किसका परिणाम है ? आत्मा का; इत्यादि कथन किया जाता है ॥९॥

शंका – मोहनीय-कर्म प्रकृतियों में भी 'सम्यक्त्व' नाम की प्रकृति है इसलिये सम्यग्दर्शन को पौद्गलिक मानने में कोई दोष नहीं है ?

समाधान – ऐसा कथन करना योग्य नहीं है - क्योंकि यहाँ मोक्ष के कारणों का प्रकरण है और मोक्ष के कारणों में आत्मा के परिणाम ही विवक्षित होते हैं । अर्थात् - आत्मा के परिणाम होने से औपशमिक, क्षायिक आदि सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष का कारण स्वीकार किया है, अनात्मा की पर्याय होने से पौद्गलिक सम्यक्त्व-प्रकृति नाम-कर्म पर्याय की यहाँ विवक्षा नहीं है ॥ १०॥

प्रश्न – सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति स्व और पर उभय निमित्त से होती है ?

उत्तर – ऐसा नहीं है क्योंकि पर उपकरण-मात्र है ।

शंका – सम्यग्दर्शन का उत्पाद स्व और पर उभय निमित्त से होता है । जैसे - घट का उत्पाद मिट्टी और दण्ड के निमित्त से होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उत्पाद भी आत्म-निमित्त और सम्यक्त्व-प्रकृति-रूप पुद्गल निमित्त से होता है; इसलिये सम्यक्त्व-प्रकृति को भी मोक्ष का कारण मानना चाहिये ।

समाधान – वस्तुतः घट मिट्टी का ही बनता है, दंडादि तो साधारण उपकरण-मात्र, बाह्य-साधन हैं । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में आत्म-परिणाम ही मुख्य है ॥११॥

अथवा, आत्म-परिणाम से ही सम्यक्त्व-प्रकृति का रस-घात होता है । जो यह आत्म-गुण-घाती दर्शन-मोह नामक कर्म है,

वह किन्हीं आत्म-परिणामों के द्वारा क्षीण-शक्ति होकर सम्यक्त्व (इस) नाम को प्राप्त होता है । अतः यह सम्यक्त्व-प्रकृति आत्म-स्वरूप मोक्ष का प्रधान कारण नहीं है क्योंकि आत्मा ही अपनी शक्ति से सम्यग्दर्शन पर्याय रूप से परिणामन करता है इसलिए आत्मा के ही मोक्ष का कारणत्व युक्त है ॥१२॥

अथवा, स्व-धर्म अहेय होता है । जिसका त्याजन (त्याग) नहीं होता उसे अहेय कहते हैं । यह सम्यग्दर्शन आत्मा का अभ्यंतर परिणाम है, क्योंकि अभ्यंतर आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम होने पर ही नियम से आत्मा सम्यग्दर्शन पर्याय से उत्पन्न होता है और बाह्य पौदगलिक सम्यक्त्व प्रकृति हेय है क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति के बिना भी (उसका नाश करके ही) क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है ॥१३॥

अथवा, अभ्यंतर आत्मीय सम्यग्दर्शन परिणाम ही मोक्ष का प्रधान कारण है क्योंकि उस अभ्यन्तर के होने पर ही बाह्य उपग्राहक हो सकता है । बाह्य अभ्यन्तर का उपग्राहक पारार्थ्य रूप से रहता है - इसलिये अप्रधान है ॥१४॥

अथवा, प्रत्यासत्ति होने से भी आत्म-परिणाम मोक्ष का प्रधान कारण है, क्योंकि आत्मा ही तादात्म्य रूप से मोक्षपर्याय रूप से परिणामन करता है । सम्यक्त्व प्रकृति रूप कर्म मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति विप्रकृष्टान्तर (दूर, separated by a long distance) और अतादात्म्य परिणाम है । अर्थात् अभ्यन्तर परिणाम ही प्रधान होता है, वही प्रत्यासन्न कारण होता है और उसी रूप से आत्मा परिणति करता है । अतः अहेय होने से प्रत्यासन्न और प्रधान कारण होने से आत्म-परिणाम रूप सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का कारण हो सकता है न कि पुद्गल कर्म ॥१५॥

प्रश्न – ऐसा मानने से अल्प-बहुत्व की कल्पना का विरोध आयेगा ?

उत्तर – ऐसा नहीं है, उपशमादी की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति तीन प्रकार की कही है ।

शंका – सम्यग्दर्शन को आत्म-परिणामत्व स्वीकार करने पर अल्प-बहुत्व की कल्पना का विरोध आता है ।

समाधान – ऐसा नहीं है - क्योंकि अल्प-बहुत्व का विवेचन भी उपशम-सम्यक्त्वादि आत्म-परिणाम के आधार से किया जाता है; उसके लिये भी पुद्गल कर्म की आवश्यकता नहीं है । सबसे कम उपशम- सम्यग्दृष्टि हैं; संसारी क्षायिक-सम्यग्दृष्टि उपशम-सम्यग्दृष्टि से असंख्यात गुणे हैं, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उनसे असंख्यात गुणे हैं और सिद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि सबसे अनन्त गुणे हैं । अतः आत्म-परिणाम रूप सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥१६॥

प्रश्न – अर्थ-श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहना चाहिये । यहाँ 'तत्त्व' पद व्यर्थ है । इससे सूत्र में भी लघुता आयेगी ॥ १७ ॥

उत्तर – ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यदि तत्त्व पद नहीं दिया जायेगा तो मिथ्या-वादी प्रणीत सर्व अर्थों के श्रद्धान सम्यग्दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन हो जायेगा ॥१८॥

अर्थात् - मिथ्या-दृष्टि प्रणीत अर्थ (पदार्थ) ज्ञान के विषय तो हैं परन्तु तत्त्व नहीं हैं, उनमें वास्तविकता नहीं है । अथवा - अर्थ शब्द के अनेक अर्थ होने से संशय भी हो जायेगा । अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं । वैशेषिक सिद्धांत में द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों की अर्थ संज्ञा है । क्वचिद **अर्थ** - शब्द, प्रयोजन अर्थ में भी रहता है -- जैसे आपका किसलिये (किमर्थ) यहाँ आगमन हुआ । अर्थात् यहाँ आने का आपका प्रयोजन क्या है । क्वचित धन शब्द वाच्य भी अर्थ होता है जैसे यह देवदत्त 'अर्थवान' है - यहाँ अर्थवान का अर्थ धनवान है । कहीं पर अभिधेय अर्थ में भी 'अर्थ' शब्द आता है जैसे -- 'शब्दार्थ सम्बन्ध' इस शब्दार्थ सम्बन्ध में अर्थ शब्द का तात्पर्य अभिधेय है । इस प्रकार अर्थ शब्द के अनेक अर्थ होने से यह संशय हो सकता है कि किस अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ? ॥१९॥

प्रश्न – सब का अनुग्रह होने से अदोष होगा ।

उत्तर – ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि असदर्थ का विषय है ।

शंका – सर्व अर्थों का संग्रह होना कोई दोष नहीं है । सर्व अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा मानने पर सभी का अनुग्रह हो जायेगा - आपको इस समय सर्वानुग्रह से मत्सर भाव क्यों है ? आप सर्व लोक का अभ्युदय क्यों नहीं चाहते ?

समाधान – ऐसा तर्क करना उचित नहीं है - असदर्थ का विषय होने से । हमारा सर्वानुग्रह में कोई द्वेष नहीं है, परन्तु असत् अर्थ के विषय का श्रद्धान संसार का कारण होता है । अर्थात् वैशेषिक आदि के द्वारा माने गये अर्थ वास्तविक नहीं हैं और धन का श्रद्धान भी मुक्ति का कारण नहीं हो सकता । अतः सर्वानुग्रह के विचार से ही, सन्मार्ग-प्रदर्शन-प्रज्ञा से अर्थ के साथ 'तत्त्व' विशेषण लगा दिया है जिससे भव्य प्राणी असदर्थों में न भटके ॥२०॥

प्रश्न – अर्थग्रहण से ही 'तत्त्व' की सिद्धि हो जायेगी ?

उत्तर – ऐसा नहीं है, क्योंकि विपरीत अर्थ का ग्रहण भी देखा जाता है ।

शंका – 'अर्थे इति अर्थः' अर्थात् जो जाना जाता है वह अर्थ है और मिथ्यावादी प्रणीत अर्थ ज्ञेय हो नहीं सकते क्योंकि वे अविद्यमान हैं इसलिये अर्थग्रहण करने से ही तत्त्व का ग्रहण हो जाता है इसलिये 'तत्त्व' ग्रहण करना निष्प्रयोजन है ।

समाधान – ऐसा नहीं कहना, क्योंकि विपरीत ग्रहण भी देखा जाता है । यद्यपि अर्थ पद का विशिष्ट अर्थ करके 'तत्त्व' पद का काम लिया जाता है किन्तु मिथ्यात्व के उदय में इस प्राणी को अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य इत्यादि एकांतों में मिथ्या अर्थबुद्धि होने लगती है, जैसे कि पित्त-ज्वर वाले को मधुर रस भी कटुक मालुम होता है । अतः इन एकांत अर्थों का निराकरण करने के लिये तत्त्व पद ग्रहण किया है ॥२१॥

प्रश्न – 'अर्थ' पद का ग्रहण किसलिये किया है । क्योंकि तत्त्व ही अर्थ है । इस प्रकार अर्थों का तत्त्व के साथ समान-अधिकरण होने से तत्त्व-वचन से ही अर्थ का ज्ञान सिद्ध हो जाता है ।

उत्तर – व्यभिचार को दूर करने के लिये अर्थ ग्रहण किया गया है । यद्यपि 'तत्त्व ही अर्थ है' यह विग्रह करने पर तत्त्व के

कहने से कार्य चल जाता है, फिर भी अर्थ का ग्रहणनिर्देश प्रतिपत्ति के लिये किया गया है। 'तत्त्वं श्रद्धानं' 'तत्त्व श्रद्धानं' है' ऐसा कहा जाय तो भी एकान्त निश्चय का प्रसंग आता है। क्योंकि अकान्तवादी भी 'नास्त्यात्मा' आत्मा नहीं है, इस श्रद्धान को तत्त्व-श्रद्धान कहने लगेंगे। 'तत्त्व का श्रद्धान' तत्त्व-श्रद्धान ऐसा कहा जाय तो भावमात्र का प्रसंग आता है। 'तत्त्व-भाव-सामान्य एक स्वतंत्र पदार्थ है' ऐसा कोई (वैशेषिक) कहता है - वैशेषिक ऐसा भी कहता है कि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व आदि द्रव्यादि से भिन्न हैं तथा 'तत्त्व-एकत्व पुरुष रूप ही यह जगत है' इस ब्रह्मैकवाद के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शनत्व का प्रसंग आयेगा। तत्त्व एक है। ऋग्वेद में पुरुष ही सर्व है, यह वाक्य है वही तत्त्व है, उसका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है -- कहना भी उचित नहीं क्योंकि अद्वैतवाद में क्रियाकारक आदि समस्त भेद-व्यवहार का लोप हो जाता है ॥२२-२४॥

यदि 'तत्त्वेन' -- तत्त्व रूप से श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, तो 'किसका श्रद्धान' या 'किसमें श्रद्धान' यह प्रश्न निर्वृत्त नहीं होता। इसलिये अव्यभिचार के लिये अर्थ शब्द ग्रहण किया है, यह ठीक ही है। अतः अर्थपद का ग्रहण करना अत्यंत आवश्यक है अर्थात् तत्त्व रूप से प्रसिद्ध अर्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ॥२५॥

कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं - परंतु यह कहना उचित नहीं है। सम्यग्दर्शन के इस लक्षण में मिथ्यादृष्टि के भी सम्यग्दर्शन का प्रसंग आता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी बहुश्रुतत्व दिखाने के लिये वा जैनमत को जीतने की इच्छा से अर्हत्तत्त्वों का झूठा ही श्रद्धान कर लेते हैं, जैन सिद्धांत का अध्ययन भी करते हैं। इच्छा के बिना तो यह हो नहीं सकता। अतः इन्हें भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायेगा। इसलिये 'इच्छा-श्रद्धान' को सम्यग्दर्शन कहना योग्य नहीं है। अथवा यदि इच्छा-श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहेंगे तो केवली के सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आयेगा, क्योंकि यदि इच्छा का नाम सम्यक्त्व है तो इच्छा तो लोभ की पर्याय है और क्षीण-मोही केवली के लोभ रहता नहीं। इसलिये केवली के सम्यग्दर्शन भी नहीं रहेगा। क्योंकि इच्छा के अभाव में सम्यग्दर्शन का भी अभाव हो ही जाएगा। इसलिये 'जिसके होने पर आत्मा यथाभूत अर्थ को ग्रहण करता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, ही लक्षण उचित है ॥२६-२८॥

सराग वीतराग के विकल्प से यह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है ॥२९॥ प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य से जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है - वह सराग सम्यग्दर्शन है। रागादि का अनुद्रेक (शांति) उपशम है। संसार से भयभीत होना संवेग है। प्राणिमात्र में मैत्रि-भाव रखना अनुकम्पा है। जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप में 'अस्ति' बुद्धि होना आस्तिक्य है। इनके द्वारा अभिव्यक्त होना है लक्षण जिसका वह प्रथम सराग सम्यक्त्व है ॥३०॥

आत्म-विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है। अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्र मोहनीय का तथा मिथ्यात्व, सम्यक-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति ये तीन दर्शन मोहनीय का, इस प्रकार इन सात प्रकृतियों का सत्व नाश हो जाने पर जो आत्मविशुद्धि होती है वह वीतराग सम्यग्दर्शन है। सराग सम्यग्दर्शन तो साधन ही है और वीतराग सम्यग्दर्शन साधन भी है और साध्य भी है ॥३१॥

+ उत्पत्ति के आधार पर सम्यग्दर्शन के भेद -

तत्रिसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

अन्वयार्थ : वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग से और अधिगम से उत्पन्न होता है ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ पदार्थ का ज्ञान है। सूत्र में इन दोनों का हेतुरूप से निर्देश किया है।

शंका - इन दोनों का किसके हेतुरूप से निर्देश किया है ?

समाधान - क्रिया के।

शंका - वह कौन-सी क्रिया है ?

समाधान - 'उत्पन्न होता है' यह क्रिया है। यद्यपि इसका उल्लेख सूत्र में नहीं किया है तथापि इसका अध्याहार कर लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं। यह सम्यग्दर्शन निसर्ग से और अधिगम से उत्पन्न होता है यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

शंका - निसर्गज सम्यग्दर्शन में पदार्थों का ज्ञान होता है या नहीं। यदि होता है तो वह भी अधिगमज ही हुआ, उससे भिन्न नहीं। यदि नहीं होता है तो जिसने पदार्थों को नहीं जाना है उसे उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं, क्योंकि दोनों सम्यग्दर्शनों में दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण समान है। इसके रहते हुए जो बाह्य उपदेश के बिना होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है और जो बाह्य उपदेशपूर्वक जीवादि पदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यही इन दोनों में भेद है।

शंका - सूत्र में 'तत्' पद का ग्रहण किसलिए किया है ?

समाधान - इस सूत्र से पूर्व के सूत्र में सम्यग्दर्शन का ग्रहण किया है उसी का निर्देश करने के लिए यहाँ 'तत्' पद का ग्रहण किया है। अनन्तरवर्ती सूत्र में सम्यग्दर्शन का ही उल्लेख किया है उसे ही यहाँ 'तत्' इस पद-द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यदि 'तत्' पद न देते तो मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से उसका यहाँ ग्रहण हो जाता।

शंका - 'अगले सूत्र में जो विधि-निषेध किया जाता है वह अव्यवहित पूर्व का ही समझा जाता है' इस नियम के

अनुसार अनन्तरवर्ती सूत्र में कहे गये सम्यग्दर्शन का ग्रहण स्वतःसिद्ध है, अतः सूत्र में 'तत्' पद देने की आवश्यकता नहीं है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि 'समीपवर्ती से प्रधान बलवान् होता है' इस नियम के अनुसार यहाँ मोक्षमार्ग का ही ग्रहण होता । किन्तु यह बात इष्ट नहीं है अतः सूत्र में 'तत्' पद दिया है ।

अब तत्त्व कौन-कौन हैं इस बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ सात तत्त्व -

जीवजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

अन्वयार्थ : जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

इनमें-से **जीव** का लक्षण चेतना है जो ज्ञानादिक के भेद से अनेक प्रकार की है। जीव से विपरीत लक्षणवाला **अजीव** है। शुभ और अशुभ कर्मों के आने के द्वार रूप **आस्रव** है । आत्मा और कर्म के प्रदेशों का परस्पर मिल जाना **बन्ध** है । आस्रव का रोकना **संवर** है । कर्मों का एकदेश अलग होना **निर्जरा** है और सब कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना **मोक्ष** है । इनका विस्तार से वर्णन आगे करेंगे । सब फल जीव को मिलता है, अतः सूत्र के प्रारम्भ में जीव का ग्रहण किया है । अजीव जीव का उपकारी है यह दिखलाने के लिए जीव के बाद अजीव का कथन किया है । आस्रव जीव और अजीव दोनों को विषय करता है अतः इन दोनों के बाद आस्रव का ग्रहण किया है । बन्ध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रव के बाद बन्ध का कथन किया है । संवृत जीव के बन्ध नहीं होता, अतः संवर बन्ध का उलटा हुआ इस बात का ज्ञान कराने के लिए बन्ध के बाद संवर का कथन किया है । संवर के होने पर निर्जरा होती है, इसलिए संवर के पास निर्जरा कही है । मोक्ष अन्त में प्राप्त होता है, इसलिए उसका अन्त में कथन किया है ।

शंका – सूत्र में पुण्य और पाप का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थ नौ हैं ऐसा दूसरे आचार्यों ने भी कथन किया है।

समाधान – पुण्य और पाप का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका – यदि ऐसा है तो सूत्र में अलग से आस्रव आदि का ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि उनका जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है ।

समाधान – आस्रव आदि का ग्रहण करना निरर्थक नहीं है, क्योंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है इसलिए उसका कथन करना आवश्यक है। वह संसारपूर्वक होता है और संसार के प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं, अतः प्रधान हेतु, हेतुवाले और उनके फल के दिखलाने के लिए अलग-अलग उपदेश किया है । देखा भी जाता है कि किसी विशेष का सामान्य में अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजन के अनुसार उसका अलग से ग्रहण किया जाता है । जैसे क्षत्रिय आये हैं और सूरवर्मा भी। यहाँ यद्यपि सूरवर्मा का क्षत्रियों में अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजन के अनुसार उसका अलग से ग्रहण किया है । इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए ।

शंका – तत्त्व शब्द भाववाची है यह पहले कह आये हैं, इसलिए उसका द्रव्यवाची जीवादि शब्दों के साथ समानाधिकरण कैसे हो सकता है ?

समाधान – एक तो भाव द्रव्य से अलग नहीं पाया जाता, दूसरे भाव में द्रव्य का अध्यारोप कर लिया जाता है, इसलिए समानाधिकरण बन जाता है । जैसे, 'उपयोग ही आत्मा है' इस वचन में गुणवाची उपयोग शब्द के साथ द्रव्यवाची आत्मा शब्द का समानाधिकरण है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए ।

शंका – यदि ऐसा है तो विशेष्य का जो लिंग और संख्या है वही विशेषण को भी प्राप्त होते हैं ?

समाधान – व्याकरण का ऐसा नियम है कि 'विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के रहते हुए भी शब्द शक्ति की अपेक्षा जिसने जो लिंग और संख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता।' अतः यहाँ विशेष्य और विशेषण से लिंग और संख्या के अलग-अलग रहने पर भी कोई दोष नहीं है। यह क्रम प्रथम सूत्र में भी लगा लेना चाहिए ।

इस प्रकार पहले जो सम्यग्दर्शन आदि और जीवादि पदार्थ कहे हैं उनका शब्द प्रयोग करते समय विवक्षाभेद से जो गड़बड़ी होना सम्भव है उसको दूर करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ सम्यग्दर्शन और जीव आदि के व्यवहार में आने वाले व्यभिचार को दूर करने के लिए निक्षेपों का कथन -

नामस्थापनाद्रव्यभाव तस्तन्यासः ॥५॥

अन्वयार्थ : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गयी संज्ञा को **नाम** कहते हैं ।
काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदि में 'वह यह है' इस प्रकार स्थापित करने को **स्थापना** कहते हैं ।
जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणों को प्राप्त होगा उसे **द्रव्य** कहते हैं ।
वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को **भाव** कहते हैं ।

विशेष इस प्रकार है - नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव, इस प्रकार जीव पदार्थ का न्यास चार प्रकार से किया जाता है । जीवन गुण की अपेक्षा न करके जिस किसी का 'जीव' ऐसा नाम रखना नामजीव है । अक्षनिक्षेप आदि में यह 'जीव है' या 'मनुष्य जीव है' ऐसा स्थापित करना स्थापना-जीव है । द्रव्यजीवके दो भेद हैं - आगम द्रव्यजीव और नोआगम द्रव्यजीव । इनमें-से जो जीवविषयक या मनुष्य जीवविषयक शास्त्र को जानता है किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है वह आगम द्रव्यजीव है । नोआगम द्रव्यजीव के तीन भेद हैं - ज्ञायक शरीर, भावी और तदव्यतिरिक्त । ज्ञाता के शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं । जीवन सामान्य की अपेक्षा 'नोआगम भाविजीव' यह भेद नहीं बनता, क्योंकि जीवनसामान्यकी अपेक्षा जीव सदा विद्यमान है । हाँ, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा 'नोआगम भाविजीव' यह भेद बन जाता है, क्योंकि जो जीव दूसरी गति में विद्यमान है वह जब मनुष्य भव को प्राप्त करने के लिए सम्मुख होता है तब वह मनुष्य भाविजीव कहलाता है । तदव्यतिरिक्त के दो भेद हैं - कर्म और नोकर्म । भावजीव के दो भेद हैं - आगम भावजीव और नोआगम भावजीव । इनमें-से जो आत्मा जीवविषयक शास्त्र को जानता है और उसके उपयोग से युक्त है अथवा मनुष्य जीवविषयक शास्त्र को जानता है और उसके उपयोग से युक्त है वह आगम भावजीव है । तथा जीवन पर्याय या मनुष्य जीवन पर्याय से युक्त आत्मा नोआगम भावजीव कहलाता है । इसी प्रकार अजीवादि अन्य पदार्थोंकी भी नामादि निक्षेप विधि लगा लेना चाहिए ।

शंका – निक्षेप विधि का कथन किस लिए किया जाता है ?

समाधान – अप्रकृत का निराकरण करने के लिए और प्रकृत का निरूपण करने के लिए इसका कथन किया जाता है । तात्पर्य यह है कि प्रकृत में किस शब्द का क्या अर्थ है यह निक्षेप विधि के द्वारा विस्तार से बतलाया जाता है ।

शंका – सूत्रमें 'तत्' शब्द का ग्रहण किस लिए किया है ?

समाधान – सबका संग्रह करने के लिए सूत्र में 'तत्' शब्द का ग्रहण किया है । यदि सूत्र में 'तत्' शब्द न रखा जाय तो प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादि का ही न्यास के साथ सम्बन्ध होता । सम्यग्दर्शनादिक के विषय-रूप से ग्रहण किये गये अप्रधान-भूत जीवादिक का न्यास के साथ सम्बन्ध न होता । परन्तु सूत्र में 'तत्' शब्द के ग्रहण कर लेने पर सामर्थ्य से प्रधान और अप्रधान सबका ग्रहण बन जाता है ।

इस प्रकार नामादिक के द्वारा विस्तार को प्राप्त हुए और अधिकृत जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिक के स्वरूप का ज्ञान किसके द्वारा होता है इस बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

+ तत्त्वों को जानने का उपाय -

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ : प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिन जीवादि पदार्थों का नाम आदि निक्षेप विधि के द्वारा विस्तार से कथन किया है उनका स्वरूप दोनों प्रमाणों और विविध नयों के द्वारा जाना जाता है । प्रमाण और नयों के लक्षण और भेद आगे कहेंगे । प्रमाण के दो भेद हैं - स्वार्थ और परार्थ । श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं । परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है । ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण परार्थ प्रमाण कहलाता है । इनके भेद नय हैं ।

शंका – नय शब्द में थोड़े अक्षर हैं, इसलिए सूत्र में उसे पहले रखना चाहिए ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि प्रमाण श्रेष्ठ है, अतः उसे पहले रखा है । 'श्रेष्ठता सबसे बलवती होती है' ऐसा नियम है ।

शंका – प्रमाण श्रेष्ठ क्यों है ?

समाधान – क्योंकि प्रमाण से ही नयप्ररूपणा की उत्पत्ति हुई है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । आगम में ऐसा कहा है कि वस्तु को प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है । दूसरे, प्रमाण समग्र को विषय करता है । आगम में कहा है कि 'सकलादेश प्रमाण का विषय है और विकलादेश नय का विषय है' । इसलिए भी प्रमाण श्रेष्ठ है । नय के दो भेद हैं - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । पर्यायार्थिक नय का विषय भावनिक्षेप है और शेष तीन को द्रव्यार्थिक नय ग्रहण करता है, क्योंकि नय द्रव्यार्थिक सामान्यरूप है । द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय जिसका

प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। तथा द्रव्य और पर्याय ये सब मिल कर प्रमाण के विषय हैं। इस प्रकार प्रमाण और नय के द्वारा जाने गये जीवादि पदार्थों के जानने के दूसरे उपाय बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

अथवा, चैतन्यशक्तेर्द्वाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः।=चैतन्य शक्ति के दो आकार हैं ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। तहां प्रतिबिम्बशून्य दर्पणतलवत् तो ज्ञानाकार है और प्रतिबिम्ब सहित दर्पणतलवत् ज्ञेयाकार है।

+ प्रमाण और नय के द्वारा जाने गये जीव आदि तत्त्वों को जानने का अन्य उपाय -

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

अन्वयार्थ : निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

किसी वस्तु के स्वरूप का कथन करना **निर्देश** है।

स्वामित्व का अर्थ आधिपत्य है।

जिस निमित्त से वस्तु उत्पन्न होती है वह **साधन** है।

अधिष्ठान या आधार **अधिकरण** है।

जितने काल तक वस्तु रहती है वह **स्थिति** है और **विधान** का अर्थ प्रकार या भेद है। 'सम्यग्दर्शन क्या है' यह प्रश्न हुआ, इस पर 'जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है या नामादिक के द्वारा सम्यग्दर्शन का कथन करना निर्देश है। सम्यग्दर्शन किसके होता है ? सामान्य से जीव के होता है और विशेष की अपेक्षा गति मार्गणा के अनुवाद से नरकगति में सब पृथिवियों में पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पहली पृथिवी में पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियों के क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तिर्यचगति में पर्याप्तक तिर्यचों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के तिर्यचों के होता है। तिर्यचनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता। औपशमिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक तिर्यचनी के ही होता है, अपर्याप्तक तिर्यचनी के नहीं। मनुष्य गति में क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के मनुष्यों के होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्य के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्य के नहीं। मनुष्यनियों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु ये पर्याप्तक मनुष्यनी के ही होते हैं, अपर्याप्तक मनुष्यनी के नहीं। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के देवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।

शंका - अपर्याप्तक देवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

समाधान - जो मनुष्य चारित्र-मोहनीय का उपशम करके या करते हुए उपशम-श्रेणी में मरकर देव होते हैं उन देवों के अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के, इन तीनों की देवांगनाओं के, तथा सौधर्म और ऐशान कल्प में उत्पन्न हुई देवांगनाओं के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं सो वे भी पर्याप्तक अवस्था में ही होते हैं।

- **इन्द्रिय मार्गणा** के अनुवाद से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अन्य जीवों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- **कायमार्गणा** के अनुवादसे त्रसकायिक जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अन्य कायवाले जीवों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- **योगमार्गणा** के अनुवादसे तीनों योगवाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अयोगी जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।
- **वेदमार्गणा** के अनुवादसे तीनों वेदवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अपगत-वेदी जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।
- **कषायमार्गणा** के अनुवाद से चारों कषायवाले जीवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु कषाय-रहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं।
- **ज्ञानमार्गणा** के अनुवाद से आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु केवलज्ञानी जीवों के एक क्षायिक-सम्यग्दर्शन ही होता है।
- **संयममार्गणा** के अनुवाद से
 - सामायिक और छेदोपस्थापना-संयत जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं,

- परिहारविशुद्धि-संयतों के औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, शेष दो होते हैं।
- सूक्ष्मसाम्प्रायिक-संयत और यथाख्यात-संयत जीवों के औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हैं,
- संयतासंयत और असंयत जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं।
- **दर्शनमार्गणा** के अनुवाद से चक्षुदर्शनवाले, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनवाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु केवलदर्शनवाले जीवों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।
- **लेश्यामार्गणा** के अनुवाद से छहों लेश्यावाले जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु लेश्या-रहित जीवों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।
- **भव्य मार्गणा** के अनुवाद से भव्य जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अभव्यों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।
- **सम्यक्त्व मार्गणा** के अनुवाद से जहाँ जो सम्यग्दर्शन है वहाँ वही जानना।
- **संज्ञामार्गणा** के अनुवाद से संज्ञी जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, असंज्ञियों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता तथा संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञा से रहित जीवों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।
- **आहारमार्गणा** के अनुवाद से आहारकों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अनाहारक छद्मस्थों के भी तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु समुद्घातगत केवली अनाहारकों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।

साधन दो प्रकारका है - अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन इस प्रकार है -

- नारकियों के चौथे नरक से पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
- चौथे से लेकर सातवें नरक तक किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
- तिर्यचों में किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के जिनबिम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्यों के भी इसी प्रकार जानना चाहिए।
- देवों में किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण, किन्हीं के जिन-महिमादर्शन और किन्हीं के देवक्रद्धिदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्प से पूर्वतक जानना चाहिए।
- आनत, प्राणत, आरण और अच्युत काल्प के देवों के देवक्रद्धिदर्शन को छोड़कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं।
- नौ ग्रैवेयक के निवासी देवों के सम्यग्दर्शन का साधन किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के धर्मश्रवण है।
- अनुदिश और अनुत्तरविमानों में रहनेवाले देवों के यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

अधिकरण दो प्रकारका है - अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर अधिकरण - जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है। यद्यपि सम्बन्ध में षष्ठी और अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है, फिर भी विवक्षा के अनुसार कारक की प्रवृत्ति होती है, अतः षष्ठी विभक्ति द्वारा पहले जो स्वामित्व का कथन किया है उसके स्थानमें सप्तमी विभक्ति करने से अधिकरण का कथन हो जाता है। बाह्य अधिकरण लोकनाड़ी है।

शंका – वह कितनी बड़ी है ?

समाधान – एक राजु चौड़ी और चौदह राजु लम्बी है।

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की संसारी जीव के जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागरोपम है। मुक्त जीव के सादि-अनन्त है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागरोपम है। भेद की अपेक्षा

- सम्यग्दर्शन सामान्य से एक है।
- निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है।
- औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है।
- शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है तथा
- श्रद्धान करनेवालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का और
- श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है।

इसी प्रकार यह निर्देश आदि विधि ज्ञान और चारित्र में तथा जीव और अजीव आदि पदार्थों में आगम के अनुसार लगा लेना चाहिए।

क्या इन उपर्युक्त कारणों से ही जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है या और दूसरे भी ज्ञान के उपाय हैं इस प्रकार ऐसा प्रश्न करनेपर दूसरे उपाय हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

अन्वयार्थ : सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व से भी सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

सत् अस्तित्व का सूचक निर्देश है । वह प्रशंसा आदि अनेक अर्थों में रहता है, पर उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है ।

संख्या से भेदों की गणना ली है ।

वर्तमानकाल विषयक निवास को **क्षेत्र** कहते हैं ।

त्रिकाल-विषयक उसी निवास को **स्पर्शन** कहते हैं ।

काल दो प्रकार का है मुख्य और व्यावहारिक । इनका निर्णय आगे करेंगे ।

विरहकाल को **अन्तर** कहते हैं ।

भाव से औपशमिक आदि भावों का ग्रहण किया गया है और एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक का ज्ञान करने को **अल्पबहुत्व** कहते हैं । इन सत् आदि के द्वारा सम्यग्दर्शनादिक और जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए ।

शंका – निर्देश से ही सत् का ग्रहण हो जाता है । विधान के ग्रहण से संख्या का ज्ञान हो जाता है । अधिकरण के ग्रहण करने से क्षेत्र और स्पर्शन का ज्ञान हो जाता है । स्थिति के ग्रहण करने से काल का संग्रह हो जाता है । भाव का नामादिक में संग्रह हो ही गया है फिर इनका अलग से किसलिए ग्रहण किया है ?

समाधान – यह बात सही है कि निर्देश आदि के द्वारा सत् आदि की सिद्धि हो जाती है तो भी शिष्यों के अभिप्रायानुसार तत्त्व-देशना में भेद पाया जाता है । कितने ही शिष्य संक्षेप-रुचि वाले होते हैं । कितने ही शिष्य विस्तार-रुचि वाले होते हैं और दूसरे शिष्य न तो अति-संक्षेप कथन करने से समझते हैं और न अति विस्तृत कथन करने से समझते हैं । किन्तु सज्जनों का प्रयास सब जीवों का उपकार करना है, इसलिए यहाँ अलग से ज्ञान के उपाय के भेदों का निर्देश किया है । अन्यथा 'प्रमाणनयैरधिगमः' इतने से ही काम चल जाता, अन्य उपायों का ग्रहण करना निष्फल होता ।

अब जीव द्रव्य की अपेक्षा सत् आदि अनुयोग-द्वारों का कथन करते हैं यथा जीव चौदह गुणस्थानों में स्थित हैं । मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत, अपूर्व-करण गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोग-केवली और अयोग-केवली । इन चौदह जीव-समासों के निरूपण करने के लिए चौदह मार्गणास्थान जानने चाहिए । यथा गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक ।

सत्प्ररूपणा

इनमें-से सामान्य और विशेष की अपेक्षा सत्प्ररूपणा दो प्रकार की है । मिथ्यादृष्टि है, सासादन-सम्यग्दृष्टि है इत्यादि रूप से कथन करना सामान्य की अपेक्षा सत्प्ररूपणा है ।

- विशेष की अपेक्षा

- गति मार्गणा के अनुवाद से
 - नरकगति में सब पृथिवियों में प्रारम्भ के चार गुणस्थान हैं ।
 - तिर्यच-गति में वे ही चार गुणस्थान हैं किन्तु संयता-संयत एक गुणस्थान और है ।
 - मनुष्य-गति में चौदह ही गुणस्थान हैं और
 - देव-गति में नारकियों के समान चार गुणस्थान हैं ।
- इन्द्रिय मार्गणा के अनुवाद से
 - एकेन्द्रियों से लेकर चौइन्द्रिय तक के जीवों में एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है ।
 - पंचेन्द्रियों में चौदह ही गुणस्थान हैं ।
- काय मार्गणा के अनुवाद से
 - पृथिवीकाय से लेकर वनस्पति तक के जीवों में एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है ।
 - त्रसकायिकों में चौदह ही गुणस्थान हैं ।
- योग मार्गणा के अनुवाद से तीनों योगों में तेरह गुणस्थान हैं और इसके बाद अयोग-केवली गुणस्थान है ।
- वेद मार्गणा के अनुवाद से
 - तीनों वेदों में मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक नौ गुणस्थान हैं ।
 - अपगत-वेदियों में अनिवृत्ति-बादर से लेकर अयोग-केवली तक छह गुणस्थान हैं ।
- कषाय मार्गणा के अनुवाद से
 - क्रोध, मान और माया कषाय में मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक नौ गुणस्थान हैं, लोभ-कषाय में वे ही नौ गुणस्थान हैं, किन्तु सूक्ष्म-साम्पराय एक गुणस्थान और है ।
 - उपशान्त-कषाय, क्षीण-कषाय, सयोगी और अयोगी ये चार गुणस्थान कषाय-रहित हैं ।
- ज्ञान-मार्गणा के अनुवाद से
 - मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान में मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान हैं ।
 - आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक नौ गुणस्थान हैं ।
 - मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्त-संयत से लेकर क्षीण-कषाय तक सात गुणस्थान हैं ।
 - केवलज्ञान में सयोग और अयोग ये दो गुणस्थान हैं ।
- संयम मार्गणा के अनुवाद से
 - प्रमत्त-संयत से लेकर अयोग-केवली गुणस्थान तक संयत जीव होते हैं ।
 - सामायिक संयत और छेदोपस्थापस्थापन-शुद्धिसंयत जीव प्रमत्त-संयत से लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक होते हैं ।
 - परिहार-विशुद्धि-संयत जीव प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत होते हैं ।
 - सूक्ष्म-साम्पराय-शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान में होते हैं ।
 - यथाख्यात विहार शुद्धि-संयत जीव उपशान्त-कषाय गुणस्थान से लेकर अयोग-केवली गुणस्थान तक होते हैं ।
 - संयता-संयत जीव एक संयता-संयत गुणस्थान में होते हैं ।
 - असंयत जीव प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में होते हैं ।
- दर्शन मार्गणा के अनुवाद से
 - चक्षु-दर्शन और अचक्षु-दर्शन में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक बारह गुणस्थान हैं ।
 - अवधि-दर्शन में असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक नौ गुणस्थान हैं ।
 - केवल-दर्शन में सयोग-केवली और अयोग-केवली ये दो गुणस्थान हैं ।
- लेश्या मार्गणा के अनुवाद से
 - कृष्ण, नील और कपोत लेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हैं ।
 - पीत और पद्मलेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक सात गुणस्थान हैं ।
 - शुक्ल-लेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली तक तेरह गुणस्थान हैं । किन्तु
 - अयोग-केवली जीव लेश्या रहित हैं ।
- भव्य मार्गणा के अनुवाद से

- भव्यों में चौदह ही गुणस्थान हैं । किन्तु
- अभव्य पहले ही गुणस्थान में पाये जाते हैं ।

○ सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से

- क्षायिक-सम्यक्त्व में असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक ग्यारह गुणस्थान हैं ।
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक चार गुणस्थान हैं ।
- औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त-कषाय तक आठ गुणस्थान हैं ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि अपने-अपने गुणस्थान में होते हैं ।

○ संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से

- संज्ञियों में क्षीण-कषाय तक बारह गुणस्थान हैं ।
- असंज्ञियों में एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है ।
- संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञा से रहित जीव सयोग-केवली और अयोग-केवली इन दो गुणस्थान वाले होते हैं ।

○ आहार मार्गणा के अनुवाद से

- आहारकों में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोग-केवली तक तेरह गुणस्थान होते हैं।
- विग्रहगति को प्राप्त अनाहारकों में मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं । तथा
- समुद्घातगत सयोग-केवली और अयोग-केवली जीव भी अनाहारक होते हैं ।
- सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत हैं ।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा का कथन समाप्त हुआ ।

संख्या प्ररूपणा

अब संख्या प्ररूपणा का कथन करते हैं । सामान्य और विशेष की अपेक्षा वह दो प्रकार की है ।

• सामान्य की अपेक्षा

- मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि और संयता-संयत इनमें-से प्रत्येक गुणस्थान वाले जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
- प्रमत्त संयतों की संख्या कोटि-पृथक्त्व है । पृथक्त्व आगमिक संज्ञा है । इससे तीन से ऊपर और नौ के नीचे मध्य की किसी संख्या का बोध होता है ।
- अप्रमत्त-संयत जीव संख्यात हैं ।
- चारों उपशमक गुणस्थान वाले जीव प्रवेश की अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्ट-रूप से चौवन हैं और अपने काल के द्वारा संचित हुए उक्त जीव संख्यात हैं ।
- चारों क्षपक और अयोग-केवली प्रवेश की अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्ट-रूप से एक सौ आठ हैं और अपने काल के द्वारा संचित हुए उक्त जीव संख्यात हैं ।
- सयोग-केवली जीव प्रवेश की अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्ट-रूप से एक सौ आठ हैं और अपने काल के द्वारा संचित हुए उक्त जीव लाखपृथक्त्व हैं ।

• विशेष की अपेक्षा

○ गति मार्गणा के अनुवाद से

- नरकगति में
 - पहली पृथिवी में मिथ्यादृष्टि नारकी असंख्यात जगश्रेणी-प्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतर के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी तक प्रत्येक पृथिवी में मिथ्यादृष्टि नारकी जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, जो जगश्रेणीका असंख्यातवाँ भाग असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजनप्रमाण हैं ।
 - सब पृथिवियों में सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि नारकी पल्योपम के असंख्यातवें भाग-प्रमाण हैं ।

- तिर्यच-गति में
 - मिथ्यादृष्टि तिर्यच अनन्तानन्त हैं ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर संयता-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले तिर्यच पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
- मनुष्य-गति में
 - मिथ्यादृष्टि मनुष्य जग श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, जो जगश्रेणी का असंख्यातवाँ भाग असंख्यातकोड़ाकोड़ी योजन प्रमाण है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर संयता-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले मनुष्य संख्यात हैं ।
 - प्रमत्त-संयत आदि मनुष्यों की वही संख्या है जो सामान्य से कह आये हैं ।
- देव-गति में
 - मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतर के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि इनमें-से प्रत्येक गुणस्थान वाले देव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
- इन्द्रियमार्गणा के अनुवाद से
 - एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं ।
 - दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतर के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - पंचेन्द्रियों में
 - मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोग-केवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान वाले पंचेन्द्रियों की वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं ।
- काय मार्गणा के अनुवाद से
 - पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है ।
 - वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त हैं और त्रसकायिक जीवों की संख्या पंचेन्द्रियों के समान है ।
- योग मार्गणा के अनुवाद से
 - मनोयोगी और वचनयोगी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ।
 - काययोगियों में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं ।
 - तीनों योगवालों में
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर संयता-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - प्रमत्त-संयत से लेकर सयोग-केवली गुणस्थान तक के तीनों योगवाले जीव प्रत्येक गुणस्थान में संख्यात हैं ।
 - अयोगकेवलियों की वही संख्या है जो सामान्य से कह आये हैं ।
- वेद मार्गणा के अनुवाद से
 - स्त्री-वेदवाले और पुरुषवेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - नपुंसक-वेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर संयता-संयत तक स्त्री-वेदवाले और नपुंसक-वेदवाले जीवों की वही संख्या है जो सामान्य से कही है ।
 - प्रमत्त-संयत से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक स्त्री-वेदवाले और नपुंसक-वेदवाले जीव संख्यात हैं ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक पुरुष-वेदवालों की वही संख्या है जो सामान्यसे कही है ।

- अनिवृत्ति-बादर से लेकर अयोग-केवली गुणस्थान तक अपगत-वेद वाले जीवों की वही संख्या है जो सामान्य से कही है ।

○ कषाय मार्गणा के अनुवाद से

- क्रोध, मान और माया कषाय में मिथ्यादृष्टि से लेकर संयता-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले जीवों की वही संख्या है जो सामान्य से कही है ।
- प्रमत्त-संयतसे लेकर अनिवृत्ति-बादर तक उक्त कषायवाले जीव संख्यात हैं ।
- यही क्रम लोभ-कषाय वाले जीवों का जानना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमें सूक्ष्म-साम्प्रायिक संयत जीवों की वही संख्या है जो सामान्य से कही गयी है ।
- उपशान्त कषाय से लेकर अयोग-केवली गुणस्थान तक कषाय रहित जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।

○ ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से

- मत्त-ज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- विभंग-ज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातें भाग प्रमाण हैं ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि विभंग-ज्ञानी जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
- असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय गुणस्थान तक मति-ज्ञानी और श्रुत-ज्ञानी जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- अवधिज्ञानी
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि और संयता-संयत जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
 - प्रमत्त-संयत से लेकर क्षीण-कषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में जीव संख्यात हैं ।
- प्रमत्त-संयत से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक गुणस्थान में मनःपर्ययज्ञानी जीव संख्यात हैं ।
- सयोगी और अयोगी केवल-ज्ञानियोंकी संख्या सामान्यवत् है ।

○ संयममार्गणा के अनुवाद से

- प्रमत्त-संयतसे लेकर अनिवृत्ति-बादर तक सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनासंयत जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में परिहार-विशुद्धिसंयत जीव संख्यात हैं ।
- सूक्ष्म-साम्प्रायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयता-संयत और असंयत जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।

○ दर्शन मार्गणा के अनुवाद से

- चक्षु-दर्शन वाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण हैं जो श्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
- अचक्षु-दर्शन वाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय गुणस्थान तक के उक्त दोनों दर्शन वाले जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- अवधि-दर्शन वाले जीवों की संख्या अवधि-ज्ञानियों के समान है ।
- केवल-दर्शन वाले जीवों की संख्या केवल-ज्ञानियों के समान है ।

○ लेश्या मार्गणा के अनुवाद से

- मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टि तक कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- पीत और पद्मलेश्या वाले
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर संयता-संयत तक पीत और पद्मलेश्या वाले जीवों की संख्या स्त्रीवेदके समान है ।
 - प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत गुणस्थान वाले जीव संख्यात हैं ।
- शुक्ल लेश्या वाले
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर संयता-संयत तक जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।
 - प्रमत्त और अप्रमत्त-संयत जीव संख्यात हैं ।
 - अपूर्वकरण से लेकर सयोग-केवली तक जीव सामान्यवत् हैं ।

- लेश्यारहित जीव सामान्यवत् हैं ।
- **भव्य मार्गणा के अनुवाद से** भव्यों में मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक जीव सामान्यवत् हैं । अभव्य अनन्त हैं ।
- **सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से**
 - क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं ।
 - संयता-संयत से लेकर उपशान्त-कषाय तक जीव संख्यात हैं ।
 - चारों क्षपक संचय की अपेक्षा संख्यात हैं ।
 - सयोग-केवली संचय की अपेक्षा लक्ष पृथक्त्व तथा अयोग-केवली संचय की अपेक्षा संख्यात हैं ।
 - क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत सम्यग्दृष्टि एवं संयता-संयत क्रमशः पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं ।
 - प्रमत्त-संयत कोटिपृथक्त्व हैं ।
 - अप्रमत्त-संयत संख्यात हैं ।
 - औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि और संयता-संयत जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं ।
 - प्रमत्त और अप्रमत्त-संयत जीव संख्यात हैं ।
 - चारों उपशामक संचय की अपेक्षा संख्यात हैं
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- **संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से**
 - संज्ञियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक जीवों की संख्या चक्षु-दर्शन वाले जीवों के समान है ।
 - असंज्ञी मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त हैं ।
 - संज्ञी और असंज्ञी संज्ञा से रहित जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
- **आहार मार्गणा के अनुवाद से**
 - आहारकों में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली तक जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
 - अनाहारकों में
 - मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।
 - सयोगके-वली संख्यात हैं और अयोग-केवली जीवों की संख्या सामान्यवत् है ।

इस प्रकार संख्याका निर्णय किया।

क्षेत्र प्ररूपणा

अब क्षेत्र का कथन करते हैं । सामान्य और विशेष की अपेक्षा वह दो प्रकार का है ।

- **सामान्य की अपेक्षा**
 - मिथ्यादृष्टियों का सब लोक क्षेत्र है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टियों से लेकर अयोग-केवली तक जीवों का लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र है ।
 - सयोग-केवलियों का लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण, लोक के असंख्यात बहुभागप्रमाण और सब लोक क्षेत्र है ।
- **विशेष की अपेक्षा**
 - **गति मार्गणा के अनुवाद से**
 - नरकगति में सब पृथिवियों में नारकियोंका चार गुणस्थानों में लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
 - तिर्यच-गति में
 - मिथ्यादृष्टि तिर्यचोंका सब लोक क्षेत्र है और

- शेष तिर्यचोंका लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
- मनुष्य-गति में
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक प्रत्येक गुणस्थान वाले मनुष्यों का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग है ।
 - सयोग-केवलियों का सामान्यवत् क्षेत्र है ।
- देव-गति में सब देवों का चार गुणस्थानों में लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
- इन्द्रियमार्गणा के अनुवाद से
 - एकेन्द्रियों का सब लोक क्षेत्र है ।
 - विकलेन्द्रियों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है और
 - पंचेन्द्रियों का मनुष्यों के समान क्षेत्र है ।
- काय मार्गणा के अनुवाद से
 - पृथिवीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवों का सब लोक क्षेत्र है ।
 - त्रसकायिकों का पंचेन्द्रियोंके समान क्षेत्र है ।
- योग मार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली तक प्रत्येक गुणस्थान वाले वचन योगी और मनोयोगी जीवों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली तक प्रत्येक गुणस्थान वाले काय-योगी जीवों का और अयोग-केवली जीवों का सामान्यवत् क्षेत्र है ।
- वेद मार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक गुणस्थान वाले जीवों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । तथा
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक गुणस्थान वाले नपुंसक-वेदी जीवों का और अपगत-वेदियों का सामान्यवत् क्षेत्र है ।
- कषाय-मार्गणा के अनुवाद से मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक गुणस्थान वाले क्रोध, मान, माया व लोभ कषायवाले, सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान में लोभ कषाय वाले और कषाय रहित जीवों का सामान्यवत् क्षेत्र है ।
- ज्ञानमार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले मत्पज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
 - मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि विभंग-ज्ञानियों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
 - शेष जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
- संयम मार्गणा के अनुवाद से सामान्योक्त क्षेत्र है ।
- दर्शन मार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक गुणस्थान में चक्षु-दर्शन वाले जीवों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक गुणस्थान वाले अचक्षु-दर्शन वाले जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है । तथा
 - अवधि-दर्शनवालों का अवधि-ज्ञानियों के समान और केवल-दर्शनवालों का केवल-ज्ञानियों के समान क्षेत्र है ।
- लेश्यामार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टि तक प्रत्येक गुणस्थान वाले कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले पीत और पद्मलेश्या वाले जीवों के लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
 - शुक्ललेश्या वाले

- मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक गुणस्थान वाले जीवों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है तथा
- सयोग-केवलियों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
- लेश्या रहित जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
- **भव्य मार्गणा के अनुवाद से**
 - चौदह गुणस्थान वाले भव्य जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
 - अभव्यों का सब लोक क्षेत्र है ।
- **सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से** असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोग-केवली पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का, असंयत से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों का तथा असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त कषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टियों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । विशेष यह है कि सयोग केवलियों का लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण, लोक के असंख्यात बहुभाग प्रमाण और सर्वलोक क्षेत्र है ।
- **संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से** संज्ञियों का चक्षु-दर्शन वाले जीवों के समान, असंज्ञियों का सब लोक और संज्ञी-असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
- **आहार मार्गणा के अनुवाद से**
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक गुणस्थान वाले आहारकों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।
 - सयोग-केवलियों का लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है ।
 - मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि और अयोग-केवली अनाहारक जीवों का सामान्योक्त क्षेत्र है । तथा
 - सयोग-केवली अनाहारकों का लोक का असंख्यात बहुभाग और सब लोक क्षेत्र है ।

विशेषार्थ – क्षेत्र-प्ररूपणामें केवल वर्तमान कालीन आवासका विचार किया जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव सब लोक में पाये जाते हैं इसलिए उनका सब लोक क्षेत्र बतलाया है । अन्य गुणस्थान वाले जीव केवल लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र में ही पाये जाते हैं इसलिए इनका लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र बतलाया है । केवल सयोगिकेवली इसके अपवाद हैं । यों तो स्वस्थानगत सयोगिकेवलियों का क्षेत्र भी लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है फिर भी जो सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं उनका क्षेत्र तीन प्रकारका प्राप्त होता है । दण्ड और कपाटरूप समुद्घातके समय लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण, प्रतररूप समुद्घात के समय लोक का असंख्यात बहुभाग और लोकपूरक समुद्घातके समय सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है इसलिए इनके क्षेत्र का निर्देश तीन प्रकारसे किया गया है । गति आदि मार्गणाओंके क्षेत्र का विचार करते समय इसी दृष्टिको सामने रखकर विचार करना चाहिए। साधारणतया कहाँ कितना क्षेत्र है इसका विवेक इन बातोंसे किया जा सकता है –

1. मिथ्यादृष्टियोंमें एकेन्द्रियोंका ही सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है । शेष का नहीं। इनके कुछ ऐसे अवान्तर भेद हैं जिनका सब लोक क्षेत्र नहीं प्राप्त होता पर वे यहाँ विवक्षित नहीं। इस हिसाबसे जो-जो मार्गणा एकेन्द्रियोंके सम्भव हो उन सबके सब लोक क्षेत्र जानना चाहिए। उदाहरणार्थ- गति मार्गणामें तिर्यच-गति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणामें एकेन्द्रिय मार्गणा, काय-मार्गणामें पृथिवी आदि पाँच स्थावर काय मार्गणा, योग मार्गणामें काययोग मार्गणा, वेद मार्गणामें नपुंसक वेद मार्गणा, कषाय मार्गणामें क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय मार्गणा, ज्ञान मार्गणामें मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान मार्गणा, संयम मार्गणामें असंयत संयम मार्गणा, दर्शन-मार्गणा में अचक्षु-दर्शन मार्गणा, लेश्या मार्गणामें कृष्ण, नील और कापोत लेश्या मार्गणा, भव्य मार्गणामें भव्य और अभव्य मार्गणा, सम्यक्त्व मार्गणामें मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व मार्गणा, संज्ञा मार्गणामें संज्ञी असंज्ञी मार्गणा तथा आहार मार्गणामें आहार और अनाहार मार्गणा इनका सब लोक क्षेत्र बन जाता है ।
2. सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय गुणस्थान तक के जीवों का और अयोगकेवलियों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है ।
3. दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रियों में असंज्ञियों का क्षेत्र भी लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।
4. संज्ञियोंमें समुद्घातगत सयोगिकेवलियोंके सिवा शेष सबका क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण है । इन नियमोंके अनुसार जो मार्गणाएँ सयोगिकेवली के समुद्घात के समय सम्भव हैं उनमें भी सब लोक क्षेत्र बन जाता है । शेषके लोक का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण ही क्षेत्र जानना चाहिए। सयोगिकेवलीके लोकपूरण समुद्घातके समय मनुष्य-गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, काययोग, अपगतवेद, अकषाय, केवलज्ञान, यथाख्यात संयम, केवल-दर्शन, शुक्ल लेश्या, भव्यत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, न संज्ञी न असंज्ञी और अनाहार ये मार्गणाएँ पायी जाती हैं इसलिए लोकपूरण समुद्घातके समय इन मार्गणाओंका क्षेत्र भी सब लोक जानना चाहिए। केवलीके प्रतर समुद्घातके समय लोक का असंख्यात बहुभाग प्रमाण क्षेत्र पाया जाता है । इसलिए इस समय जो मार्गणाएँ सम्भव हों उनका क्षेत्र भी लोक का असंख्यात बहुभाग प्रमाण बन जाता है । उदाहरण के लिए लोक पूरण समुद्घातके समय जो मार्गणाएँ गिनायी हैं वे सब यहाँ भी जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त शेष सब मार्गणाएँ ऐसी हैं जिनका क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही प्राप्त होता है । लोक पूरण और प्रतर

समुद्घातके समय प्राप्त होनेवाली जो मार्गणाएँ गिनायी हैं उनमें-से काययोग, भव्यत्व और अनाहार इन तीनको छोड़कर शेष सब मार्गणाएँ भी ऐसी हैं जिनका भी क्षेत्र उक्त अवस्थाके सिवा अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्राप्त होता है । इस प्रकार क्षेत्र का निर्णय किया।

स्पर्श प्ररूपणा

अब स्पर्शन का कथन करते हैं – यह दो प्रकार का है – सामान्य और विशेष।

- सामान्य की अपेक्षा

- मिथ्यादृष्टियों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और त्रसनाली के चौदह भागों में-से कुछ कम आठ भाग और कुछ कम बारह भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- सम्यग्मिथ्यादृष्टियों व असंयत-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग का और त्रसनाली के चौदह भागों में-से कुछ कम आठ भागका स्पर्श किया है ।
- संयता-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का और त्रसनाली के चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह भाग का स्पर्श किया है । तथा
- प्रमत्त-संयतों से लेकर अयोग केवली गुणस्थान तक के जीवों का स्पर्श क्षेत्र के समान है ।

- विशेष की अपेक्षा

- गति मार्गणा के अनुवाद से

- नरक गति में

- पहली पृथिवी में मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थान वाले नारकियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- दूसरी से लेकर छठी पृथिवी तक के
 - मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि नारकियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और क्रमसे लोक नाड़ी के चौदह भागों में-से कुछ कम एक राजु, कुछ कम दो राजु, कुछ कम तीन राजु, कुछ कम चार राजु और कुछ कम पाँच राजु क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि नारकियोंने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- सातवीं पृथिवी में
 - मिथ्यादृष्टि नारकियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और त्रसनाली के चौदह भागों में-से कुछ कम छह राजु क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि आदि शेष तीन गुणस्थान वाले उक्त नारकियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।

- तिर्यच-गति में

- मिथ्यादृष्टि तिर्यचों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि तिर्यचों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाड़ी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम सात भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यचों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- असंयत-सम्यग्दृष्टि और संयता-संयत तिर्यचों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाड़ी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।

- मनुष्य-गति में

- मिथ्यादृष्टि मनुष्यों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और सब लोक का स्पर्श किया है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि मनुष्योंने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाड़ी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम सात भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली गुणस्थान तक के मनुष्यों का स्पर्श क्षेत्र के समान है ।

- देव-गति में
 - मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि देवोंने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का तथा लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग और कुछ कम नौ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि देवोंने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
- इन्द्रिय मार्गणा के अनुवाद से
 - एकेन्द्रियों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - विकलेन्द्रियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - पंचेन्द्रियों में
 - मिथ्यादृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग क्षेत्र का और सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - शेष गुणस्थान वाले पञ्चेन्द्रियों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- काय-मार्गणा के अनुवाद से
 - स्थावर-कायिक जीवों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - त्रसकायिकों-का स्पर्श पञ्चेन्द्रियों के समान है ।
- योग मार्गणा के अनुवाद से
 - वचनयोगी और मनोयोगी
 - मिथ्यादृष्टि जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग क्षेत्र का और सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टियों से लेकर क्षीण-कषाय तक के गुणस्थानवालों का स्पर्श ओघ के समान है ।
 - सयोग-केवली जीवों का स्पर्श लोक का असंख्यातवाँ भाग है । तथा
 - काययोगवालों में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली गुणस्थान तक के और अयोग-केवली जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- वेद मार्गणा के अनुवाद से
 - स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी
 - मिथ्यादृष्टि जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का तथा लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग और सब लोक क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का तथा लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग और कुछ कम नौ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टियों से लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तक के जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
 - नपुंसक-वेदियों में
 - मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श ओघ के समान है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भागका स्पर्श किया है ।
 - असंत-सम्यग्दृष्टि और संयता-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है । तथा
 - प्रमत्त-संयतों से लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तक के जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- कषाय मार्गणा के अनुवाद से क्रोधादि चारों कषाय-वाले और कषाय-रहित जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- ज्ञान-मार्गणा के अनुवाद से
 - मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
 - विभंगज्ञानियों में
 - मिथ्यादृष्टियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवाँ भाग, लोकनाडी के समान चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ भाग और सर्व लोक है ।

- सासादन-सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- संयम मार्गणा के अनुवाद से सब संयतों का, संयता-संयतों का और असंयतों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- दर्शन-मार्गणा के अनुवाद से
 - चक्षु-दर्शनवालों में मिथ्यादृष्टियों से लेकर क्षीण-कषाय तक के जीवों का स्पर्श पंचेन्द्रियों के समान है ।
 - अचक्षु-दर्शनवालों में मिथ्यादृष्टियों से लेकर क्षीण-कषाय तक के जीवों का तथा
 - अवधि-दर्शन वाले और केवल-दर्शन वाले जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- लेश्या-मार्गणा के अनुवाद से
 - कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले
 - मिथ्यादृष्टियों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से क्रमशः कुछ कम पाँच भाग, कुछ कम चार भाग और कुछ कम दो भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - पीतलेश्या वाले
 - मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का तथा लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग और कुछ कम नौ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का तथा लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - संयता-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम डेढ़ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - पद्मलेश्या वाले
 - मिथ्यादृष्टियों से लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टियों तक के जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - संयता-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम पाँच भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है । तथा
 - प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - शुक्ललेश्या वाले
 - मिथ्यादृष्टियों से लेकर संयता-संयतों तक के जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - प्रमत्त-संयत आदि सयोग-केवली तक के शुक्ललेश्यावालों का और लेश्यारहित जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- भव्य मार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टियों से लेकर अयोग-केवली तक के भव्यों का स्पर्श ओघ के समान है ।
 - अभव्यों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
- सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से
 - क्षायिक-सम्यग्दृष्टियों का
 - असंयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का और त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग का स्पर्श किया है ।
 - संयता-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है तथा त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग का स्पर्श किया है ।
 - प्रमत्त संयतों से लेकर अयोग-केवली पर्यन्त सर्व गुणस्थानवर्ती जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है ।

- विशेष इतना है कि सयोग-केवली ने लोक के असंख्यातवें भाग का, असंख्यात बहुभाग का एवं सर्वलोक का स्पर्श किया है ।
- क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों का
 - असंयत सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग का एवं लोक के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागों का स्पर्श किया है ।
 - संयता-संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का एवं लोक के चौदह भागों में से छह भागों का स्पर्श किया है ।
 - प्रमत्त एवं अप्रमत्त संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है ।
- औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयतों ने लोक का असंख्यातवाँ भाग एवं लोक के चौदह भागों में से आठ भाग का स्पर्श किया है । तथा
 - शेष का स्पर्श लोक का असंख्यातवाँ भाग है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियों का सामान्योक्त स्पर्श है ।
- संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से
 - संज्ञियों का स्पर्श चक्षु-दर्शन वाले जीवों के समान है ।
 - असंज्ञियों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - इन दोनों व्यवहारों से रहित जीवों का स्पर्श ओघ के समान है ।
- आहार मार्गणा के अनुवाद से
 - आहारकों में
 - मिथ्यादृष्टियों से लेकर क्षीण-कषाय तक के जीवों का स्पर्श ओघ के समान है । तथा
 - सयोग-केवलियों का स्पर्श लोक का असंख्यातवाँ भाग है ।
 - अनाहारकों में
 - मिथ्यादृष्टियों ने सब लोक का स्पर्श किया है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम ग्यारह भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का और लोकनाडी के चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।
 - सयोग-केवलियों ने लोक के असंख्यात बहुभाग क्षेत्र का और सब लोक का स्पर्श किया है । तथा
 - अयोगकेवलियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है ।

इस प्रकार स्पर्शनका व्याख्यान किया।

काल प्ररूपणा

अब काल का कथन करते हैं । सामान्य और विशेष की अपेक्षा वह दो प्रकारका है ।

- सामान्य की अपेक्षा
 - मिथ्यादृष्टि का
 - नाना जीवों की अपेक्षा सब काल हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं ।
 - एक जीव की अपेक्षा तीन भंग हैं
 - अनादि-अनन्त
 - अनादि-सान्त और
 - सादि-सान्त का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है ।

- सासादन-सम्यग्दृष्टि का
 - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण है ।
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवलि है ।
- सम्यग्मिथ्यादृष्टि का
 - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है ।
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
- असंयत-सम्यग्दृष्टि का
 - नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है ।
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागरोपम है ।
- संयता-संयत का
 - नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है और
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व-कोटि है ।
- प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का
 - नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है और
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
- चारों उपशमकों का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
- चारों क्षपक और अयोगकेवलियों का नाना जीव और एकजीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
- सयोग-केवलियों का
 - नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है ।
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व-कोटि है ।
- विशेष की अपेक्षा
 - गति मार्गणा के अनुवाद से
 - नरक गतिमें नारकियोंमें सातों पृथिवियों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का काल ओघ के समान है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण है ।
 - तिर्यच-गति में
 - मिथ्यादृष्टि तिर्यचोंका नानाजीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनप्रमाण है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयता-संयत तिर्यचोंका सामान्योक्ति काल है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तीन पल्योपम है ।
 - मनुष्य-गति में मनुष्योंमें
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्व-कोटि पृथक्त्वसे अधिक तीन पल्योपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवली है ।

- सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक तीन पल्योपम है । तथा
 - संयता-संयत आदि शेष का काल ओघ के समान है ।
- देव-गति में देवोंमें
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल इकतीस सागरोपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का काल ओघ के समान है ।
 - असंयत सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तेतीस सागरोपम है ।
- इन्द्रिय मार्गणा के अनुवाद से
 - एकेन्द्रियोंका नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है ।
 - विकलेन्द्रियोंका नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट काल संख्यात हजार वर्ष है ।
 - पंचेन्द्रियों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्व-कोटि पृथक्त्वसे अधिक हजार सागरोपम है । तथा
 - शेष गुणस्थानों का काल ओघ के समान है ।
- काय मार्गणा के अनुवाद से
 - पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिकों का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण और उत्कृष्ट काल असंख्यात लोकप्रमाण है ।
 - वनस्पतिकायिकों का एकेन्द्रियोंके समान काल है ।
 - त्रसकायिकोंमें
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्व-कोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है ।
 - इनके शेष गुणस्थानों का काल पंचेन्द्रियोंके समान है ।
- योग मार्गणा के अनुवाद से
 - वचनयोगी और मनोयोगियों में
 - मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत और सयोग-केवलियों का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि का सामान्योक्त काल है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
 - चारों उपशमक और चारों क्षपकों का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
 - काययोगियों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है ।
 - शेष का काल मनोयोगियों के समान है ।
 - तथा अयोगियों का काल ओघ के समान है ।
- वेद मार्गणा के अनुवाद से
 - स्त्रीवेदवालों में

- मिथ्यादृष्टि का नाना जीव की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ पल्योपम पृथक्त्व है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक का सामान्योक्त काल है ।
- किन्तु असंयत सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम पचपन पल्योपम है ।
- पुरुषवेदवालों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ सागरोपम पृथक्त्व है । तथा
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक का सामान्योक्त काल है ।
- नपुंसकवेदवालों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । तथा
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक का सामान्योक्त काल है ।
 - किन्तु असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागरोपम है । तथा
 - वेदरहित जीवों का काल ओघ के समान है ।
- कषाय मार्गणा के अनुवाद से
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक चारों कषायोंका काल मनोयोगियों के समान है । तथा
 - दोनों उपशमक, दानों क्षपक, केवल लोभवाले और कषाय-रहित जीवों का सामान्योक्त काल है ।
- ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से
 - मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियों में मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि का काल ओघ के समान है ।
 - विभज्ज्ञानियों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागरोपम है । तथा
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि का सामान्योक्त काल है ।
 - आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवल-ज्ञानियोंका सामान्योक्त काल है ।
- संयम मार्गणा के अनुवाद से सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, सूक्ष्म-साम्परायसंयत, यथाख्यातशुद्धिसंयत, संयता-संयत और चारों असंयतोंका सामान्योक्त काल है ।
- दर्शन मार्गणा के अनुवाद से
 - चक्षु-दर्शनवालों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल दो हजार सागरोपम है । तथा
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक का सामान्योक्त काल है ।
 - अचक्षु-दर्शनवालों में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक का सामान्योक्त काल है ।
 - अवधि-दर्शन वाले और केवल-दर्शन वाले जीवों का काल अवधिज्ञानी और केवल-ज्ञानियों के समान है ।
- लेश्या मार्गणा के अनुवाद से
 - कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः साधिक तेतीस सागरोपम, साधिक सत्रह सागरोपम और साधिक सात सागरोपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का सामान्योक्त काल है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है ।

- पीत और पद्मलेश्यावालों में
 - मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का सामान्योक्त काल है ।
 - संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
- शुक्ल लेश्यावालों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक इकतीस सागरोपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर सयोग-केवली तक प्रत्येक का और लेश्यारहित जीवों का सामान्योक्त काल है । किन्तु
 - संयता-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
- **भव्य मार्गणा के अनुवाद से**
 - भव्यों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा दो भंग हैं अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमेंसे सादि-सान्त भंगकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक प्रत्येक का सामान्योक्त काल है ।
 - अभव्यों का अनादि-अनन्त काल है ।
- **सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से**
 - क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में
 - नाना जीवों की अपेक्षा असंयत से लेकर अप्रमत्त पर्यन्त सर्वकाल है ।
 - एक जीव की अपेक्षा-
 - असंयतों का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल साधिक तैंतीस सागर है ।
 - संयता-संयतों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व कोटी प्रमाण है ।
 - प्रमत्त एवं अप्रमत्त का जघन्य काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।
 - चारों क्षपकों एवं अयोगी केवलियों का नाना जीवों एवं एक जीव की अपेक्षा जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
 - सयोगी केवलियों का नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है ।
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व कोटी प्रमाण है ।
 - चारों उपशामकों का नाना जीव एवं एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।
 - चारों क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में भी इसी प्रकार (क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के समान) जानना चाहिए ।
 - औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि और संयता-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पत्योपम का असंख्यातवाँ भाग है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।
 - प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत और चारों उपशमकों का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । तथा
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि का सामान्योक्त काल है ।
- **संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से**
 - संज्ञियोंमें

- मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर तक प्रत्येक का काल पुरुषवेदियों के समान है । तथा
- शेष गुणस्थानों का सामान्योक्त काल है ।
- असंज्ञियों का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है ।
- संज्ञी और असंज्ञी व्यवहार से रहित जीवों का सामान्योक्त काल है ।
- **आहार मार्गणा के अनुवाद से**
 - आहारकोंमें
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है जिसका प्रमाण असंख्याता-संख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है ।
 - शेष गुणस्थानों का सामान्योक्त काल है ।
 - अनाहारकों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल दो समय है ।
 - सयोग-केवली का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है ।
 - अयोगकेवलियों का सामान्योक्त काल है ।

इस प्रकार कालका वर्णन किया।

अन्तर प्ररूपणा

अब अन्तर का निरूपण करते हैं । जब विवक्षित गुण गुणान्तररूपसे संक्रमित हो जाता है और पुनः उसकी प्राप्ति होती है तो मध्यके कालको अन्तर कहते हैं । वह सामान्य और विशेष की अपेक्षा दो प्रकारका है ।

• सामान्य की अपेक्षा

- मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो छयासठ सागरोपम है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन है ।
- सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर सासादन-सम्यग्दृष्टियों के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।
- असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है ।
- चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष-पृथक्त्व है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।
- चारों क्षपक और अयोगकेवलियों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- सयोग-केवलियों का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

• विशेष की अपेक्षा

- **गति मार्गणा के अनुवाद से**

- नरकगति में सातों पृथिवियों में
 - मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम 1, 3, 7, 10, 17, 22 और 33 सागरोपम है।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर सातों नरकों में क्रमशः कुछ कम 1, 3, 7, 10, 17, 22 और 33 सागरोपम है।
- तिर्यच-गति में तिर्यचों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तीन पल्योपम है। तथा
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि आदि चारोंका सामान्योक्त अन्तर है।
- मनुष्य-गति में मनुष्योंमें
 - मिथ्यादृष्टि का अन्तर तिर्यचों के समान है।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटी पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है।
 - संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटिपृथक्त्व है।
 - चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटीपृथक्त्व है।
 - शेष गुणस्थानों का अन्तर ओघ के समान है।
- देव-गति में देवोंमें
 - मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है। तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है

○ इन्द्रिय मार्गणा के अनुवाद से

- एकेन्द्रियों में नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटिपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है।
- विकलेन्द्रियों में
 - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है।
 - एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है।
 - इस प्रकार इन्द्रिय की अपेक्षा अन्तर कहा। गुणस्थान की अपेक्षा विचार करने पर तो इनके नाना जीवों की अपेक्षा और एक जीव की अपेक्षा दोनों अपेक्षाओं से भी अन्तर नहीं है या उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारसे अन्तर नहीं है।
- पंचेन्द्रियों में
 - मिथ्यादृष्टि का अन्तर ओघ के समान है।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है।

- चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटी पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है ।
- शेष गुणस्थानों का अन्तर ओघ के समान है ।

○ काय मार्गणा के अनुवाद से

- पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है ।
- वनस्पतिकायिकों का
 - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - एकजीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात लोकप्रमाण है । इस प्रकार कायकी अपेक्षा अन्तर कहा ।
 - गुणस्थान की अपेक्षा विचार करने पर तो
 - नाना जीवों की अपेक्षा और एक जीव की अपेक्षा इन दोनों अपेक्षाओं से भी अन्तर नहीं है । या उत्कृष्ट और जघन्य इन दोनों अपेक्षाओं से अन्तर नहीं है ।
- त्रसकायिकोंमें
 - मिथ्यादृष्टि का अन्तर ओघ के समान है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटी पृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है ।
 - चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व-कोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है ।
 - तथा शेष गुणस्थानों का अन्तर पंचेन्द्रियोंके समान है ।

○ योग मार्गणा के अनुवाद से

- काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियों में
 - मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत और सयोग-केवली का नाना जीवों और एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - चारों क्षपक और अयोगकेवलियों का अन्तर ओघ के समान है ।

○ वेद मार्गणा के अनुवाद से

- स्त्रीवेदियोंमें
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम पचपन पल्योपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है ।
 - दोनों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है ।
 - दोनों क्षपकों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष-पृथक्त्व है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

- पुरुषवेदियों में
 - मिथ्यादृष्टि का अन्तर ओघ के समान है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है ।
 - दोनों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है ।
 - दोनों क्षपकों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर साधिक एक वर्ष है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- नपुंसक वेदवालों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागरोपम है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थान का सामान्योक्त अन्तर है ।
 - दोनों क्षपकों का अन्तर स्त्रीवेदियों के समान है ।
 - अपगतवेदवालों में अनिवृत्ति-बादर उपशमक और सूक्ष्म-साम्पराय उपशमक का नाना जीवों की अपेक्षा सामान्योक्त अन्तर है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।
 - उपशान्त-कषाय का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - शेष गुणस्थानों का अन्तर ओघ के समान है ।
- कषाय मार्गणा के अनुवाद से
 - क्रोध, मान, माया और लोभ में
 - मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-बादर उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थान का अन्तर मनोयोगियों के समान है ।
 - दोनों क्षपकों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर साधिक एक वर्ष है ।
 - लोभ कषायमें
 - सूक्ष्म-साम्परायिक उपशमक का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - सूक्ष्म-लोभवाले क्षपक का अन्तर ओघ के समान है ।
 - कषाय-रहित जीवोंमें उपशान्त-कषाय का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - शेष तीन गुणस्थानों का अन्तर ओघ के समान है ।
- ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से
 - मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी और विभंगज्ञानियों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों और एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
 - आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंमें
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक पूर्व-कोटी है ।
 - संयता-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छ्यासठ सागरोपम है ।
 - प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक तेतीस सागरोपम है ।

- चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छायासठ सागरोपम है ।
- चारों क्षपकों का अन्तर ओघ के समान है ।
- किन्तु अवधि-ज्ञानियों में नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष-पृथक्त्व है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- मनःपर्ययज्ञानियों में
 - प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।
 - चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक पूर्व-कोटी है ।
 - चारों क्षपकों का अन्तर अवधि-ज्ञानियों के समान है ।
 - दोनों केवल-ज्ञानियोंका अन्तर ओघ के समान है ।

○ संयम मार्गणा के अनुवाद से

- सामायिक शुद्धिसंयत और छेदोपस्थापनशुद्धि-संयतों में
 - प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।
 - दोनों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक पूर्व-कोटी है ।
 - दोनों क्षपकों का अन्तर ओघ के समान है ।
- परिहारशुद्धि संयतों में प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।
- सूक्ष्म-साम्प्रायशुद्धि-संयतों में उपशमक का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- तथा उसी सूक्ष्म-साम्प्राय क्षपक का अन्तर ओघ के समान है ।
- यथाख्यात में अन्तर कषाय-रहित जीवों के समान है ।
- संयता-संयत का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- असंयतों में
 - मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागरोपम है ।
 - शेष तीन गुणस्थानों का अन्तर ओघ के समान है ।

○ दर्शन-मार्गणा के अनुवाद से

- चक्षु-दर्शनवालों में
 - मिथ्यादृष्टि का अन्तर ओघ के समान है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार सागरोपम है ।
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त-संयत तक प्रत्येक गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार सागरोपम है ।
 - चारों उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार सागरोपम है ।
 - चारों क्षपकों का अन्तर ओघ के समान है ।
- अचक्षु-दर्शनवालों में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-कषाय तक प्रत्येक गुणस्थान का सामान्योक्त अन्तर है ।
- अवधि-दर्शनवालों का अवधि-ज्ञानियों के समान अन्तर है ।
- तथा केवल-दर्शनवालों के केवल-ज्ञानियों के समान अन्तर है ।

○ लेश्या मार्गणा के अनुवाद से

- कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालों में

- मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनों गुणस्थानों में क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर तीनों लेश्याओं में क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है।
- पीत और पद्म लेश्यावालों में
 - मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर दोनों लेश्याओं में क्रमशः साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नानाजीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है और एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनों गुणस्थानों में क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर दोनों लेश्याओं में क्रमशः साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है।
 - संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत का नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है।
- शुक्ल लेश्यावालों में
 - मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है और एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है।
 - संयता-संयत और प्रमत्त-संयतका अन्तरकथन पीतलेश्या के समान है। तथा
 - अप्रमत्त-संयत का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है।
 - तीन उपशमकों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है।
 - उपशान्त-कषाय का नाना जीव की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है तथा एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है।
 - चारों क्षपक, सयोग-केवली और लेश्यारहित जीवों का अन्तर ओघ के समान है।

- [illegible]

- सासादन-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- असंयत-सम्यग्दृष्टि का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर मासपृथक्त्व है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- सयोग-केवली का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष-पृथक्त्व है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।
- अयोग-केवली का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

इस प्रकार अन्तरका विचार किया।

भाव प्ररूपणा

अब भाव का विचार करते हैं । वह दो प्रकार का है - सामान्य और विशेष।

• सामान्य की अपेक्षा

- मिथ्यादृष्टि यह औदयिकभाव है ।
- सासादन-सम्यग्दृष्टि यह पारिणामिक भाव है ।
- सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक भाव है ।
- असंयत-सम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव है । किन्तु इसमें असंयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है ।
- संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत यह क्षायोपशमिक भाव है ।
- चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव हैं ।
- चारों क्षपक, सयोग-केवली और अयोग-केवलीके क्षायिक भाव हैं ।

• विशेष की अपेक्षा

◦ गति मार्गणा के अनुवाद से

- नरक गतिमें पहली पृथिवी में नारकियों के मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टि तक ओघ के समान भाव है ।
- दूसरी से लेकर सातवीं पृथिवी तक मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नारकियों के ओघ के समान भाव है ।
- असंयत-सम्यग्दृष्टि के औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव हैं । किन्तु इसमें असंयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है ।
- तिर्यच-गति में तिर्यचों के मिथ्यादृष्टि से लेकर संयता-संयत तक ओघ के समान भाव है ।
- मनुष्य-गति में मनुष्यों के मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक ओघ के समान भाव हैं ।
- देव-गति में देवों के मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक ओघ के समान भाव है ।

◦ इन्द्रिय मार्गणा के अनुवाद से

- एकेन्द्रियोंके औदयिक भाव है ।
- पंचेन्द्रियों में मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक प्रत्येक गुणस्थान का ओघ के समान भाव है ।

◦ काय मार्गणा के अनुवाद से

- स्थावरकायिकोंके औदयिक भाव है ।
- त्रसकायिकोंके ओघ के समान भाव है ।

- योग मार्गणा के अनुवाद से काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगी जीवों के मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली तक और अयोग-केवली के ओघ के समान भाव हैं
- वेद मार्गणा के अनुवाद से स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और वेदरहित जीवों के ओघ के समान भाव हैं ।
- कषाय मार्गणा के अनुवाद से क्रोध कषायवाले, मान कषायवाले, माया कषाय वाले, लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवों के समान भाव हैं ।

- ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से मत्तज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवों के ओघ के समान भाव हैं ।
- संयम मार्गणा के अनुवाद से सब संयतों के, संयता-संयतो के और असंयतों के ओघ के समान भाव हैं ।
- दर्शन मार्गणा के अनुवाद से चक्षु-दर्शन वाले, अचक्षु-दर्शन वाले, अवधि-दर्शन वाले और केवल-दर्शन वाले जीवों के ओघ के समान भाव हैं ।
- लेश्या मार्गणा के अनुवाद से छहों लेश्या वाले और लेश्या रहित जीवों के ओघ के समान भाव हैं ।
- भव्य मार्गणा के अनुवाद से
 - भव्यों के मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली तक ओघ के समान भाव हैं ।
 - अभव्यों के पारिणामिक भाव है ।
- सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से
 - क्षायिक-सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि के क्षायिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है ।
 - संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है ।
 - चारों उपशमकों के औपशमिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है ।
 - शेष गुणस्थानों का ओघ के समान भाव है ।
 - क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है ।
 - संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है ।
 - औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - असंयत-सम्यग्दृष्टि के औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है ।
 - संयता-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयतके क्षायोपशमिक भाव हैं । औपशमिक सम्यक्त्व है ।
 - चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है ।
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि के पारिणामिकभाव है ।
 - सम्यग्मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक भाव है ।
 - मिथ्यादृष्टि के औदयिक भाव है ।
- संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से संज्ञियों के ओघ के समान भाव हैं । असंज्ञियों के औदयिक भाव हैं । तथा संज्ञी और असंज्ञी व्यवहार से रहित जीवोंक ओघ के समान भाव हैं ।
- आहार मार्गणा के अनुवाद से आहारक और अनाहारक जीवों के ओघ के समान भाव हैं ।

भाव समाप्त हुआ ।

अल्पबहुत्व प्ररूपणा

अब अल्पबहुत्व का कथन करते हैं । वह दो प्रकार का है – सामान्य और विशेष।

- सामान्य की अपेक्षा
 - तीनों उपशमक सबसे थोड़े हैं जो अपने-अपने गुणस्थानके कालोंमें प्रवेशकी अपेक्षा समान 4 संख्यावाले हैं ।
 - उपशान्त-कषाय जीव उतने ही हैं ।
 - इनसे अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानके क्षपक संख्यात 5 गुणे हैं ।
 - क्षीण-कषायवीतराग-छद्मस्थ उतने ही हैं ।

- सयोग-केवली और अयोग-केवली प्रवेशकी अपेक्षा समान संख्यावाले हैं ।
- इनसे अपने कालमें समुदित हुए सयोग-केवली संख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे अप्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे संयता-संयत असंख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे सासादन-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे मिथ्यादृष्टि अनंतगुणे हैं ।

• विशेष की अपेक्षा

- गति मार्गणा के अनुवाद से
 - नरकगति में सब पृथिवियों में नारकियोंमें
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - तिर्यच-गति में तिर्यचों में
 - संयता-संयत सबसे थोड़े हैं
 - शेष गुणस्थान वाले तिर्यचोंका अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।
 - मनुष्य-गति में मनुष्यों के
 - उपशमकों से लेकर प्रमत्त-संयत तक का अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।
 - प्रमत्त-संयतोंसे संयता-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे सासादन-सम्यग्दृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं ।
 - इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - देव-गतिमे देवोंका अल्पबहुत्व नारकियों के समान है ।
- इन्द्रिय मार्गणा के अनुवाद से
 - एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है ।
 - पंचेन्द्रियोंका अल्पबहुत्व ओघ के समान है । किन्तु इतनी विशेषता है कि असंयत सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रियों से मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय असंख्यात-गुणे हैं ।
- काय मार्गणा के अनुवाद से
 - स्थावरकायिकोंमें गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है ।
 - त्रसकायिकों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियों के समान है ।
- योग मार्गणा के अनुवाद से
 - वचनयोगी और मनोयोगी जीवों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियों के समान है ।
 - काययोगियों का अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।
- वेद मार्गणा के अनुवाद से
 - स्त्रीवेदी पुरुषवेदी जीवों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोंके समान है ।
 - नपुंसकवेदी और वेदरहित जीवों का अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।
- कषाय मार्गणा के अनुवाद से
 - क्रोध कषायवाले, मान कषायवाले और माया कषायवाले जीवों का अल्पबहुत्व पुरुषवेदियों के समान है । किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमें असंयत सम्यग्दृष्टियों से मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।
 - लोभ कषायवालों में दोनों उपशमकों की संख्या समान है ।
 - इनसे क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।

- इनसे सूक्ष्म-साम्परायशुद्धि उपशमकसंयत विशेष अधिक हैं ।
- इनसे सूक्ष्म-साम्पराय क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।
- शेष गुणस्थानवालों का अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।

○ ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से

- मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियों में
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं ।
 - मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।
- विभंगज्ञानियों में
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं ।
 - मिथ्यादृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधि-ज्ञानियों में
 - चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे चारों क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे अप्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे संयता-संयत असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- मनःपर्ययज्ञानियों में
 - चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे चारों क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे अप्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
- केवल-ज्ञानियों में ओयागकेवलियों से सयोग-केवली संख्यात-गुणे हैं ।

○ संयम मार्गणा के अनुवाद से

- सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धि-संयतों में
 - दोनों उपशमक समान संख्यावाले हैं ।
 - इनसे दोनों क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे अप्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
- परिहारविशुद्धि संयतों में अप्रमत्त-संयतोंसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
- सूक्ष्म-साम्परायिक शुद्धि-संयतों में उपशमकों से क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।
- यथाख्यात विहार शुद्धि-संयतों में
 - उपशान्त कषायवालों से क्षीण-कषाय जीव संख्यात-गुणे हैं ।
 - अयोग-केवली उतने ही हैं ।
 - सयोग-केवली संख्यात-गुणे हैं ।
- संयता-संयतों का अल्पबहुत्व नहीं है ।
- असंयतों में
 - सासादन-सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।

○ दर्शन-मार्गणा के अनुवाद से

- चक्षु-दर्शनवालों का अल्पबहुत्व मनोयोगियों के समान है ।
- अचक्षु-दर्शनवालों का अल्पबहुत्व काययोगियों के समान है ।
- अवधि-दर्शनवालों का अल्पबहुत्व अवधि-ज्ञानियों के समान है और

- केवल-दर्शनवालों का अल्पबहुत्व केवल-ज्ञानियों के समान है ।

○ लेश्या मार्गणा के अनुवाद से

- कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालों का अल्पबहुत्व असंयतों के समान है ।
- पीत और पद्म लेश्यावालों में
 - अप्रमत्त-संयत सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इस प्रकार शेष गुणस्थानवालों का अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियों के समान है ।
- शुक्ल लेश्यावालों में
 - उपशमक सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे क्षपक संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे सयोग-केवली संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे अप्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे संयता-संयत असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे सासादन-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि संख्यात-गुणे हैं ।

○ भव्य मार्गणा के अनुवाद से

- भव्यों का अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।
- अभव्यों का अल्पबहुत्व नहीं है ।

○ सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से

- क्षायिक-सम्यग्दृष्टियों में
 - चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं ।
 - प्रमत्त-संयतों तक शेष का अल्पबहुत्व ओघ के समान है ।
 - प्रमत्त-संयतों से संयता-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में
 - अप्रमत्त-संयत सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे संयता-संयत असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- औपशमिक-सम्यग्दृष्टियों में
 - चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं ।
 - इनसे अप्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे प्रमत्त-संयत संख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे संयता-संयत असंख्यात-गुणे हैं ।
 - इनसे असंयत सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
 - शेष सासादन-सम्यग्दृष्टि आदि का अल्पबहुत्व नहीं है ।

○ संज्ञा मार्गणा के अनुवाद से

- संज्ञियों का अल्पबहुत्व चक्षु-दर्शनवालों के समान है ।
- असंज्ञियों का अल्पबहुत्व नहीं है ।
- संज्ञी और असंज्ञी व्यवहार से रहित जीवों का अल्पबहुत्व केवल-ज्ञानियों के समान है ।

○ आहार मार्गणा के अनुवाद से

- आहारकों का अल्पबहुत्व काययोगियों के समान है ।
- अनाहारकों में

- सयोग-केवली सबसे थोड़े हैं ।
- इनसे अयोग-केवली संख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे सासादन-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे असंयत-सम्यग्दृष्टि असंख्यात-गुणे हैं ।
- इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।;

अल्पबहुत्व का कथन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार गत्यादि मार्गणाओं में मिथ्यादृष्टि आदि का सामान्य से विचार किया । इसमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद आगमानुसार जान लेना चाहिए ।

इस प्रकार सर्व प्रथम कहे गये सम्यग्दर्शन के लक्षण, उत्पत्ति, स्वामी, विषय न्यास और अधिगम का उपाय कहा । और उसके सम्बन्ध से जीवादिकों की संज्ञा और परिमाण आदि भी कहा । अब इसके बाद सम्यग्ज्ञान विचार योग्य है इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं –

राजवार्तिक :

प्रश्न – नाना जीवोंकी अपेक्षा काल और नाना जीवोंका अपेक्षा भंग विचय इन दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर – नहीं, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय नामक अनुयोगद्वार मार्गणाओंके विच्छेद और विच्छेदके अस्तित्वका प्ररूपक है। अतः उसका मार्गणाओंके काल और अन्तर बतलानेवाले अनुयोगद्वारोंके साथ एकत्व माननेमें विरोध आता है।

+ ज्ञान के भेद -

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में ज्ञान शब्द मति आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ।

मति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः' = इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मननमात्र **मति** कहलाता है ।

श्रुत का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन श्रृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्' = श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुननामात्र **श्रुत** कहलाता है। मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों का समीप में निर्देश किया है क्योंकि इनमें कार्य-कारणभाव पाया जाता है । जैसा कि आगे कहेंगे 'श्रुतं मतिपूर्वम् ।' अवधि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से या परिमित विषयवाला होनेसे **अवधि** कहलाता है ।

मनःपर्यय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं । सम्बन्ध से उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करनेवाला ज्ञान **मनःपर्यय** कहलाता है ।

शंका – मनःपर्यय ज्ञान का इस प्रकार लक्षण करने पर उसे मतिज्ञान का प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान में मन की अपेक्षामात्र है । यद्यपि वह केवल बड़ी हुई क्षयोपशम शक्ति से अपना काम करता है तो भी केवल स्व और पर के मन की अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है। यथा- 'आकाश में चन्द्रमा देखो' यहाँ आकाश की अपेक्षामात्र होने से ऐसा व्यवहार किया गया है ।

केवल का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवल अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है । अथवा केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय ज्ञानको **केवलज्ञान** कहते हैं । केवलज्ञानकी प्राप्ति अन्त में होती है इसलिए सूत्रमें उसका पाठ सबके अन्तर में रखा है । उसके समीप का होने से उसके समीपमें मनःपर्यय का ग्रहण किया है ।

शंका – मनःपर्यय केवलज्ञान के समीप का क्यों है ?

समाधान – क्योंकि इन दोनों का संयम ही एक आधार है, अतएव मनःपर्यय केवलज्ञान के समीप का है । अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान से दूर है, इसलिए उसका मनःपर्ययज्ञान के पहले पाठ रखा है ।

शंका – मनःपर्ययज्ञान से अवधिज्ञान को दूर का क्यों कहा ?

समाधान – क्योंकि अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान से अत्यन्त दूर है । प्रत्यक्ष से परोक्ष का पहले कथन किया, क्योंकि वह सुगम

है। चूँकि मति-श्रुतपद्धति श्रुत, परिचित और अनुभूत होने से प्रायः सब प्राणियों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है अतः वह सुगम है। इस प्रकार यह पाँच प्रकार का ज्ञान है। इसके भेद आदि आगे कहेंगे।

प्रमाण और नय से ज्ञान होता है यह पहले कह आये हैं। किन्हीं ने ज्ञान को प्रमाण माना है, किन्हीं ने सन्निकर्ष को और किन्हीं ने इन्द्रिय को। अतः अधिकार प्राप्त मत्यादिक ही प्रमाण हैं इस बात को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

तदावरणकर्मक्षयोपशमादिद्वितीयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः।

मनःपर्यय ज्ञानवरण कर्म के क्षयोपशमादिरूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को जानना मनःपर्यय ज्ञान है।

+ ज्ञान ही प्रमाण है -

तत्प्रमाणे ॥१०॥

अन्वयार्थ : वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – सूत्र में 'तत्' पद किसलिए दिया है ?

समाधान – जो दूसरे लोग सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं उनकी इस कल्पना के निराकरण करने के लिए सूत्र में 'तत्' पद दिया है। सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है ऐसा कितने ही लोग मानते हैं इसलिए इनका निराकरण करने के लिए सूत्र में 'तत्' पद दिया है जिससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वे मत्यादि ही प्रमाण हैं, अन्य नहीं।

शंका – सन्निकर्ष या इन्द्रिय को प्रमाण मानने में क्या दोष है ?

समाधान – यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों के अग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है; क्योंकि इनका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता है। यदि इन्द्रिय को प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योंकि चक्षु आदि का विषय अल्प है और ज्ञेय अपरिमित हैं।

दूसरे सब इन्द्रियों का सन्निकर्ष भी नहीं बनता, क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं हैं, इसलिए भी सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं मान सकते। चक्षु और मन के अप्राप्यकारित्व का कथन आगे कहेंगे।

शंका – यदि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तो फल का अभाव होता है। प्रकृत में ज्ञान को ही फल मानना इष्ट है अन्य पदार्थ को फल मानना इष्ट नहीं। पर यदि उसे प्रमाण मान लिया जाता है तो उसका कोई दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता। किन्तु प्रमाण को फलवाला होना चाहिए। पर सन्निकर्ष या इन्द्रिय को प्रमाण मानने पर उससे भिन्न ज्ञानरूप फल बन जाता है ?

समाधान – यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि सन्निकर्ष को प्रमाण और अर्थ के ज्ञान को फल मानते हैं तो सन्निकर्ष दो में रहनेवाला होने से उसके फलस्वरूप ज्ञान को भी दो में रहनेवाला होना चाहिए इसलिए घट-पटादि पदार्थों के भी ज्ञान की प्राप्ति होती है।

शंका – आत्मा चेतन है, अतः उसी में ज्ञान का समवाय है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि आत्मा को ज्ञस्वभाव नहीं मानने पर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते हैं। यदि आत्मा को ज्ञस्वभाव माना जाता है, तो स्वमत का विरोध होता है।

पहले पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि ज्ञान को प्रमाण मानने पर फल का अभाव होता है सो यह कोई दोष नहीं; क्योंकि पदार्थ के ज्ञान होने पर प्रीति देखी जाती है। यद्यपि आत्मा ज्ञस्वभाव है तो भी वह कर्मों से मलीन है अतः इन्द्रियों के आलम्बन से पदार्थ का निश्चय होने पर उसके जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रमाण का फल कहा जाता है। अथवा उपेक्षा या अज्ञान का नाश प्रमाण का फल है। राग-द्वेषरूप परिणामों का नहीं होना उपेक्षा है और अन्धकार के समान अज्ञान का दूर हो जाना अज्ञाननाश है। सो ये भी प्रमाण के फल हैं।

प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् =जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है।

शंका – प्रमाण के द्वारा क्या जाना जाता है ?

समाधान – जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं।

शंका – यदि जीवादि पदार्थों के ज्ञान में प्रमाण कारण है तो प्रमाण के ज्ञान के अन्य प्रमाण को कारण मानना चाहिए। और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है ?

समाधान – जीवादि पदार्थों के ज्ञान में प्रमाण को कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार

घटादि पदार्थों के प्रकाश करने में दीपक हेतु है और अपने स्वरूप के प्रकाश करने में भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूँढना पड़ता। उसी प्रकार प्रमाण भी है यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। अब यदि प्रमेय के समान प्रमाण के लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्वका ज्ञान नहीं होने से स्मृति का अभाव हो जाता है और स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार का लोप हो जाता है।

सूत्र में आगे कहे जानेवाले भेदों की अपेक्षा द्विवचन का निर्देश किया है। आगे कहेंगे 'आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्।' यह द्विवचन का निर्देश प्रमाण की अन्य संख्या के निराकरण करनेके लिए किया है।

पहले कहे गये पाँच प्रकारके ज्ञान दो प्रमाणोंमें आ जाते हैं इस प्रकार सुनिश्चित हो जाने पर भी वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक भी हो सकते हैं अतः इस कल्पनाको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

+ परोक्ष प्रमाण -

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अन्वयार्थ : प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

आदि शब्द प्राथम्यवाची है। जो आदिमें हो वह आद्य कहलाता है।

शंका – दो प्रथम कैसे हो सकते हैं ?

समाधान – पहला मुख्य कल्पना से प्रथम है और दूसरा उपचार कल्पना से प्रथम है। मतिज्ञान तो मुख्य कल्पना से प्रथम है और श्रुतज्ञान भी उसके समीप का होने से प्रथम है ऐसा उपचार किया जाता है। सूत्र में 'आद्ये' इस प्रकार द्विवचन का निर्देश किया है अतः उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण हो जाता है। 'आद्ये' पद का समास 'आद्यं च आद्यं च आद्ये' है। इससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों लिये गये हैं। ये दोनों ज्ञान मिलकर परोक्ष प्रमाण हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए।

शंका – ये दोनों ज्ञान परोक्ष क्यों हैं?

समाधान – क्योंकि ये दोनों ज्ञान पराधीन हैं। 'मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है, यह आगे कहेंगे और 'अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है' यह भी आगे कहेंगे। अतः 'पर' से यहाँ इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त लेने चाहिए। तात्पर्य यह है कि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा के इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तों की अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं अतः ये परोक्ष कहलाते हैं। उपमान और आगमादिक भी ऐसे ही हैं अतः इनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

परोक्ष का लक्षण कहा। इससे बाकी के सब ज्ञान प्रत्यक्ष हैं इस बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान -

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अन्वयार्थ : शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

अक्ष शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानतीत्यक्ष आत्मा।" अक्ष, व्याप और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं, इसलिए अक्ष का अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशमवाले या आवरणरहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिक की अपेक्षा से न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरणरहित आत्मा से होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

शंका – अवधिदर्शन और केवलदर्शन भी अक्ष अर्थात् आत्मा के प्रति नियत हैं अतः प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा उनका भी ग्रहण प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि प्रकृत में ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति है, जिससे दर्शन का निराकरण हो जाता है।

शंका – यद्यपि इससे दर्शन का निराकरण हो जाता है तो भी विभंगज्ञान केवल आत्मा के प्रति नियत है अतः उसका ग्रहण प्राप्त होता है ?

समाधान – यहाँ 'सम्यक्' पद का अधिकार है, अतः उसका निराकरण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस सूत्रमें 'सम्यक्' पद की अनुवृत्ति होती है, जिससे ज्ञान विशेष्य हो जाता है इसलिए विभंगज्ञान का निराकरण हो जाता है। क्योंकि विभंगज्ञान मिथ्यादर्शन के उदय से विपरीत पदार्थ को विषय करता है, इसलिए वह समीचीन नहीं है।

शंका – जो ज्ञान इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियों के व्यापार से रहित होकर विषय को ग्रहण करता है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्ष का यह अविस्वादी लक्षण मानना चाहिए ?

समाधान – यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्त लक्षण के मानने पर आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव प्राप्त होता है। यदि इन्द्रियों के निमित्त से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है तो ऐसा मानने पर आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि आप्त के इन्द्रियपूर्वक पदार्थका ज्ञान नहीं होता। कदाचित् उसके भी इन्द्रियपूर्वक ही ज्ञान माना जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहते।

शंका – उसके मानस प्रत्यक्ष होता है ?

समाधान – मन के प्रयत्न से ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञत्व का अभाव ही होता है।

शंका – आगम से सब पदार्थों का ज्ञान हो जायगा।

समाधान – नहीं, क्योंकि आगम प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक प्राप्त होता है।

शंका – योगी प्रत्यक्ष नाम का एक अन्य दिव्य ज्ञान है।

समाधान – तो भी उसमें प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियों के निमित्त से नहीं होता है। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रिय से होती है वह प्रत्यक्ष है ऐसा आपके मत में स्वीकार किया गया है।

दूसरे प्रत्यक्ष का पूर्वोक्त लक्षण मानने पर सर्वज्ञत्व का अभाव और प्रतिज्ञाहानि ये दो दोष आते हैं। विशेष इस प्रकार है - इस योगी के जो ज्ञान होता है वह प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है या अनेक अर्थों को युगपत् जानता है। यदि प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है तो इस योगी के सर्वज्ञता का अभाव होता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं। और यदि अनेक अर्थों को युगपत् जानता है तो जो यह प्रतिज्ञा है कि 'जिस प्रकार एक विज्ञान दो अर्थों को नहीं जानता है उसी प्रकार दो विज्ञान एक अर्थ को नहीं जानते हैं।' वह नहीं रहती।

अथवा 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' यह प्रतिज्ञा नहीं रहती, क्योंकि आपके मत में अनेक क्षण तक रहने वाला एक विज्ञान स्वीकार किया गया है। अतः अनेक पदार्थों का ग्रहण क्रम से ही होता है।

शंका – अनेक पदार्थोंका ग्रहण एक साथ हो जायगा।

समाधान – जो ज्ञान की उत्पत्ति का समय है उस समय तो वह स्वरूप लाभ ही करता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वरूप-लाभ करने के पश्चात् ही अपने कार्य के प्रति व्यापार करता है।

शंका – विज्ञान दीप के समान है, अतः उसमें दोनों बातें एक साथ बन जायेंगी।

समाधान – नहीं, क्योंकि उसके अनेक क्षण तक रहने पर ही प्रकाश्य-भूत पदार्थों का प्रकाशन करना स्वीकार किया गया है। यदि ज्ञान को विकल्पातीत माना जाता है तो शून्यता की प्राप्ति होती है।

प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद कहे। अब हम प्रथम प्रकार के प्रमाण के विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम्

= पूर्वकी अनुभूतियोंके अनुसार विकल्प करना अनुस्मरण है।

अथ द्रव्यसिद्धिर्माभूदिति 'आकार एव न ज्ञानम्' इति कल्प्यते; एवं सति कस्य ते आकारा इति तेषामप्यभावः स्यात्। = यदि (बौद्ध लोग) अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धि के भय से केवल आकार ही आकार मानते हैं, पर ज्ञान नहीं तो यह प्रश्न होता है कि वे आकार किसके हैं, क्योंकि निराश्रय आकार तो रह नहीं सकते हैं। ज्ञान का अभाव होने से आकारों का भी अभाव हो जायेगा।

+ परोक्ष प्रमाण के संबंध में विशेष कथन -

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यानर्थान्तरम्॥१३॥

अन्वयार्थ : मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम हैं ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

आदि में जो ज्ञान कहा है उसके ये पर्यायवाची शब्द जानने चाहिए, क्योंकि ये मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम-रूप अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करते हैं और इनकी श्रुतादिक में प्रवृत्ति नहीं होती। 'मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता और अभिनिबोधनमभिनिबोधः' यह इनकी व्युत्पत्ति है। यथा सम्भव इनका दूसरा विग्रह जानना चाहिए।

यद्यपि इन शब्दोंकी प्रकृति अलग-अलग है अर्थात् यद्यपि ये शब्द अलग-अलग धातुसे बने हैं तो भी रूढ़ि से पर्यायवाची हैं। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर। इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रियाकी अपेक्षा भेद है तो भी ये सब एक शचीपति की वाचक संज्ञाएँ हैं। अब यदि समभिरूढ नय की अपेक्षा इन शब्दों का अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति आदि शब्दों में भी पाया जाता है। किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम-रूप निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को उल्लंघन नहीं करते हैं यह अर्थ यहाँ पर विवक्षित है। प्रकृत में 'इति' शब्द प्रकारवाची है जिससे यह अर्थ होता है कि इस प्रकार ये मति आदि मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं। अथवा प्रकृत में मति शब्द अभिधेयवाची है जिसके अनुसार यह अर्थ

होता है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह एक ही है ।
मतिज्ञानके स्वरूप लाभमें क्या निमित्त है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

+ मतिज्ञान किससे उत्पन्न होता है -

तदिन्द्रयानिन्द्रिय निमित्तम् ॥१४॥

अन्वयार्थ : वह(मतिज्ञान) इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

इन्द्र शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'इन्द्रतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र। इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के रहते हुए स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है, अतः उसको पदार्थ के जानने में जो लिंग(निमित्त) होता है वह इन्द्र का लिंग इन्द्रिय कही जाती है। अथवा जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थ का ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार इन्द्रिय शब्द का यह अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में लिंग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे लोक में धूम अग्नि का ज्ञान कराने में कारण होता है। इसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण कर्त्ता आत्मा के अभाव में नहीं हो सकते हैं, अतः उनसे ज्ञाता का अस्तित्व जाना जाता है। अथवा इन्द्र शब्द नामकर्म का वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि उससे रची गयी इन्द्रियाँ हैं। वे इन्द्रियाँ स्पर्शनादिक हैं जिनका कथान आगे करेंगे। अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची नाम हैं।

शंका – अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रिय का निषेधपरक है अतः इन्द्र के लिंग मन में अनिन्द्रिय शब्द का व्यापार कैसे हो सकता है ?

समाधान – यहाँ नञ् का प्रयोग 'ईषद्' अर्थ में किया है ईषत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय। यथा अनुदरा कन्या। इस प्रयोग में जो अनुदरा शब्द है उससे उदर का अभाव रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

शंका – अनिन्द्रिय में नञ् का निषेधरूप अर्थ न लेकर 'ईषद्' अर्थ कैसे लिया गया है ?

समाधान – ये इन्द्रियाँ नियत देश में स्थित पदार्थों को विषय करती है और कालान्तर में अवस्थित रहती है। किन्तु मन इन्द्र का लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता और कालान्तर में अवस्थित नहीं रहता।

यह अन्तःकरण कहा जाता है। इसे गुण और दोषों के विचार और स्मरण करने आदि कार्यों में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के समान इसकी बाहर उपलब्धि भी नहीं होती इसलिए यह अन्तर्गत करण होनेसे अन्तःकरण कहलाता है। इसलिए अनिन्द्रिय में नञ् का निषेधरूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है।

शंका – सूत्र में 'तत्' पद किसलिए दिया है ?

समाधान – सूत्र में 'तत्' पद मतिज्ञान का निर्देश करने के लिए दिया है।

शंका – मतिज्ञान निर्देश का अनन्तर किया ही है और ऐसा नियम है कि 'विधान या निषेध अनन्तरवर्ती पदार्थका ही होता है' अतः यदि सूत्र में 'तत्' पद न दिया जाय तो भी मतिज्ञान का ग्रहण प्राप्त होता है ?

समाधान – इस सूत्रके लिए और अगले सूत्रके लिए 'तत्' पदका निर्देश किया है। मति आदि पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा जो ज्ञान कहा गया है वह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है और उसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं प्राप्त होता। यदि 'तत्' पद न दिया जायेगा तो मति आदि पर्यायवाची नाम प्रथम ज्ञानके हो जायेंगे और इन्द्रिय-अनिन्द्रियके निमित्त होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलायेगा और इसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद प्राप्त होंगे इस प्रकार अनिष्ट अर्थके सम्बन्धकी प्राप्ति होगी। अतः इस अनिष्ट अर्थके सम्बन्धके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पद का निर्देश करना आवश्यक है।

इस प्रकार मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त जान लिये, किन्तु अभी उसके भेदों का निर्णय नहीं किया अतः उसके भेदों का ज्ञान कराने के लिए अगला सूत्र कहते हैं –

+ मतिज्ञान के भेद -

अवग्रहेहावाय धारणाः ॥१५॥

अन्वयार्थ : अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

विषय और विषयी के सम्बन्धके बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को **अवग्रह** कहते हैं । विषय और विषयी का सन्निपात होने पर

दर्शन होता है उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है।

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विशेष के जानने की इच्छा **ईहा** कहलाती है। जैसे, जो शुक्ल रूप देखा है 'वह क्या वकपंक्ति है' इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा या 'वह क्या पताका है' इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा ईहा है।

विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे **अवाय** कहते हैं। जैसे उत्पत्तन, निपत्तन और पक्षविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वकपंक्ति ही ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना अवाय है।

जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे **धारणा** कहते हैं। जैसे यह वही वकपंक्ति है जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था ऐसा जानना धारणा है। सूत्र में इन अवग्रहादिक का उपन्यास-क्रम इनके उत्पत्ति-क्रम की अपेक्षा किया है। तात्पर्य यह है कि जिस क्रम से ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से इनका सूत्र में निर्देश किया है।

इस प्रकार अवग्रह आदि का कथन किया। अब इनके भेदों के दिखलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

+ अवग्रह आदि ज्ञानों के और भेद -

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

अन्वयार्थ : सेतर(प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान होते हैं ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

अवग्रह आदि क्रियाविशेषों का प्रकरण है उनकी अपेक्षा 'बहुादीनां सेतराणां' इस प्रकार कर्मकारक का निर्देश किया है। 'बहु' शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकार का है। इन दोनों का यहाँ ग्रहण किया है, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। संख्यावाची बहु शब्द यथा – एक, दो, बहुत। वैपुल्यवाची बहु शब्द यथा – बहुत भात, बहुत दाल। 'विध' शब्द प्रकारवाची है। सूत्र में 'क्षिप्र' शब्द का ग्रहण, जल्दी होने वाले ज्ञान के जताने के लिए किया है। जब पूरी वस्तु प्रकट न होकर कुछ प्रकट रहती है और कुछ अप्रकट तब वह अनिःसृत कही जाती है। यहाँ अनिःसृत अर्थ ईषद् निःसृत है, अतः इसका ग्रहण करने के लिए सूत्र में 'अनिःसृत' पद दिया है। जो कही या बिना कही वस्तु अभिप्राय से जानी जाती है उसके ग्रहण करने के लिए 'अनुक्त' पद दिया है। जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है उसके जताने के लिए 'ध्रुव' पद दिया है। इनसे प्रतिपक्षभूत पदार्थों का संग्रह करने के लिए 'सेतर' पद दिया है।

बहुत का अवग्रह, अल्प का अवग्रह, बहुविध का अवग्रह, एकविध का अवग्रह, क्षिप्रावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, अनिःसृत का अवग्रह, निःसृत का अवग्रह, अनुक्त का अवग्रह, उक्त का अवग्रह, ध्रुव का अवग्रह और अध्रुव का अवग्रह ये अवग्रह के बारह भेद हैं। इसी प्रकार ईहादिक में से प्रत्येक बारह-बारह भेद हैं। ये सब अलग-अलग पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न कराने चाहिए। इनमें-से बहु अवग्रह आदि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकर्ष से होते हैं। इतर नहीं। बहु आदि श्रेष्ठ हैं, अतः उनका प्रथम ग्रहण किया है।

कुछ आचार्यों के मत से क्षिप्रानिःसृत के स्थान में 'क्षिप्रनिःसृत' ऐसा पाठ है। वे ऐसा व्याख्यान करते हैं कि श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा शब्द को ग्रहण करते समय वह मयूर का है अथवा कुरुर का है ऐसा कोई जानता है। दूसरा स्वरूप के आश्रय से ही जानता है।

शंका – ध्रुवावग्रह और धारणा में क्या अन्तर है ?

समाधान – क्षयोपशम की प्राप्ति के समय विशुद्ध परिणामों की परम्परा के कारण प्राप्त हुए क्षयोपशम से प्रथम समय में जैसा अवग्रह होता है वैसा ही द्वितीयादिक समयों में भी होता है, न न्यून होता है और न अधिक। यह ध्रुवावग्रह है। किन्तु जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणामों के मिश्रण से क्षयोपशम होकर उससे अवग्रह होता है तब वह कदाचित् बहुत का होता है, कदाचित् अल्प का होता है, कदाचित् बहुविध का होता है और कदाचित् एकविध का होता है। तात्पर्य यह कि उनमें न्यूनाधिक भाव होता रहता है, इसलिए वह अध्रुवावग्रह कहलाता है किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थ के नहीं भूलने के कारणभूत ज्ञान को कहते हैं, अतः ध्रुवावग्रह और धारणा में बड़ा अन्तर है।

यदि अवग्रह आदि बहु आदिक को जानते हैं तो बहु आदिक किसके विशेषण हैं। अब इसी बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

+ बहु बहुविध आदि किसके विशेषण हैं -

अर्थस्य ॥१७॥

अन्वयार्थ : अर्थ के (वस्तु के) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान होते हैं ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय अर्थ कहलाता है। बहु आदि विशेषणों से युक्त उस (अर्थ) के अवग्रह आदि होते हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए।

शंका – यतः बहु आदिक अर्थ ही हैं, अतः यह सूत्र किसलिए कहा ?

समाधान – यह सत्य है कि बहु आदिक अर्थ ही हैं तो भी अन्य वादियों की कल्पना निराकरण करने के लिए 'अर्थस्य' सूत्र कहा है। कितने ही प्रवादी मानते हैं कि रूपादिक गुण ही इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, अतः उन्हीं का ग्रहण होता है, किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वे रूपादिक गुण अमूर्त हैं, अतः उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शंका – यदि ऐसा है तो 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा' यह व्यवहार नहीं हो सकता, किन्तु होता अवश्य है सो इसका क्या कारण है ?

समाधान – जो पर्यायों को प्राप्त होता है या पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, यह 'अर्थ' है। इसके अनुसार अर्थ द्रव्य ठहरता है। उसके इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होने पर चूँकि रूपादिक उससे अभिन्न हैं, अतः रूपादिक में भी ऐसा व्यवहार बन जाता है कि 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा।'

क्या ये अवग्रह आदि सब इन्द्रिय और मन के होते हैं या इनमें विषय की अपेक्षा कुछ भेद हैं ? अब इसी बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

+ सभी पदार्थों के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं या उसमें कुछ अंतर है? -

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

अन्वयार्थ : व्यंजन का अवग्रह ही होता है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

अव्यक्त शब्दादि के समूह को व्यंजन कहते हैं। उसका अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते।

शंका – यह सूत्र किसलिए आया है ?

समाधान – अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते इस प्रकारका नियम करने के लिए यह सूत्र आया है।

शंका – तो फिर इस सूत्र में एवकार का निर्देश करना चाहिए।

समाधान – नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'किसी कार्य के सिद्ध रहते हुए यदि उसका पुनः विधान किया जाता है तो वह नियम के लिए होता है' इस नियमके अनुसार सूत्रमें एवकारके न करने पर भी वह नियमका प्रयोजक हो जाता है।

शंका – जबकि अवग्रह का ग्रहण दोनों जगह समान है तब फिर इनमें अन्तर किंनिमित्तक है ?

समाधान – अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह में व्यक्त ग्रहण और अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अन्तर है।

शंका – कैसे ?

समाधान – जैसे माटी का नया सकोरा जल के दो तीन कणों से सींचने पर गीला नहीं होता और पुनः-पुनः सींचने पर वह धीरे-धीरे गीला हो जाता है इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा किये गये शब्दादिरूप पुद्गल स्कन्ध दो तीन समयोंमें व्यक्त नहीं होते हैं, किन्तु पुनः-पुनः ग्रहण होने पर वे व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहणसे पहले-पहले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है। यही कारण है कि अव्यक्त ग्रहणपूर्वक ईहादिक नहीं होते।

सब इन्द्रियोंके समानरूपसे व्यंजनावग्रहके प्राप्त होनेपर जिन इन्द्रियोंके द्वारा यह सम्भव नहीं है उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

+ व्यंजनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता -

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अन्वयार्थ : चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है।

शंका – क्यों ?

समाधान – क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी है। चूँकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशा में अवस्थित, युक्त, सन्निकर्ष के योग्य देश

में अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदि से व्यक्त हुए पदार्थ को ग्रहण करता है और मन भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करता है अतः इन दोनों के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता।

शंका – चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान – आगम और युक्ति से जाना जाता है। आगम से यथा - श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रम से स्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको ही जानती है।

युक्ति से यथा - चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थ को नहीं ग्रहण करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रिय के समान स्पृष्ट हुए अंजन को ग्रहण करती। किन्तु वह स्पृष्ट अंजन को नहीं ग्रहण करती है इससे मालूम होता है कि मन के समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अतः सिद्ध हुआ कि चक्षु और मन को छोड़कर शेष इन्द्रियों के व्यंजनावग्रह होता है। तथा सब इन्द्रिय और मन के अर्थावग्रह होता है।

लक्षण और भेदोंकी अपेक्षा मतिज्ञानका कथन किया। अब उसके बाद क्रम प्राप्त श्रुतज्ञानके लक्षण और भेद कहने चाहिए; इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं –

+ श्रुतज्ञान का स्वरूप -

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

अन्वयार्थ : श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

यह 'श्रुत' शब्द सुननेरूप अर्थ की मुख्यता से निष्पादित है तो भी रूढि से भी उसका वाच्य कोई ज्ञानविशेष है। जैसे 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ कुशा का छेदना है तो भी रूढि से उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है। वह ज्ञानविशेष क्या है इस बात को ध्यान में रखकर 'श्रुतं मतिपूर्वम्' यह कहा है। जो श्रुत की प्रमाणता को पूरता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची हैं। मति का व्याख्यान पहले कर आये हैं। वह मति जिसका पूर्व अर्थात् निमित्त है वह मतिपूर्व कहलाता है जिसका अर्थ मतिकारणक होता है। तात्पर्य यह है कि जो मतिज्ञान के निमित्त से होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

शंका – यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है; क्योंकि लोक में कारण के समान ही कार्य देखा जाता है ?

समाधान – यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारण के समान कार्य होता है। यद्यपि घट की उत्पत्ति दण्डादिक से होती है तो भी वह दण्डाद्यात्मक नहीं होता। दूसरे, मतिज्ञान के रहते हुए भी श्रुतज्ञान नहीं होता। यद्यपि मतिज्ञान रहा आता है और श्रुतज्ञान के बाह्य निमित्त भी रहे आते हैं तो भी जिसके श्रुतज्ञानावरण का प्रबल उदय पाया जाता है उसके श्रुतज्ञान नहीं होता। किन्तु श्रुतज्ञानावरण कर्म का प्रकर्ष क्षयोपशम होने पर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तमात्र जानना चाहिए।

शंका – श्रुतज्ञान को अनादिनिधन कहा है। ऐसी अवस्था में उसे मतिज्ञानपूर्वक मान लेने पर उसकी अनादिनिधनता नहीं बनती, क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है। और इसलिए वह पुरुष का कार्य होने से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य आदि सामान्य नयकी मुख्यतासे श्रुतको अनादिनिधन कहा है। किसी पुरुषने कहीं और कभी किसी भी प्रकारसे उसे किया नहीं है। हाँ उन्हीं द्रव्य आदि विशेष नयकी अपेक्षा उसका आदि और अन्त सम्भव है इसलिए 'वह मतिपूर्वक होता है' ऐसा कहा जाता है। जैसे कि अंकुर बीजपूर्वक होता है, फिर भी वह सन्तानकी अपेक्षा अनादिनिधन है। दूसरे, जो यह कहा है कि पुरुषका कार्य होनेसे वह अप्रमाण है सो अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नहीं है। यदि अपौरुषेयताको प्रमाणता का कारण माना जाय तो जिसके कर्ता का स्मरण नहीं होता ऐसे चोरी आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जाएँगे। तीसरे, प्रत्यक्ष आदि ज्ञान अनित्य होकर भी यदि प्रमाण माने जाते हैं तो इसमें क्या विरोध है, अर्थात् कुछ भी नहीं।

शंका – प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह कथन नहीं बनता ?

समाधान – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान में समीचीनता सम्यग्दर्शन के निमित्त से प्राप्त होती है। इन दोनों का आत्मलाभ तो क्रमसे ही होता है, इसलिए 'श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है' इस कथनका व्याघात नहीं होता।

शंका – 'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि श्रुतज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान होता है ऐसा कहा जाता है। यथा – किसी एक जीवने वर्ण, पद और वाक्य आदिरूपसे शब्द परिणत पुद्गल

स्कन्धोंको कर्ण इन्द्रिय-द्वारा ग्रहण किया। अनन्तर उससे घटपदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। यदि उसने घटके कार्योंका संकेत कर रखा है तो उसे उस घटज्ञानके बाद जलधारणादि दूसरे कार्योंका ज्ञान होता है और तब श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। या किसी एक जीव ने चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय का ग्रहण किया। अनन्तर उसे उससे धूमादि पदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। यदि उसे धूमादि और अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धका ज्ञान है तो वह धूमादिके निमित्तसे अग्नि आदि द्रव्यको जानता है और तब भी श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात नहीं बनती ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ पर श्रुतज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है वहाँ पर प्रथम श्रुतज्ञान उपचार से मतिज्ञान माना गया है। श्रुतज्ञान भी कहीं पर मतिज्ञानरूप से उपचरित किया जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है ऐसा नियम है।

सूत्रमें आये हुए 'भेद' शब्द को दो आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा – दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद। श्रुतज्ञानके दो भेद अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट हैं। अंगबाह्यके दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं। यथा – आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवादके पाँच भेद हैं – परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें-से पूर्वगतके चौदह भेद हैं – उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। इस प्रकार यह श्रुत दो प्रकारका, अनेक प्रकारका और बारहप्रकारका है।

शंका – यह भेद किंकृत है ?

समाधान – यह भेद वक्ताविशेषकृत है। वक्ता तीन प्रकारके हैं – सर्वज्ञ, तीर्थंकर या सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय। इनमें-से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूतिविशेष से युक्त है। इस कारण उन्होंने अर्थरूपसे आगमका उपदेश दिया। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं, इसलिए प्रमाण हैं। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धिके अतिशयरूप ऋद्धिसे युक्त गणधर श्रुतकेवलियोंने अर्थरूप आगमका स्मरण कर अंग और पूर्वग्रन्थोंकी रचना की। सर्वज्ञदेवकी प्रमाणताके कारण ये भी प्रमाण हैं। तथा आरातीय आचार्योंने कालदोषसे जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्योंका उपकार करनेके लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीरसागरका जल घटमें भर लिया जाता है उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए प्रमाण हैं।

परोक्ष प्रमाणका व्याख्यान किया। अब प्रत्यक्ष प्रमाणका व्याख्यान करना है। वह दो प्रकारका है – देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है। सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। यदि ऐसा है तो तीन प्रकारके प्रत्यक्षके आदिमें कहे गये अवधिज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, इसलिए कहते हैं – अवधिज्ञान दो प्रकारका है – भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक। उनमें-से सर्वप्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अगले सूत्र द्वारा कथन करते हैं –

राजवार्तिक :

तत्र येनाग्नेर्निःसरन् पूर्वं धूमो दृष्टः स प्रसिद्धाग्निधूमसंबन्धाहितसंस्कारः पश्चाद्धूमदर्शनाद् 'अस्त्यत्राग्निः' इति पूर्ववदग्निं गृह्णातीति पूर्वदनुमानम्।

= जिसने अग्नि से निकलते हुए धूम को पहिले देखा है, वह व्यक्ति अग्नि और धूम के प्रसिद्ध सम्बन्ध विशेष को जानने के संस्कार से सहित है। वह व्यक्ति पीछे कभी धूम के दर्शन मात्र से 'यहाँ अग्नि है' इस प्रकार पहिले की भाँति अग्नि को ग्रहण कर लेता है। ऐसा पूर्ववत् अनुमान है।

येन पूर्वं विषाणविषाणिनोः संबन्ध उपलब्धः तस्य विषाणरूपदर्शनाद्विषाणिन्यनुमानं शेषवत्।

= जिस व्यक्तिने पहिले कभी सींग व सींगवाले के सम्बन्ध का ज्ञान कर लिया है, उस व्यक्ति को पीछे कभी भी सींग मात्र का दर्शन हो जानेपर सींगवाले का ज्ञान हो जाता है। अथवा उस पशु के एक अवयव को देखनेपर भी शेष अनेक अवयवों सहित सम्पूर्ण पशु का ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह शेषवत् अनुमान है।

देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां दृष्ट्वा संबन्धन्तरे सवितरि देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् गतेरत्यन्तपरोक्षाया अनुमानं सामान्यतोदृष्टम्।

= देवदत्त का देशान्तरमें पहुँचना गतिपूर्वक होता है, यह देखकर सूर्य की देशान्तर प्राप्तिपर से अत्यन्त परोक्ष उसकी गति का अनुमान कर लेना सामान्यतोदृष्ट है।

तदेतल्लितयमपि स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं परप्रतिपत्तिकाले अक्षरश्रुतम्।

= तीनों (पूर्ववत् शेषवत् व सामान्यतोदृष्ट) अनुमान स्वप्रतिपत्ति कालमें अनक्षरश्रुत हैं और पर प्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत हैं।

+ अवधिज्ञान के भेद -

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्॥२१॥

अन्वयार्थ : भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

भव का स्वरूप कहते हैं।

शंका – भव किसे कहते हैं ?

समाधान – आयु नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती हैं उसे **भव** कहते हैं। प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं। जिस अवधिज्ञानके होनेमें भव निमित्त है वह **भवप्रत्यय अवधिज्ञान** है। वह देव और नारकियोंके जानना चाहिए।

शंका – यदि ऐसा है तो इनके अवधिज्ञान के होने में क्षयोपशम की निमित्तता नहीं बनती ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भव के आश्रयसे क्षयोपशमकी सिद्धि हो जाती है ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है ऐसा उपदेश दिया जाता है। जैसे पक्षियोंका आकाशमें गमन करना भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुणकी अपेक्षासे नहीं होता वैसे ही देव और नारकियोंके व्रत नियमादिकके अभावमें भी अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भवनिमित्तक कहते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सबके साधारणरूपसे पाया जाता है, अतः सबके अवधिज्ञान के होने में विशेषता नहीं रहेगी। परन्तु वहाँ पर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा ही जाता है, इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि वहाँ पर अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशम से ही है पर वह क्षयोपशम भव के निमित्तसे प्राप्त होता है अतः उसे 'भवप्रत्यय' कहते हैं। सूत्र में 'देवनारकाणाम्' ऐसा सामान्य वचन होने पर भी इससे सम्यग्दृष्टियों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि सूत्र में 'अवधि' पद का ग्रहण किया है। मिथ्यादृष्टियों का वह विभंगज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान देव और नारकियों में न्यूनाधिक किसके कितना पाया जाता है यह आगमसे जान लेना चाहिए।

यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है तो क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान किसके होता है, आगे इसी बातको बतलाते हैं –

+ क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है? -

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अन्वयार्थ : क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है, जो शेष अर्थात् तिर्यचों और मनुष्यों के होता है ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदय रहते हुए सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम इन दोनोंके निमित्तसे जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है। यह शेष जीवों के जानना चाहिए।

शंका – शेष कौन हैं ?

समाधान – मनुष्य और तिर्यच। उनमें भी जिनके सामर्थ्य है उन्हीं के जानना चाहिए। असंज्ञी और अपर्याप्तकोंके यह सामर्थ्य नहीं है। संज्ञी और पर्याप्तकोंमें भी सबके यह सामर्थ्य नहीं होती।

शंका – तो फिर किनके होती है ?

समाधान – यथोक्त सम्यग्दर्शन आदि निमित्तों के मिलने पर जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है उनके यह सामर्थ्य होती है। अवधिज्ञान मात्र क्षयोपशमके निमित्तसे होता है तो भी सूत्रमें क्षयोपशम पदका ग्रहण यह नियम करनेके लिए किया है कि उक्त जीवोंके मात्र क्षयोपशम निमित्त है भव नहीं। यह अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे छह प्रकारका है। कोई अवधिज्ञान जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे अपने स्वामी का अनुसरण करता है। कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता, किंतु जैसे विमुख हुए पुरुषके प्रश्नके उत्तरस्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता है वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीपर छूट जाता है। कोई अवधिज्ञान जंगलके निर्मथ्यन से उत्पन्न हुई और सूखे पत्तोंसे उपचीयमान ईंधनके समुदाय से वृद्धिको प्राप्त हुई अग्निके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धिरूप परिणामोंके सन्निधानवश जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढ़ता जाता है। कोई अवधिज्ञान परिमित उपादानसन्ततिवाली अग्निशिखाके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी हानिसे हुए संक्लेश परिणामोंके बढ़नेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे मात्र अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण जाननेकी योग्यता होने तक घटता चला जाता है। कोई अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणोंके समानरूपसे स्थिर रहनेके कारण जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है। पर्यायके नाश होने तक या केवलज्ञानके उत्पन्न होने तक शरीरमें स्थित मसा आदि चिह्नके समान न घटता और न बढ़ता है। कोई अवधिज्ञान वायुके वेगसे प्रेरित जलकी तरंगोंके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी कभी वृद्धि और कभी हानि होनेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे बढ़ता है जहाँतक उसे बढ़ना चाहिए और घटता है जहाँतक उसे घटना चाहिए। इस प्रकार अवधिज्ञान छह प्रकारका है।

इस प्रकार अवधिज्ञानका व्याख्यान किया। अब आगे मनःपर्ययज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, अतः उसके भेदोंके साथ लक्षणका कथन करनेकी इच्छासे आगेका सूत्र कहते हैं –

+ मनःपर्यय के भेद -

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

अन्वयार्थ : ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

ऋजु का अर्थ निर्वर्तित और प्रगुण है।

शंका – किससे निर्वर्तित ?

समाधान – दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञान से अनिर्वर्तित । जिसकी मति ऋजु है वह ऋजुमति कहलाता है । विपुल का अर्थ अनिर्वर्तित और कुटिल है ।

शंका – किससे अनिर्वर्तित ?

समाधान – दूसरे के मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञानसे अनिर्वर्तित। जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है। सूत्रमें जो 'ऋजुविपुलमती' पद आया है वह ऋजुमति और विपुलमति इन पदों से समसित होकर बना है । यहाँ एक ही मति शब्द पर्याप्त होनेसे दूसरे मति शब्दका प्रयोग नहीं किया । अथवा ऋजु और विपुल शब्द का कर्मधारय समास करनेके बाद इनका मति शब्दके साथ बहुव्रीहि समास कर लेना चाहिए। तब भी दूसरे मति शब्दकी आवश्यकता नहीं रहती । यह मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है – ऋजुमति और विपुलमति ।

शंका – मनःपर्ययज्ञान के भेद तो कह दिये । अब उसका लक्षण कहना चाहिए ।

समाधान – वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके आलम्बन से आत्मा में जो दूसरे के मन के सम्बन्ध से उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं ।

शंका – यह ज्ञान मन के सम्बन्ध से होता है, अतः इसे मतिज्ञान होने का प्रसंग आता है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि इस शंका का उत्तर पहले दे आये हैं । अर्थात् यहाँ मन की अपेक्षामात्र है । दूसरेके मनमें अवस्थित अर्थ को यह जानता है इतनी मात्र यहाँ मन की अपेक्षा है । इनमें से ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से जीवों के और दो तीन भवों को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट से गति और आगति की अपेक्षा सात-आठ भवों का कथन करता है । क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से गव्यूतिपृथक्त्व और उत्कृष्ट से योजनपृथक्त्व के भीतर की बात जानता है, इससे बाहर की नहीं । विपुलमति काल की अपेक्षा जघन्य से सात-आठ भवों को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट से गति और आगति की अपेक्षा असंख्यात भवों का कथान करता है । क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजन-पृथक्त्व और उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता है, इससे बाहर की बात नहीं जानता ।

पहले मनःपर्ययज्ञानके दो भेद कहे हैं उनका और विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

+ मनःपर्यय के दोनो भेदों में विशेषता -

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

अन्वयार्थ : विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा इन दोनों में अन्तर है ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मामें निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं। गिरने का नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात कहलाता है। उपशान्तकषाय जीव का चारित्र मोहनीय के उदय से संयम शिखर छूट जाता है, जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीव का पतनका कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता। इन दोनों की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में भेद है। विशुद्धि यथा – ऋजुमतिसे विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विशुद्धतर है।

शंका – कैसे ?

समाधान – यहाँ जो कार्मण द्रव्य का अनन्तवाँ भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमतिका विषय है। और इस ऋजुमतिके विषयके अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमतिका विषय है। अनन्त के अनन्त भेद हैं अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा विशुद्धि कही। भावकी अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्यको विषय करनेवाला होनेसे ही जान

लेनी चाहिए, क्योंकि इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम रूप विशुद्धि पायी जाती है, इसलिए ऋजुमति से विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है। अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि इसके स्वामियोंके प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि इसके स्वामियोंके कषायके उदयसे घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।

यदि इस मनःपर्ययज्ञान का अलग-अलग यह भेद है तो अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में किस कारण से भेद है ? अब इसी बात के बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

+ अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में अन्तर -

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

अन्वयार्थ : विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में भेद है ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

विशुद्धि का अर्थ निर्मलता है।

जिस स्थान में स्थित भावों को जानता है वह **क्षेत्र** है।

स्वामी का अर्थ प्रयोक्ता है।

विषय ज्ञेय को कहते हैं।

सो इन दोनों ज्ञानों में अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान विशुद्धितर हैं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानका विषय सूक्ष्म है। क्षेत्रका कथन पहले कर आये हैं। विषयका कथन आगे करेंगे। यहाँ स्वामीका विचार करते हैं – मनःपर्ययज्ञान प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उत्कृष्ट चारित्रगुणसे युक्त जीवोंके ही पाया जाता है। वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्रवाले जीवोंके ही उत्पन्न होता है, घटते हुए चारित्रवाले जीवोंके नहीं। वर्धमान चारित्रवाले जीवोंमें उत्पन्न होता हुआ भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमें-से किसी एक ऋद्धिको प्राप्त हुए जीवोंके ही उत्पन्न होता है, अन्यके नहीं। ऋद्धिप्राप्त जीवोंमें भी किन्हींके ही उत्पन्न होता है, सबके नहीं, इस प्रकार सूत्रमें इसका स्वामीविशेष या विशेष संयमका ग्रहण प्रकृत है। परन्तु अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके होता है, इसलिए स्वामियोंके भेदसे भी इनमें अन्तर है।

अब केवलज्ञानका लक्षण कहनेका अवसर है। किन्तु उसका कथन न कर पहले ज्ञानोंके विषयका विचार करते हैं, क्योंकि केवलज्ञानका लक्षण 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' यहाँ कहेंगे। यदि ऐसा है तो सर्वप्रथम आदिमें आये हुए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका कथन करना चाहिए। इसी बातको ध्यानमें रखकर आगेका सूत्र कहते हैं -

+ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय -

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है ॥२६॥

सर्वार्थसिद्धि :

निबन्ध शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- निबन्धनं निबन्धः - जोड़ना, सम्बन्ध करना।

शंका – किसका सम्बन्ध ? समाधान – विषय का।

शंका – तो सूत्र में विषय पदका ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान – नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषय पद का ग्रहण प्रकरण प्राप्त है।

शंका – कहाँ प्रकरण में आया है ?

समाधान – 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' इस सूत्र में आया है। वहाँ से 'विषय' पद को ग्रहण कर अर्थ के अनुसार उसकी विभक्ति बदल ली है, इसलिए यहाँ षष्ठी विभक्तिके अर्थमें उसका ग्रहण हो जाता है। सूत्रमें 'द्रव्येषु' बहुवचनान्त पदका निर्देश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सब द्रव्योंका संग्रह करनेके लिए किया है। और इन सब द्रव्योंके विशेषणरूपसे 'असर्वपर्यायेषु' पदका ग्रहण किया है। वे सब द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयभावको प्राप्त होते हुए कुछ पर्यायोंके द्वारा ही विषयभावको प्राप्त होते हैं, सब पर्यायोंके द्वारा नहीं और अनन्त पर्यायोंके द्वारा भी नहीं।

शंका – धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय हैं। उनमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'सब द्रव्योंमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है' यह कहना अयुक्त है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अनिन्द्रिय नामका एक करण है। उसके आलम्बनसे नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धिपूर्वक अवग्रह आदिरूप उपयोग पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अतः तत्पूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान अपने योग्य इन विषयोंमें व्यापार करता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके अनन्तर निर्देशके योग्य अवधिज्ञानका विषय क्या है आगे सूत्र द्वारा इसी बातको बतलाते हैं –

+ अवधिज्ञान का विषय -

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

अन्वयार्थ : अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके अनन्तर निर्देशके योग्य अवधिज्ञानका विषय क्या है आगे सूत्र द्वारा इसी बातको बतलाते हैं –
पिछले सूत्र से 'विषयनिबन्धः' पदकी अनुवृत्ति होती है। 'रूपिषु' पद-द्वारा पुद्गलों और पुद्गलोंमें बद्ध जीवोंका ग्रहण होता है।
इस सूत्र द्वारा 'रूपी पदार्थों में ही अवधिज्ञान का विषय सम्बन्ध है, अरूपी पदार्थों में नहीं' यह नियम किया गया है। रूपी पदार्थों में होता हुआ भी उनकी सब पर्यायोंमें नहीं होता, किन्तु स्वयोग्य पर्यायोंमें ही होता है इस प्रकारका निश्चय करनेके लिए 'असर्वपर्यायेषु' पदका सम्बन्ध होता है।

अब इसके अनन्तर निर्देशके योग्य मनःपर्ययज्ञानका विषयसम्बन्ध क्या है इस बात के बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

+ मनःपर्यय ज्ञान का विषय -

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

अन्वयार्थ : मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है ॥२८॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके अनन्त भाग करने पर उसके एक भाग में मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है।

अब अन्तमें जो केवलज्ञान कहा है उसका विषय क्या है यह बतलानेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

+ केवल ज्ञान का विषय -

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अन्वयार्थ : केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है ॥२९॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में आये हुए द्रव्य और पर्याय इन दोनों पदोंका इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है। तथा इन दोनोंके विशेषरूपसे आये हुए 'सर्व' पदको द्रव्य और पर्याय इन दोनोंके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा – सब द्रव्योंमें और सब पर्यायोंमें। जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं। पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुणे हैं। जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन हैं और काल असंख्यात हैं। इन सब द्रव्योंकी पृथक्-पृथक् तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्यायसमूह है जो केवलज्ञानके विषयके परे हो। केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है इसी बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' पद कहा है।

मत्यादिकके विषयसम्बन्ध का निश्चय किया, किन्तु यह न जान सके कि एक आत्मामें एक साथ अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेपर कितने ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

+ एक जीव में एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं? -

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

अन्वयार्थ : एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक भजना से होते हैं ॥३०॥

सर्वार्थसिद्धि :

'एक' शब्द संख्यावाची है और 'आदि' शब्द अवयववाची है। जिनका आदि एक है वे एकादि कहलाते हैं। 'भाज्यानि' का अर्थ 'विभाग करना चाहिए' होता है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मामें एक साथ एक ज्ञानसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं

। यथा - यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है । उसके साथ दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते । दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं । तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं । तथा चार होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं । एक साथ पाँच ज्ञान नहीं होते, क्योंकि केवलज्ञान असहाय है ।

अब यथोक्त मत्यादिक ज्ञान व्यपदेशको ही प्राप्त होते हैं । या अन्यथा भी होते हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र है -

राजवार्तिक :

एते हि मतिश्रुते सर्वकालभव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत् ।(४/९०/२६)। एकस्मिन्नात्मन्येकं केवलज्ञानं क्षायिकत्वात् । (१०/९१/२४)। एकस्मिन्नात्मनि द्वे मतिश्रुते। क्वचित् त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा क्वचिच्चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्चैकस्मिन् युगपद् संभवन्ति।(९/९१/१७)।

एक साथ एक आत्मा में एक से लगाकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं ।

एक शब्द के संख्या, भिन्नता, अकेलापन, प्रथम, प्रधान, आदि अनेक अर्थ हैं पर यहाँ 'प्रथम' अर्थ विवक्षित है ॥१॥

आदि शब्द के भी व्यवस्था, प्रकार, सामीप्य, अवयव, आदि अनेक अर्थ हैं, यहाँ अवयव अर्थ की विवक्षा है । अर्थात् एक-प्रथम परोक्ष-ज्ञान का आदि-अवयव मतिज्ञान । अथवा, आदि शब्द समीपार्थक है । इसका अर्थ है मति-ज्ञान का आदि-समीप-श्रुतज्ञान ॥२-३॥

प्रश्न – यदि मतिज्ञान का समीप 'श्रुतज्ञान' आदि शब्द से लिया जाता है तो इसमें मति-ज्ञान छूट जायगा ?

उत्तर – चूँकि मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी हैं, नारद-पर्वत की तरह एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते अतः एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो ही जाता है ॥४॥

जैसे 'ऊँट के मुख की तरह मुख है जिसका वह उष्ट्रमुख' इस बहुव्रीहि समास में एक मुख शब्द का लोप हो गया है उसी तरह 'एकादि हैं आदि में जिनके वे एकादीनि' यहाँ भी एक आदि शब्द का लोप हो जाता है । अवयव से विग्रह होता है और समुदाय समास का अर्थ होता है । इससे एक को आदि को लेकर चार तक विभाग करना चाहिए; क्योंकि केवल-ज्ञान असहाय है उसे किसी अन्य ज्ञान की सहायता की अपेक्षा नहीं है जब कि क्षयोपशमिक मति आदि चार ज्ञान सहायतार्थ अपेक्षा रखते हैं अतः केवलज्ञान अकेला ही होता है उसके साथ अन्य ज्ञान नहीं रह सकते ॥५-७॥

प्रश्न – केवलज्ञान होने पर अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव नहीं होता, किन्तु वे दिन में तारागणों की तरह विद्यमान रहकर भी अभिभूत हो जाते हैं और अपना कार्य नहीं करते ?

उत्तर – केवलज्ञान चूँकि क्षायिक और परम विशुद्ध है अतः सकलज्ञानावरण का विनाश होने पर केवली में ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाले ज्ञानों की संभावना कैसे हो सकती है ? सर्वशुद्धि की प्राप्ति हो जाने पर लेशतः अशुद्धि की कल्पना ही नहीं हो सकती । आगम में असंज्ञी पंचेंद्रिय से अयोगकेवलि तक जो पंचेंद्रिय गिनाए हैं वहाँ द्रव्येन्द्रियों की विवक्षा है ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियों की नहीं । यदि भावेन्द्रियाँ विवक्षित होती तो ज्ञानावरण का सद्भाव होने से सर्वज्ञता ही नहीं हो सकती । अतः एक आत्मा में दो ज्ञान मति और श्रुत, तीन ज्ञान मति - श्रुत - अवधि या मति - श्रुत - मनःपर्यय, चार

ज्ञान मति - श्रुत - अवधि और मनःपर्यय होंगे, पाँच एक साथ नहीं होंगे । अथवा, एक शब्द को संख्यावाची मानकर अकेला मतिज्ञान भी एक हो सकता है क्योंकि जो अंगप्रविष्ट आदि रूप श्रुतज्ञान है वह हर एक को हो भी न भी हो । अथवा, संख्या असहाय और प्राधान्यवाची एक शब्द को मानकर अकेला असहाय और प्रधान केवलज्ञान एक होगा दो मति श्रुत आदि ॥ ८-९॥

मति श्रुत अवधि विपर्यय भी होते हैं -

+ कौन-कौन से ज्ञान मिथ्या भी होते हैं? -

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

अन्वयार्थ : मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय भी हैं ॥३१॥

सर्वार्थसिद्धि :

विपर्यय का अर्थ मिथ्या है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का अधिकार है । 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थ में आया है । इससे यह अर्थ होता है कि मति, श्रुत और अवधि विपर्यय भी हैं और समीचीन भी ।

शंका – ये विपर्यय किस कारण से होते हैं ?

समाधान – क्योंकि मिथ्यादर्शन के साथ एक आत्मा में इनका समवाय पाया जाता है । जिस प्रकार रज सहित कड़वी तूंबड़ी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के निमित्त से ये विपर्यय होते हैं । कड़वी तूंबड़ी के आधारके दोषसे दूधका रस मीठेसे कड़वा हो जाता है - यह स्पष्ट है, किन्तु उस प्रकार मत्यादि ज्ञानों की विषय के ग्रहण करनेमें विपरीतता नहीं मालूम होती । खुलासा इस प्रकार है - जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदिके द्वारा रूपादिक पदार्थों

को ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी मत्याज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको ग्रहण करता है । जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुत के द्वारा रूपादिक पदार्थों को जानता है और उनका निरूपण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुतज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थों को जानता है और उनका निरूपण करता है । जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभंग ज्ञान के द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है । यह एक प्रश्न है जिसका समाधान करने के लिए अगला सूत्र कहते हैं ।

+ मिथ्यादृष्टि के ज्ञानों को मिथ्या क्यों कहा जाता है? -

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

अन्वयार्थ : वास्तविक और अवास्तविक के अन्तर के बिना यदृच्छोपलब्धि (जब जैसा जी में आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान हो जाता है ॥३२॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्रकृत में 'सत्' का अर्थ विद्यमान और 'असत्' का अर्थ अविद्यमान है । इनकी विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करने से विपर्यय होता है । कदाचित् रूपादिक विद्यमान हैं तो भी उन्हें अविद्यमान कहता है । और कदाचित् अविद्यमान वस्तु को भी विद्यमान कहता है । कदाचित् सत् को सत् और असत् को असत् ही मानता है । यह सब निश्चय मिथ्यादर्शन के उदयसे होता है । जैसे पित्त के उदय से आकुलित बुद्धिवाला मनुष्य माता को भार्या और भार्या को माता मानता है । जब अपनी इच्छा की लहरके अनुसार माता को माता और भार्या को भार्या ही मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है इसी प्रकार मत्यादिक का भी रूपादिक में विपर्यय जानना चाहिए । खुलासा इस प्रकार है - आत्मा में स्थित कोई मिथ्यादर्शन-रूप परिणाम रूपादिक की उपलब्धि होने पर भी कारण विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास को उत्पन्न करता रहता है ।

कारणविपर्यास यथा - कोई मानते हैं कि रूपादिक का एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है । कोई मानते हैं कि पृथिवी जाति के परमाणु अलग हैं जो चार गुणवाले हैं । जल जाति के परमाणु अलग हैं जो तीन गुणवाले हैं । अग्नि जाति के परमाणु अलग हैं जो दो गुणवाले हैं और वायु जाति के परमाणु अलग हैं जो एक गुणवाले हैं । तथा ये परमाणु अपने समान जातीय कार्य को ही उत्पन्न करते हैं । कोई कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत हैं और इन भूतों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं । इन सब के समुदाय को एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं । कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रम से काठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणत्वादि गुणवाले अलग-अलग जाति के परमाणु होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं ।

भेदाभेदविपर्यास यथा - कारण से कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना ।

स्वरूपविपर्यास यथा - रूपादिक निर्विकल्प हैं, या रूपादिक हैं ही नहीं, या रूपादिक के आकाररूप से परिणत हुआ विज्ञान ही है उसका आलम्बन-भूत और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है । इसीप्रकार मिथ्यादर्शन के उदय से ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं और उनमें श्रद्धान् उत्पन्न करते हैं । इसलिए इनका यह ज्ञान मत्याज्ञान, श्रुताज्ञान या विभंगज्ञान होता है । किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के ज्ञान में श्रद्धान् उत्पन्न करता है, अतः इस प्रकार का ज्ञान मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान और अवधि-ज्ञान होता है ।

दो प्रकारके प्रमाणका वर्णन किया । प्रमाणके एकदेशको नय कहते हैं । इनका कथन प्रमाणके अनन्तर करना चाहिए, अतः आगेका सूत्र कहते हैं -

+ नय के भेद -

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

अन्वयार्थ : नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं ॥३३॥

सर्वार्थसिद्धि :

इनका सामान्य और विशेष लक्षण कहना चाहिए । सामान्य लक्षण - अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थताके प्राप्त करानेमें समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं । इसके दो भेद हैं - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है और इसको विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है । तथा पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है । इन दोनों नयों के उत्तर भेद नैगमादिक हैं ।

अब इनका विशेष लक्षण कहते हैं - अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाला नय **नैगम** है । यथा - हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है आप किस काम के लिए जा रहे हैं । वह कहता है प्रस्थ

लाने के लिए जा रहा हूँ। उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल उसके बनाने का संकल्प होने से उसमें प्रस्थ व्यवहार किया गया है। तथा ईधन और जल आदि के लाने में लगे हुए किसी पुरुष से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं? उसने कहा भात पका रहा हूँ। उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल भात के लिए किये गये व्यापार में भात का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार का जितना लोक-व्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के आलम्बन से संकल्प-मात्र को विषय करता है वह सब नैगम नय का विषय है।

भेदसहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध-द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करनेवाला नय **संग्रहनय** है। यथा - सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहने पर सत् इस प्रकारके वचन और विज्ञान की अनुवृत्ति-रूप लिंग से अनुमित सत्ता के आधार-भूत सब पदार्थों का सामान्य-रूप से संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहनेपर भी 'उन-उन पर्यायोंको द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-प्रभेदों का संग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहने पर भी घट इस प्रकार की बुद्धि और घट इस प्रकार के शब्द की अनुवृत्ति-रूप लिंग से अनुमित सब घट पदार्थों का संग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी संग्रह नय का विषय है।

संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंका विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना **व्यवहार नय** है।

शंका – विधि क्या है ?

समाधान – जो संग्रह नयके द्वारा गृहीत अर्थ है उसीके आनुपूर्वी क्रमसे व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है। यथा - सर्वसंग्रह नय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है वह अपने उत्तर भेदों के बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए व्यवहार नय का आश्रय लिया जाता है। यथा - जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण। इसी प्रकार संग्रह नय का विषय जो द्रव्य है वह जीव अजीव विशेष की अपेक्षा किये बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय लिया जाता है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रह नय के विषय रहते हैं तब तक वे व्यवहार कराने में असमर्थ हैं, इसलिए व्यवहार से जीव द्रव्य के देव, नारकी आदिरूप और अजीव द्रव्यके घटादि-रूप भेदों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति वहीं तक होती है जहाँ तक वस्तु में फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता।

ऋजु का अर्थ प्रगुण है। जो ऋजु अर्थात् सरल को सूत्रित करता है अर्थात् स्वीकार करता है वह **ऋजुसूत्र नय** है। यह नय पहले हुए और पश्चात् होने वाले तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमान काल के विषय-भूत पदार्थों को ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत के विनष्ट और अनागत के अनुत्पन्न होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। वह वर्तमान काल समयमात्र है और उसके विषय-भूत पर्याय-मात्र को विषय करने वाला यह ऋजुसूत्र-नय है।

शंका – इस तरह संव्यवहार के लोपका प्रसंग आता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि यहाँ इस नय का विषयमात्र दिखलाया है, लोक संव्यवहार तो सब नयों के समूह का कार्य है। लिंग, संख्या और साधन आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला **शब्दनय** है। लिंगव्यभिचार यथा - पुष्य, तारका और नक्षत्र। ये भिन्न-भिन्न लिंगके शब्द हैं। इनका मिलाकर प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है। संख्याव्यभिचार यथा - 'जलं आपः, वर्षाः ऋतुः, आम्रा वनम्, वरणाः नगरम्' ये एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्द हैं। इनका विशेषण-विशेष्य-रूप से प्रयोग करना संख्या-व्यभिचार है। साधनव्यभिचार यथा - 'सेना पर्वतमधिवसति' सेना पर्वतपर है। यहाँ अधिकरण कारक के अर्थ में सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है, इसलिए यह साधन-व्यभिचार है। पुरुष-व्यभिचार यथा - 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' = आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊँगा, नहीं जाओगे। तुम्हारे पिता गये। यहाँ 'मन्यसे' के स्थान में 'मन्ये' और 'यास्यामि' के स्थान में 'यास्यसि' क्रिया का प्रयोग किया गया है, इसलिए यह पुरुष-व्यभिचार है। काल-व्यभिचार यथा - 'विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता' = इसका विश्वदृश्या पुत्र होगा। यहाँ 'विश्वदृश्या' कर्ता रखकर 'जनिता' क्रियाका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह काल-व्यभिचार है। अथवा, 'भाविकृत्यमासीत्' = होनेवाला कार्य हो गया। यहाँ होने-वाले कार्य को हो गया बतलाया गया है, इसलिए यह काल-व्यभिचार है। उपग्रह-व्यभिचार यथा - 'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति।' यहाँ 'सम्' और 'प्र' उपसर्ग के कारण 'स्था' धातु का आत्मनेपद प्रयोग तथा 'वि' और 'उप' उपसर्ग के कारण 'रम्' धातु का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है, इसलिए यह उपग्रह-व्यभिचार है। यद्यपि व्यवहार में ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि इस प्रकार के व्यवहार को शब्द-नय अनुचित मानता है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अन्य अर्थ का अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता।

शंका – इससे लोकसमय का (व्याकरण शास्त्रका) विरोध होता है।

समाधान – यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तत्त्व की मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ पीड़ित पुरुष की इच्छा का अनुकरण करनेवाली नहीं होती।

नाना अर्थों का समभिरोहण करनेवाला होनेसे **समभिरूढ़ नय** कहलाता है। चूँकि जो नाना अर्थों को 'सम्' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़ नय है। उदाहरणार्थ - 'गो' इस शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह 'पशु' इस अर्थ में रूढ़ है। अथवा अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी हालत में एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है, इसलिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दों में भेद है तो अर्थ-भेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ़ नय कहलाता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होनेसे इनके अर्थ भी तीन हैं। इन्द्रका अर्थ आज्ञा ऐश्वर्यवान् है शक्र का अर्थ समर्थ है और पुरन्दर का अर्थ नगर का दारण करनेवाला है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। अथवा जो जहाँ अभिरूढ़ है वह वहाँ 'सम्' अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ़ होने के कारण समभिरूढ़ नय कहलाता है। यथा - आप कहाँ रहते हैं? अपने में, क्योंकि अन्य वस्तु की अन्य वस्तु में वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्य की अन्य में वृत्ति होती है ऐसा

माना जाय तो ज्ञानादिक की ओर रूपादिक की आकाश में वृत्ति होने लगे । जो वस्तु जिस पर्यायको प्राप्त हुई है उसीरूप निश्चय करानेवाले नयको **एवंभूत नय** कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्दका जो वाच्य है उसरूप क्रियाके परिणमनके समय ही उस शब्दका प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयमें नहीं। जभी आज्ञा ऐश्वर्यवाला हो तभी इन्द्र है, अभिषेक करनेवाला नहीं और न पूजा करनेवाला ही । जब गमन करती हो तभी गाय है, बैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही । अथवा जिसरूपसे अर्थात् जिस ज्ञानसे आत्मा परिणत हो उसी रूपसे उसका निश्चय करनेवाला नय एवंभूत नय है । यथा - इन्द्ररूप ज्ञानसे परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञानसे परिणत आत्मा अग्नि है । ये नैगमादिक नय कहे । उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले होने के कारण इनका यह क्रम कहा है । पूर्व-पूर्व नय आगे-आगे के नय का हेतु है, इसलिए भी यह क्रम कहा है । इस प्रकार ये नय पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले हैं । द्रव्य की अनन्त शक्ति है, इसलिए प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर ये अनेक विकल्प-वाले हो जाते हैं । ये सब नय गौण-मुख्य रूप से एक दूसरे की अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शन के हेतु हैं । जिस प्रकार पुरुष की अर्थ-क्रिया और साधनों की सामर्थ्य-वश यथा-योग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक पट आदिक संज्ञा को प्राप्त होते हैं और स्वतन्त्र रहने पर कार्यकारी नहीं होते उसी प्रकार ये नय समझने चाहिए ।

शंका – प्रकृत में 'तन्त्वादय इव' विषम दृष्टान्त है; क्योंकि तन्तु आदिक निरपेक्ष रहकर भी किसी न किसी कार्यको जन्म देते ही हैं। देखते हैं कि कोई एक तन्तु त्वचाकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं और एक वल्कल किसी वस्तुको बाँधनेमें समर्थ है। किन्तु ये नय निरपेक्ष रहते हुए थोड़ा भी सम्यग्दर्शनरूप कार्यको नहीं पैदा कर सकते हैं ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो कुछ कहा गया है उसे समझे नहीं। कहे गये अर्थको समझे बिना दूसरेने यह उपालम्भ दिया है । हमने यह कहा है कि निरपेक्ष तन्तु आदिमें पटादि कार्य नहीं पाया जाता। किन्तु शंकाकारने जिसका निर्देश किया है वह पटादिका कार्य नहीं है ।

शंका – तो वह क्या है ?

समाधान – केवल तन्तु आदि का कार्य है। तन्तु आदि का कार्य भी सर्वथा निरपेक्ष तन्तु आदिके अवयवोंमें नहीं पाया जाता, इसलिए इससे हमारे पक्षका ही समर्थन होता है। यदि यह कहा जाय कि तन्तु आदिमें पटादि कार्य शक्तिकी अपेक्षा है ही तो यह बात बुद्धि और अभिधान - शब्दरूप निरपेक्ष नयोंके विषयमें भी जानना चाहिए । उनमें भी ऐसी शक्ति पायी जाती है जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शनके हेतुरूपसे परिणमन करनेमें समर्थ हैं, इसलिए दृष्टान्त का दार्ष्टान्तसे साम्य ही है । इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामावली तत्त्वार्थवृत्ति में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

अधिकार-२ (जीवाधिकार)

+ जीव के परिणामों (भावों) के प्रकार -

**औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥**

अन्वयार्थ : औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

सम्यग्दर्शन के विषय-रूप से जीवादि पदार्थों का कथन किया । उनके आदि में जो जीव पदार्थ आया है उसका स्वतत्त्व क्या है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

जैसे कतक आदि द्रव्य के सम्बन्ध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारण-वश से प्रकट न होना उपशम है । जैसे उसी जल को दूसरे साफ बर्तन में बदल देने पर कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है वैसे ही कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है । जिस प्रकार उसी जल में कतकादि द्रव्य के सम्बन्ध से कुछ कीचड़ का अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है उसी प्रकार उभयरूप भाव मिश्र है । द्रव्यादि निमित्त के वश से

कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय है। और जिनके होने में द्रव्य का स्वरूप-लाभ मात्र कारण है, वह परिणाम है। जिस भाव का प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपशमिक भाव है। इसी प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावोंकी व्युत्पत्ति कहनी चाहिए। ये पाँच भाव असाधारण हैं, इसलिए जीवके स्वतत्त्व कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन का प्रकरण होने से उसके तीन भेदों में से सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है अतएव औपशमिक भाव को आदि में ग्रहण किया है। क्षायिक भाव औपशमिक भाव का प्रतियोगी है और संसारी जीवों की अपेक्षा औपशमिक सम्यग्दृष्टियों से क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं अतः औपशमिक भाव के पश्चात् क्षायिक भाव को ग्रहण किया है। मिश्र-भाव इन दोनों-रूप होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से असंख्यातगुणे होते हैं, अतः तत्पश्चात् मिश्र-भाव को ग्रहण किया है। इन सबसे अनन्तगुणे होने के कारण इन सब के अन्त में औदयिक और पारिणामिक भावों को रखा है।

शंका – यहाँ 'औपशमिकक्षायिकमिश्रऔदयिकपारिणामिकाः' इस प्रकार द्वन्द्व समास करना चाहिए। ऐसा करनेसे सूत्रमें दो 'च' शब्द नहीं रखने पड़ते हैं।

समाधान – ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सूत्र में यदि 'च' शब्द न रखकर द्वन्द्व समास करते तो मिश्र की प्रतीति अन्य गुण की अपेक्षा होती। किन्तु वाक्य में 'च' शब्दके रहने पर उससे प्रकरण में आये हुए औपशमिक और क्षायिक भाव का अनुकर्षण हो जाता है।

शंका – तो फिर सूत्र में 'क्षायोपशमिक' पद का ही ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान – नहीं, क्योंकि क्षायोपशमिक पद के ग्रहण करने में गौरव है; अतः इस दोष को दूर करने के लिए क्षायोपशमिक पदका ग्रहण न करके मिश्र पद रखा है। दोनों की अपेक्षा से मिश्र पद मध्य में रखा है। औपशमिक और क्षायिक-भाव भव्य के ही होते हैं। किन्तु मिश्र-भाव अभव्य के भी होता है। तथा औदयिक और पारिणामिक भावों के साथ भव्य के भी होता है।

शंका – भावों के लिंग और संख्या के समान स्वतत्त्व पद का वही लिंग और संख्या प्राप्त होती है।

समाधान – नहीं, क्योंकि जिस पद को जो लिंग और संख्या प्राप्त हो गयी है उसका वही लिंग और संख्या बनी रहती है। स्वतत्त्व का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम् - जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है और स्व तत्त्व स्वतत्त्व है।

उस एक आत्मा के जो औपशमिक आदि भाव हैं, उनके कोई भेद हैं या नहीं ? भेद हैं। यदि ऐसा है तो इनके भेदों का कथन करना चाहिए, इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ परिणामों (भावों) के उत्तर-भेद -

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

अन्वयार्थ : उक्त पाँच भावों के क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

संख्यावाची दो आदि शब्दों का द्वन्द्व समास करके पश्चात् उनका भेद शब्द के साथ स्वपदार्थ में या अन्यपदार्थ में समास जानना चाहिए। जब स्वपदार्थ में समास करते हैं तब औपशमिक आदि भावों के दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेते हैं। यद्यपि पूर्व सूत्र में औपशमिक आदि पद की षष्ठी विभक्ति नहीं है तो भी अर्थवश विभक्ति बदल जाती है। और जब अन्य पदार्थों में समास करते हैं तब विभक्ति बदलने का कोई कारण नहीं रहता। सूत्र में इनकी विभक्ति का जिस प्रकार निर्देश किया है तदनुसार सम्बन्ध हो जाता है। सूत्रमें 'यथाक्रम' वचन यथासंख्या के ज्ञान कराने के लिए दिया है। तथा - औपशमिक भाव के दो भेद हैं, क्षायिक के नौ भेद हैं, मिश्र के अठारह भेद हैं, औदयिक के इक्कीस भेद हैं और पारिणामिक के तीन भेद हैं।

यदि ऐसा है तो औपशमिक के दो भेद कौन-से हैं ? इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ औपशमिकभाव के भेद -

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

अन्वयार्थ : औपशमिक भाव के दो भेद हैं - औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

सम्यक्त्व और चारित्र के लक्षण का व्याख्यान पहले कर आये हैं।

शंका – इनके औपशमिकपना किस कारण से है ?

समाधान – चारित्र-मोहनीय के दो भेद हैं - कषाय-वेदनीय और नोकषाय-वेदनीय। इनमें-से कषाय-वेदनीय के

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद और दर्शन-मोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद - इन सात के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है ।

शंका – अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य के कर्मों के उदय से प्राप्त कलुषता के रहते हुए इन का उपशम कैसे होता है ?

समाधान – काल-लब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है । अब यहाँ काल-लब्धि को बतलाते हैं - कर्म-युक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है, इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता यह एक काल-लब्धि है । दूसरी काल-लब्धि का सम्बन्ध कर्म स्थिति से है । उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता ।

शंका – तो फिर किस अवस्थामें होता है ?

समाधान – जब बँधने वाले कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागरोपम कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है । एक काल-लब्धि भव की अपेक्षा होती है - जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व-विशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है । 'आदि' शब्द से जातिस्मरण आदि का ग्रहण करना चाहिए ।

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है । इनमें से 'सम्यक्त्व' पद को आदि में रखा है, क्योंकि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक होता है ।

जो क्षायिक-भाव नौ प्रकार का कहा है उसके भेदों के स्वरूप का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ क्षायिकभाव के भेद -

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

अन्वयार्थ : क्षायिक भाव के नौ भेद हैं - क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'च' शब्द सम्यक्त्व और चारित्र के ग्रहण करने के लिए आया है ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक केवलज्ञान होता है । इसी प्रकार केवलदर्शन भी होता है । दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है । समस्त लाभान्तराय कर्म के क्षय के कवलहार क्रिया से रहित केवलियों के क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीर को बल प्रदान करने में कारण-भूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होने वाले, परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं । समस्त भोगान्तराय कर्म के क्षय से अतिशयवाले क्षायिक अनन्त भोग का प्रादुर्भाव होता है । जिससे कुसुम-वृष्टि आदि अतिशय विशेष होते हैं । समस्त उपभोगान्तराय के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है । जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं । वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक अनन्त-वीर्य प्रकट होता है पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक सम्यक्त्व होता है । इसी प्रकार क्षायिक चारित्र का स्वरूप समझना चाहिए ।

शंका – यदि क्षायिक दान आदि भावों के निमित्त से अभयदान आदि कार्य होते हैं तो सिद्धों में भी उनका प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इन अभय-दान आदिके होने में शरीर नाम-कर्म और तीर्थकर नामकर्म के उदयकी अपेक्षा रहती है । परन्तु सिद्धों के शरीर नाम-कर्म और तीर्थकर नाम-कर्म नहीं होते, अतः उनके अभय-दान आदि प्राप्त नहीं होते ।

शंका – तो सिद्धों के क्षायिक दान आदि भावों का सद्भाव कैसे माना जाय ?

समाधान – जिस प्रकार सिद्धों के केवलज्ञान रूप से अनन्तवीर्य का सद्भाव माना गया है उसी प्रकार परमानन्द और अव्याबाध रूप से ही उनका सिद्धों के सद्भाव है ।

जो अठारह प्रकार का क्षायोपशमिक भाव कहा है उसके भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ क्षायोपशमिक भाव के भेद -

ज्ञानाज्ञानदर्शन लब्धयश्चतुस्त्रि पञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्र संयमासंयमाश्च ॥५॥

अन्वयार्थ : क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं - चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनके चार, तीन, तीन और पाँच भेद हैं वे चार, तीन, तीन और पाँच भेदवाले कहलाते हैं। इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' पद की अनुवृत्ति होती है, जिससे चार आदि पदों के साथ ज्ञान आदि पदों का क्रम से सम्बन्ध होता है। यथा - चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन और पाँच लब्धियाँ। वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने से देशघाती स्पर्द्धकों का उदय रहते हुए **क्षायोपशमिक भाव** होता है। इन पूर्वोक्त भावोंमें-से ज्ञान आदि भाव अपने-अपने आवरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं ऐसा व्याख्यान यहाँ कर लेना चाहिए। सूत्र में आये हुए सम्यक्त्व-पद से वेदक सम्यक्त्व लेना चाहिए। तात्पर्य यह है -- चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्था-रूप उपशम से देशघाती स्पर्द्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा चार संज्वलनों में-से किसी एक देशघाती प्रकृति के उदय होने पर और नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो संसार से पूरी निवृत्तिरूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय होने से और सदवस्थारूप उपशम होने से तथा नौ नोकषायों के यथासम्भव उदय होने पर जो विरताविरत-रूप परिणाम होता है वह संयमा-संयम कहलाता है।

अब जो इक्कीस प्रकारका औदयिक भाव कहा है उसके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

+ पारिणामिक भाव के भेद -

गतिकषायलिंग-

मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैक- षड्भेदाः ॥६॥

अन्वयार्थ : औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं - चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध है।

गति चार प्रकार की है - नरक-गति, तिर्यच-गति, मनुष्य-गति और देव-गति। इनमें-से नरक गति नाम-कर्म के उदय से नारक-भाव होता है, इसलिए नरक-गति औदयिक है। इसी प्रकार शेष तीन गतियों का भी अर्थ करना चाहिए।

कषाय चार प्रकारका है - क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें-से क्रोधको पैदा करने वाले कर्म के उदय से क्रोध औदयिक होता है। इसी प्रकार शेष तीन कषायों को औदयिक जानना चाहिए।

लिंग तीन प्रकार का है - स्त्री-वेद, पुरुष-वेद और नपुंसक-वेद। स्त्री-वेद कर्म के उदय से स्त्री-वेद औदयिक होता है। इसी प्रकार शेष दो वेद औदयिक हैं। मिथ्यादर्शन एक प्रकार का है। मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान-रूप परिणाम होता है वह मिथ्यादर्शन है, इसलिए वह औदयिक है।

पदार्थों के नहीं जानने को अज्ञान कहते हैं। चूँकि वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है, इसलिए औदयिक है।

असंयतभाव चारित्र-मोहनीय कर्म के सर्वघाती-स्पर्द्धकों के उदय से होता है, इसलिए औदयिक है।

असिद्धभाव कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा होता है, इसलिए औदयिक है।

लेश्या दो प्रकार की है - द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या। यहाँ जीव के भावों का अधिकार होने से द्रव्य-लेश्या नहीं ली गयी है। चूँकि भावलेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति-रूप है, इसलिए वह औदयिक है ऐसा कहा जाता है। वह छह प्रकार की है - कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या, पीत-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या।

शंका - उपशान्त-कषाय, क्षीण-कषाय और सयोग-केवली गुणस्थान में शुक्ल-लेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँ पर कषाय का उदय नहीं है इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता।

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योग-प्रवृत्ति कषायों के उदय से अनुरंजित होती रही वही यह है इस प्रकार पूर्वभाव-प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में भी लेश्या को औदयिक कहा गया है। किन्तु अयोग-केवली के योगप्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए वे लेश्या-रहित हैं ऐसा निश्चय होता है।

अब जो तीन प्रकार का पारिणामिक भाव कहा है उसके भेदों के स्वरूप का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

+ लक्षण के भेद -

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

अन्वयार्थ : पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं - जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव अन्य द्रव्यों में नहीं होते इसलिए ये आत्मा के जानने चाहिए ।

शंका – ये पारिणामिक क्यों हैं ?

समाधान – ये तीनों भाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं, इसलिए पारिणामिक हैं । जीवत्व का अर्थ चैतन्य है । जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है । वह भव्य कहलाता है । अभव्य इसका उलटा है । ये तीनों जीव के पारिणामिक भाव हैं ।

शंका – अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी भाव हैं उनका इस सूत्र में ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान – अलग से उनके ग्रहण करने का कोई काम नहीं; क्योंकि उनका ग्रहण किया ही है ।

शंका – कैसे ?

समाधान – क्योंकि सूत्र में आये हुए 'च' शब्द से उनका समुच्चय हो जाता है ।

शंका – यदि ऐसा है तो 'तीन' संख्या विरोध को प्राप्त होती है, क्योंकि इस प्रकार तीन से अधिक पारिणामिक भाव हो जाते हैं ?

समाधान – तब भी 'तीन' यह संख्या विरोध को नहीं प्राप्त होती, क्योंकि जीव के असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं । अस्तित्वादिक तो जीव और अजीव दोनों के साधारण हैं इसलिए उनका 'च' शब्दके द्वारा अलगसे ग्रहण किया है ।

शंका – औपशमिक आदि भाव नहीं बन सकते; क्योंकि आत्मा अमूर्त है । ये औपशमिक आदि भाव कर्मबन्ध की अपेक्षा होते हैं परन्तु अमूर्त आत्मा के कर्मों का बन्ध नहीं बनता है ?

समाधान – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के अमूर्तत्व के विषय में अनेकान्त है । यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्त ही है । कर्म-बन्ध-रूप पर्याय की अपेक्षा उसका आवेश होने के कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है ।

शंका – यदि ऐसा है तो कर्म-बन्ध के आवेश से आत्मा का ऐक्य हो जाने पर आत्मा का उससे भेद नहीं रहता ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यद्यपि बन्ध की अपेक्षा अभेद है तो भी लक्षण के भेद से कर्म से आत्मा का भेद जाना जाता है । कहा भी है - 'आत्मा बन्ध की अपेक्षा एक है तो भी लक्षण की अपेक्षा वह भिन्न है । इसलिए जीव का अमूर्तिक-भाव अनेकान्त-रूप है । वह एक अपेक्षा से है और एक अपेक्षा से नहीं है ।'

यदि ऐसा है तो वही लक्षण कहिए जिससे कर्म से आत्मा का भेद जाना जाता है, इसी बात को ध्यान में रखकर आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

अन्यत्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां परस्परतोऽन्यत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् ।

= एक द्रव्य दूसरेसे भिन्न होता है, अतः अन्यत्व भी सर्वसाधारण है । कर्मोदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेके कारण, यह पारिणामिक भाव है, अर्थात् स्वभावसे ही सबमें पाया जाता है ।

योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यस्रावभव्य एवेति चेत्; न; भव्यराश्यन्तर्भावात् । १ । ... यथा योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकी भविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्वं हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः । = प्रश्न-जो भव्य अनन्त काल में भी सिद्ध न होगा वह तो अभव्य के तुल्य ही है । उत्तर-नहीं, वह अभव्य नहीं है, क्योंकि उस में भव्यत्व शक्ति है । जैसे कि कनक पाषाण को जो कभी भी सोना नहीं बनेगा अन्धपाषाण नहीं कह सकते अथवा उस आगामी काल को जो अनन्त काल में भी नहीं आयेगा अनागामी नहीं कह सकते उसी तरह सिद्धि न होने पर भी भव्यत्व शक्ति होने के कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते । वह भव्य राशि में ही शामिल है ।

+ उपयोग के भेद -

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अन्वयार्थ : उपयोग जीव का लक्षण है ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। यद्यपि आत्मा बन्ध की अपेक्षा एक है तो भी इससे वह स्वतन्त्र जाना जाता है। जिस प्रकार स्वर्ण और चाँदी बन्ध की अपेक्षा एक हैं तो भी वर्णादि के भेद से उनमें पार्थक्य रहता है उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिए।

अब उपयोग के भेद दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

अन्तर शब्द के अनेक अर्थ हैं। १. यथा 'सान्तरं काष्ठं' में छिद्र अर्थ है। २. कहीं पर अन्य अर्थ के रूप में वर्तता है। ३. 'हिमवत्सागरान्तरे' में अन्तर शब्द का अर्थ मध्य है। ४. 'शुक्लरक्ताद्यन्तरस्थस्य स्फटिकस्य' - सफेद और लाल रंग के समीप रखा हुआ स्फटिक। यहाँ अन्तरका समीप अर्थ है। ५. कहीं पर विशेषता अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे - घोड़ा, हाथी और लोहे में, लकड़ी, पत्थर और कपड़े में, स्त्री, पुरुष और जलमें अन्तर ही नहीं, महान् अन्तर है। यहाँ अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक है। ६. 'ग्रामस्यान्तर कूपाः' में बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँव के बाहर कुआँ है। ७. कहीं उपसंव्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्र के अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग होता है यथा 'अन्तरे शाटकाः'। ८. कहीं विरह अर्थ में जैसे 'अनभिप्रेतश्रोतृजनान्तरे मन्त्रयते' - अनिष्ट व्यक्तियों के विरहमें मण्डना करता है।

किसी समर्थ द्रव्यकी किसी निमित्त से अमुक पर्याय का अभाव होनेपर निमित्तान्तर से जब तक वह पर्याय पुनः प्रकट नहीं होती, तब तक के कालको अन्तर कहते हैं।

वाचां गोचरताऽत्ययात्।

= शब्द के गोचर हो नहीं हो सकता।

स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः ॥९॥

अन्वयार्थ : वह उपयोग दो प्रकार का है - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

वह उपयोग दो प्रकार का है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकारका है - चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल-दर्शन।

शंका – इन दोनों उपयोगों में किस कारण से भेद है ?

समाधान – साकार और अनाकार के भेद से इन दोनों उपयोगों में भेद है। साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग है। ये दोनों छद्मस्थों में क्रम से होते हैं और आवरण-रहित जीवों में युगपत् होते हैं। यद्यपि दर्शन पहले होता है तो भी श्रेष्ठ होने के कारण सूत्र में ज्ञान को दर्शन से पहले रखा है। सम्यग्ज्ञान का प्रकरण होने के कारण पहले पाँच प्रकार के ज्ञानोपयोग का व्याख्यान कर आये हैं। परन्तु यहाँ उपयोग का ग्रहण करने से विपर्यय का भी ग्रहण होता है, इसलिए वह आठ प्रकार का कहा है।

सब आत्माओं में साधारण उपयोग-रूप जिस आत्म-परिणाम का पहले व्याख्यान किया है उससे उपलक्षित सब उपयोग वाले जीव दो प्रकार के हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

अन्वयार्थ : जीव दो प्रकार के हैं - संसारी और मुक्त ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

संसरण करने को संसार कहते हैं, जिसका अर्थ परिवर्तन है। यह जिन जीवों के पाया जाता है वे संसारी हैं। परिवर्तन के पाँच भेद हैं - द्रव्य-परिवर्तन, क्षेत्र-परिवर्तन, काल-परिवर्तन, भव-परिवर्तन और भाव-परिवर्तन।

द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद हैं - नोकर्म द्रव्य-परिवर्तन और कर्म द्रव्य-परिवर्तन।

अब नोकर्म द्रव्य-परिवर्तन का स्वरूप कहते हैं -- किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को

एक समय में ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भाव-रूप से ग्रहण किये थे उस रूप से अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा। तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही नोकर्म परमाणु उसी प्रकार से नोकर्म-भाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर **एक नोकर्म द्रव्य-परिवर्तन** होता है।

अब कर्म-द्रव्य-परिवर्तन का कथन करते हैं -- एक जीव ने आठ प्रकार के कर्म-रूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, वे समयाधिक एक आवली काल के बाद द्वितीयादिक समयों में झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्य-परिवर्तन में बतलाया है उसी क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव के जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब **एक कर्म-द्रव्य-परिवर्तन** कहलाता है। कहा भी है - 'इस जीवने सभी पुद्गलोंको क्रमसे भोगकर छोड़ दिया। और इस प्रकार यह जीव असकृत अनन्तबार पुद्गल परिवर्तन-रूप संसार में घूमता है।'

अब क्षेत्रपरिवर्तन का कथन करते हैं -- जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्र-भव ग्रहण काल तक जीकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहना से वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग में आकाश के जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाश का एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्म-क्षेत्र बनाया। इस प्रकार यह सब मिलकर **एक क्षेत्र-परिवर्तन** होता है। कहा भी है -

'सब लोक क्षेत्र में ऐसा एक प्रदेश नहीं है जहाँ यह अवगाहना के साथ क्रम से नहीं उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इस जीव ने क्षेत्र संसार में अनेक बार परिभ्रमण किया।'

अब कालपरिवर्तन का कथन करते हैं -- कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। यह जन्म का नैरन्तर्य कहा। तथा इसी प्रकार मरण का भी नैरन्तर्य लेना चाहिए। इस प्रकार यह सब मिलकर **एक काल-परिवर्तन** है। कहा भी है - 'कालसंसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।'

अब भव-परिवर्तन का कथन करते हैं -- नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। एक जीव उस आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ, पुनः घूम-फिरकर उसी आयु से वहीं उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा। पुनः आयु के एक-एक समय बढ़ाकर नरक की तैंतीस सागर आयु समाप्त की। तदनन्तर नरक से निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयु के साथ तिर्यचगति में उत्पन्न हुआ। और पूर्वोक्त क्रम से उसने तिर्यचगति की तीन पल्योपम आयु समाप्त की। इसी प्रकार मनुष्यगति में अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्योपम आयु समाप्त की। तथा देवगति में नरकगति के समान आयु समाप्त की। किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि यहाँ इकतीस सागरोपम आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए। इस प्रकार यह सब मिलकर **एक भव-परिवर्तन** है।

अब भाव-परिवर्तन का कथन करते हैं -- पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृति की सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोड़ाकोड़ी-प्रमाण स्थिति को प्राप्त होता है। उसके उस स्थिति के योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोकप्रमाण कषाय-अध्यवसाय-स्थान होते हैं। और सबसे जघन्य इन कषाय-अध्यवसाय-स्थानों के निमित्त से असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय-अध्यवसाय-स्थान और सबसे जघन्य अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान को धारण करने वाले इस जीव के तद्योग्य सबसे जघन्य योग-स्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति, कषाय अध्यवसाय-स्थान और अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान वही रहते हैं, किन्तु योग-स्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भाग-वृद्धि-संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानों में समझना चाहिए। ये सब योग-स्थान चार स्थान पतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग-प्रमाण है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय-अध्यवसाय-स्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान होता है। इसके योग-स्थान पहले के समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती हैं किन्तु योग-स्थान जग-श्रेणी के असंख्यातवें भाग-प्रमाण होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय-स्थानों के होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसाय-स्थानों में जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसाय-स्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान क्रम से असंख्यात लोक-प्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान के प्रति जग-श्रेणी के असंख्यातवें भाग-प्रमाण योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कषाय-अध्यवसाय-स्थान होता है। इसके भी अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान और योग-स्थान पहले के समान जानना चाहिए। अर्थात् एक-एक कषाय-अध्यवसाय-स्थान के प्रति असंख्यात लोक-प्रमाण अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान होते हैं और एक-एक अनुभाग-अध्यवसाय-स्थान के प्रति जग-श्रेणी असंख्यातवें भाग-प्रमाण योग-स्थान होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण कषाय-अध्यवसाय-स्थानों के होने तक तीसरे आदि कषाय-अध्यवसाय-स्थानों में वृद्धि का क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति के कषायादि स्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थिति के भी कषायादि स्थान जानना चाहिए और इसी प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति-विकल्प के भी कषायादि स्थान जानना चाहिए। अनन्त

भाग-वृद्धि, असंख्यात भाग-वृद्धि, संख्यात भाग-वृद्धि, संख्यात गुण-वृद्धि, असंख्यात गुण-वृद्धि और अनन्त गुण-वृद्धि इस प्रकार ये वृद्धि के छह स्थान हैं तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकार की है। इनमें-से अनन्त भाग-वृद्धि और अनन्त गुण-वृद्धि इन दो स्थानों के कम कर देने पर चार स्थान होते हैं। इसी प्रकार सब मूल प्रकृतियों का और उनकी उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर **एक भाव-परिवर्तन** होता है। कहा भी है - 'इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धके स्थानों को प्राप्त कर भाव-संसार में परिभ्रमण किया।'

जो उक्त पाँच प्रकार के संसार से निवृत्त हैं वे मुक्त हैं। सूत्रमें 'संसारि' पद का पहले ग्रहण किया, क्योंकि 'मुक्त' यह संज्ञा संसार पूर्वक प्राप्त होती है।

पहले जो संसारी जीव कह आये हैं वे दो प्रकार के हैं। आगे के सूत्र-द्वारा इसी बात को बतलाते हैं -

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

अन्वयार्थ : मनवाले और मनरहित ऐसे संसारी जीव हैं ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

मन दो प्रकार का है -- द्रव्य-मन और भाव-मन। उनमें-से **द्रव्य-मन** पुद्गल-विपाकी अंगोपांग नाम-कर्म के उदय से होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा की विशुद्धि को **भाव-मन** कहते हैं। यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे समनस्क हैं। और जिनके मन नहीं पाया जाता है वे अमनस्क हैं। इस प्रकार मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा संसारी जीव दो भागोंमें बँट जाते हैं। 'समनस्कामनस्काः' इसमें समनस्क और अमनस्क इस प्रकार द्वन्द्व समास है। समनस्क शब्द श्रेष्ठ है अतः उसे सूत्रमें पहले रखा।

शंका - श्रेष्ठता किस कारण से है ?

समाधान - क्योंकि समनस्क जीव गुण और दोषोंके विचारक होते हैं, इसलिए समनस्क पद श्रेष्ठ है। अब फिर से भी संसारी जीवों के भेदों का ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

अन्वयार्थ : तथा संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार हैं ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका - सूत्र में 'संसारि' पद का ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि वह प्रकरण प्राप्त है ?

समाधान - इसका प्रकरण कहाँ है ?

शंका - 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्र में उसका प्रकरण है।

समाधान - सूत्रमें 'संसारि' पद का ग्रहण करना अनर्थक नहीं है, क्योंकि पूर्व सूत्र की अपेक्षा इस सूत्रमें 'संसारि' पद का ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्र में जो समनस्क और अमनस्क जीव बतलाये हैं वे संसारी हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए इस सूत्रमें 'संसारि' पद दिया है। यदि 'संसारि' पद को पूर्व का विशेषण न माना जाय तो समनस्क और अमनस्क इनका संसारी और मुक्त इनके साथ क्रमसे सम्बन्ध हो जायेगा। और इस अभिप्राय से 'संसारिणो' पद का इस सूत्र के आदि में ग्रहण करना बन जाता है। इस प्रकार 'संसारिणो' पद का ग्रहण पूर्व सूत्र की अपेक्षा से होकर अगले सूत्र के लिए भी हो जाता है। यथा - वे संसारी जीव दो प्रकार के हैं त्रस और स्थावर। जिनके त्रस नामककर्म का उदय है वे त्रस कहलाते हैं और जिनके स्थावर नामककर्म का उदय है उन्हें स्थावर कहते हैं।

शंका - 'त्रस्यन्ति' अर्थात् जो चलते-फिरते हैं वे त्रस हैं और जो स्थिति स्वभाववाले हैं वे स्थावर हैं, क्या त्रस और स्थावरका यह लक्षण ठीक है ?

समाधान - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें आगम से विरोध आता है, क्योंकि कायानुवाद की अपेक्षा कथन करते हुए आगममें बतलाया है कि द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर अयोगकेवली तक के सब जीव त्रस हैं, इसलिए गमन करने और न करने की अपेक्षा त्रस और स्थावर यह भेद नहीं है, किन्तु त्रस और स्थावर कर्मों के उदय की अपेक्षा से ही है। सूत्र में त्रसपद का प्रारम्भ में ग्रहण किया है, क्योंकि स्थावर पद से इसमें कम अक्षर हैं और यह श्रेष्ठ है। त्रस श्रेष्ठ इसलिए है कि इनके सब उपयोगों का पाया जाना सम्भव है।

एकेन्द्रियों के विषय में अधिक वक्तव्य नहीं है, इसलिए आनुपूर्वी को छोड़कर पहले स्थावर के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

पृथिव्यप्तेजो वायु-वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अन्वयार्थ : पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

पृथिवीकाय आदि स्थावर नामकर्म के भेद हैं । उनके उदयके निमित्तसे जीवोंके पृथिवी आदिक नाम जानने चाहिए । यद्यपि ये नाम प्रथन आदि धातुओंसे बने हैं तो भी ये रौढिक हैं, इसलिए इनमें प्रथन आदि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं है ।

शंका – आर्ष में ये पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं ?

समाधान – पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं ।

इनमें-से जो अचेतन है, प्राकृतिक परिणमनों से बनी है और कठिन गुणवाली है वह **पृथिवी** है । अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथनक्रियासे उपलक्षित होनेके कारण अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होने के कारण यह पृथिवी कहलाती है । अथवा पृथिवी यह सामान्य वाची संज्ञा है, क्योंकि आगे के तीन भेदों में भी यह पायी जाती है ।

काय का अर्थ शरीर है, अतः पृथिवीकायिक जीव द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह **पृथिवीकाय** कहलाता है । यथा मरे हुए मनुष्य आदिक का शरीर । जिस जीव के पृथिवीरूप काय विद्यमान है उसे **पृथिवीकायिक** कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जीव पृथिवीरूप शरीर के सम्बन्धसे युक्त है ।

कार्मणकाययोगमें स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवी को कायरूप से ग्रहण नहीं किया है तब तक वह **पृथिवीजीव** कहलाता है । इसी प्रकार जलादिक में भी चार-चार भेद कर लेने चाहिए । ये पाँचों प्रकार के प्राणी स्थावर हैं ।

शंका – इनके कितने प्राण होते हैं ?

समाधान – इनके चार प्राण होते हैं - स्पर्शन इन्द्रियप्राण, कायबलप्राण, उच्छ्वास-निःश्वासप्राण और आयुःप्राण ।

अब त्रस कौन हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

अन्वयार्थ : दो इन्द्रिय आदि त्रस हैं ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिन जीवों के दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो-इन्द्रिय कहते हैं । तथा जिनके प्रारम्भ में दो इन्द्रिय जीव हैं दो-इन्द्रियादिक कहलाते हैं । यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है ।

शंका – ये कहाँ व्यवस्थित होकर बतलाये गये हैं ?

समाधान – आगम में ।

शंका – किस क्रम से ?

समाधान – दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस क्रम से व्यवस्थित हैं । यहाँ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास का ग्रहण किया है, अतः द्वीन्द्रिय का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका – इन द्वीन्द्रिय आदि जीवों के कितने प्राण होते हैं ?

समाधान – पूर्वोक्त चार प्राणों में रसना-प्राण और वचन-प्राण इन दो प्राणों के मिला देने पर दो इन्द्रिय जीवों के छह प्राण होते हैं । इनमें घ्राणप्राण के मिला देने पर तीन इन्द्रिय जीव के सात प्राण होते हैं । इनमें चक्षु-प्राण के मिला देने पर चौइन्द्रिय जीव के आठ प्राण होते हैं । इनमें श्रोत्र-प्राण के मिला देने पर तिर्यच असंज्ञी के नौ प्राण होते हैं । इनमें मनोबल के मिला देने पर संज्ञी जीवों के दस प्राण होते हैं ।

पूर्व सूत्र में जो आदि शब्द दिया है उससे इन्द्रियों की संख्या नहीं ज्ञात होती, अतः उनके परिमाण का निश्चय करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियाँ पाँच हैं ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

इन्द्रिय शब्द का व्याख्यान कर आये । सूत्र में जो 'पंच' पदका ग्रहण किया है वह मर्यादा के निश्चित करने के लिए किया है

कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं। इससे इन्द्रियों की और अधिक संख्या नहीं पायी जाती।

शंका – इस सूत्र में वचनादिक कर्मेन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान – नहीं करना चाहिए, क्योंकि उपयोग का प्रकरण है। इस सूत्र में उपयोग की साधन-भूत इन्द्रियों का ग्रहण किया है, क्रिया की साधन-भूत इन्द्रियों का नहीं। दूसरे, क्रिया की साधन-भूत इन्द्रियों की मर्यादा नहीं है। अंगोपांग नामकर्म के उदय से जितने भी अंगोपांगों की रचना होती है वे सब क्रिया के साधन हैं, इसलिए कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं किया जा सकता।

अब उन पाँचों इन्द्रियों के अन्तर्भेदों को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापारः। कथम्। शुक्लादिरूपं दिदृक्षु प्रथमं मनसोपयोगं करोति 'एवंविधरूपं पश्यामि रसमास्वादयामि' इति, ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते। ततश्चास्यानिन्द्रियत्वम्। =

प्रश्न – मन अपने विचारात्मक कार्य में किसी अन्य इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं करता, अतः उसे चक्षु इन्द्रिय की तरह इन्द्रिय ही कहना चाहिए अनिन्द्रिय नहीं।

उत्तर – १. सूक्ष्म द्रव्य की पर्याय होने के कारण वह अन्य इन्द्रियों की भाँति प्रत्यक्ष व व्यक्त नहीं है, इसलिए अनिन्द्रिय है। (गो.जी./मू.४४४/८६२)

२. चक्षु आदि इन्द्रियों के रूपादि विषयों में उपयोग करने से पहले मन का व्यापार होता है। वह ऐसे कि - 'मैं शुक्लादि रूप को देखूँ' ऐसे पहले मन का उपयोग करता है। पीछे उसको निमित्त बनाकर 'मैं' इस प्रकार का रूप देखता हूँ या रस का आस्वादन करता हूँ' इस प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने विषयों में व्यापार करती हैं। इसलिए इसको अनिन्द्रियपना प्राप्त है।

द्विविधानि ॥१६॥

अन्वयार्थ : वे प्रत्येक दो-दो प्रकार की हैं ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

विध शब्द प्रकारवाची है। 'द्विविधानि' पद में 'द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि' इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। आशय है कि ये पाँचों इन्द्रियाँ प्रत्येक दो-दो प्रकार की हैं।

शंका – वे दो प्रकार कौन हैं ?

समाधान – द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

अब द्रव्येन्द्रिय के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अन्वयार्थ : निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

रचना का नाम निर्वृत्ति है।

शंका – किसके द्वारा यह रचना की जाती है ?

समाधान – कर्म के द्वारा। निर्वृत्ति दो प्रकार की है - बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकाररूप से अवस्थित शुद्ध आत्म-प्रदेशों की रचना को **आभ्यन्तर निर्वृत्ति** कहते हैं। तथा इन्द्रिय नामवाले उन्हीं आत्म-प्रदेशों में प्रतिनियत आकार-रूप और नाम-कर्म के उदय से विशेष अवस्था को प्राप्त जो पुद्गल-प्रचय होता है उसे **बाह्यनिर्वृत्ति** कहते हैं। जो निर्वृत्ति का उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। निर्वृत्ति के समान यह भी दो प्रकार का है - आभ्यन्तर और बाह्य। नेत्र इन्द्रिय में कृष्ण-शुक्ल-मण्डल **आभ्यन्तर उपकरण** है तथा पलक और दोनों बरोनी आदि **बाह्य उपकरण** हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों में भी जानना चाहिए। अब भावेन्द्रियका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

लब्ध्युपयोगो भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अन्वयार्थ : लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

लब्धि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - लम्भनं लब्धिः - प्राप्त होना ।

शंका – लब्धि किसे कहते हैं ?

समाधान – ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम-विशेष को **लब्धि** कहते हैं । जिसके संसर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करनेके लिए उद्यत होता है, तन्निमित्तक आत्मा के परिणामको **उपयोग** कहते हैं । लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियाँ हैं ।

शंका – उपयोग इन्द्रिय का फल है, वह इन्द्रिय कैसे हो सकता है ?

समाधान – कारण का धर्म कार्य में देखा जाता है । जैसे घटाकार परिणत हुआ ज्ञान भी घट कहलाता है, अतः इन्द्रिय के फल को इन्द्रिय के मानने में कोई आपत्ति नहीं है । दूसरे इन्द्रिय का जो अर्थ है वह मुख्यता से उपयोग में पाया जाता है । तात्पर्य यह है कि 'इन्द्र के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं' यह जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ है वह उपयोग में मुख्य है, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है' ऐसा वचन है, अतः उपयोग को इन्द्रिय मानना उचित है ।

अब उक्त इन्द्रियों के क्रम से संज्ञा दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिप्रतिव्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।१। तदुक्तं निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते ।

= जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियोंकी रचनाके प्रति व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। उस पूर्वोक्त निमित्त (लब्धि) के अवलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं।

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

अन्वयार्थ : स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

लोक में इन्द्रियों की पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है । जैसे इस आँख से अच्छा देखता हूँ, इस कान से मैं अच्छा सुनता हूँ । अतः पारतन्त्र्य विवक्षा में स्पर्शन आदि इन्द्रियों का करणपना बन जाता है । वीर्यान्तराय और मति-ज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम-कर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है वह रसन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राण इन्द्रिय है । चक्षु धातुके अनेक अर्थ हैं । उनमें-से यहाँ दर्शनरूप अर्थ लिया गया है इसलिए जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है । इसीप्रकार इन इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है । जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । और इसलिए इन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी कर्ताकारकमें सिद्धि होती है । यथा - जो स्पर्श करती है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो स्वाद लेती है वह रसन इन्द्रिय है, जो सूँघती है वह घ्राण इन्द्रिय है, जो देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है और जो सुनती है वह कर्ण इन्द्रिय है । सूत्रमें इन इन्द्रियोंका जो स्पर्शनके बाद रसना और उसके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे निर्देश किया है वह एक-एक इन्द्रियकी इस क्रमसे वृद्धि होती है यह दिखलाने के लिए किया है । अब उन इन्द्रियों का विषय दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थः ॥२०॥

अन्वयार्थ : स्पर्शन, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रम से उन इन्द्रियों के विषय हैं ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

द्रव्य और पर्याय की प्राधान्य विवक्षा में स्पर्शादि शब्दों की क्रमसे कर्मसाधन और भावसाधनमें सिद्धि जानना चाहिए। जब द्रव्यकी अपेक्षा प्रधान रहती है तब कर्मनिर्देश होता है। जैसे – जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है, जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है, जो सूँघा जाता है वह गन्ध है जो देखा जाता है वह वर्ण है और जो शब्दरूप होता है वह शब्द है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक द्रव्य ठहरते हैं। तथा जब पर्यायकी विवक्षा प्रधान रहती है तब भावनिर्देश होता है।

जैसे – स्पर्शन स्पर्श है, रसन रस है, गन्धन गन्ध है, वर्णन वर्ण है और शब्दन शब्द है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक धर्म निश्चित होते हैं। इन स्पर्शादिकका क्रम इन्द्रियोंके क्रमसे ही व्याख्यात है। अर्थात् इन्द्रियोंके क्रमको ध्यानमें रखकर इनका क्रमसे कथन किया है।

आगे कहते हैं कि मन अनवस्थित है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं। इस प्रकार जो मन के इन्द्रियपनेका निषेध किया है, सो यह मन उपयोगका उपकारी है या नहीं ? मन भी उपकारी है, क्योंकि मनके बिना स्पर्शादि विषयोंमें इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं होती। तो क्या इन्द्रियोंकी सहायता करना ही मनका प्रयोजन है या और भी इसका प्रयोजन है ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अन्वयार्थ : श्रुत मन का विषय है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

श्रुतज्ञान का विषयभूत अर्थ श्रुत है वह अनिन्द्रिय अर्थात् मनका विषय है, क्योंकि श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवके श्रुतज्ञानके विषयमें मनके आलम्बनसे ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है। और वह मनका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है। यह प्रयोजन मन के स्वतः आधीन है, इसमें उसे दूसरेके साहाय्य की आवश्यकता नहीं लेनी पड़ती।

किस इन्द्रियका क्या विषय है यह बतला आये हैं। अब उनके स्वामीका कथन करना है, अतः सर्वप्रथम हो स्पर्शन इन्द्रिय कही है उसके स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

अन्वयार्थ : वनस्पतिकायिक तक के जीवों के एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय होती है ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में आये हुए 'एक' शब्दका अर्थ प्रथम है।

शंका – यह कौन है ? समाधान – स्पर्शन।

शंका – वह किन जीवों के होती है ?

समाधान – पृथिवीकायिक जीवों से लेकर वनस्पतिकायिक तक के जीवों के जानना चाहिए।

अब उसकी उत्पत्ति के कारण का कथन करते हैं - वीर्यान्तराय तथा स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर और शेष इन्द्रियोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयके होनेपर तथा शरीर नामकर्मके आलम्बनके होनेपर और एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी आधीनताके रहते हुए एक स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है।

अब इतर इन्द्रियोंके स्वामित्वका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

अन्त शब्द के अनेक अर्थ हैं। १. कहीं तो अवयव के अर्थ में प्रयोग होता है - जैसे वस्त्र के अन्त अर्थात् वस्त्र के अवयव. २. कहीं समीपता के अर्थ में प्रयोग होता है - जैसे 'उदकान्तंगतः' अर्थात् जलके समीप पहुँचा हुआ। ३. कहीं समाप्ति के अर्थ में प्रयोग होता है - जैसे 'संसारान्तगत' अर्थात् संसार की समाप्ति को प्राप्त।

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

अन्वयार्थ : कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रम से एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

'एकैकम्' यह वीप्सामें द्वित्व है। इन्द्रियाँ एक-एकके क्रमसे बढ़ी हैं इसलिए वे 'एकैकवृद्ध' कही गयी हैं। ये इन्द्रियाँ कृमिसे लेकर बढ़ी हैं। स्पर्शन इन्द्रियका अधिकार है, अतः स्पर्शन इन्द्रियसे लेकर एक-एकके क्रमसे बढ़ी हैं इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। आदि शब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है। जिससे यह अर्थ हुआ कि कृमि आदि जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। पिपीलिका आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर

आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्यादिकके श्रोत्र इन्द्रियके और मिला देनेपर पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार उक्त जीव और इन्द्रिय इनका यथाक्रमसे सम्बन्धका व्याख्यान किया। पहले स्पर्शन इन्द्रियकी उत्पत्तिका व्याख्यान कर आये हैं उसी प्रकार शेष इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका व्याख्यान करना चाहिए। किन्तु उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान करते समय जिस इन्द्रियकी उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान किया जाय, वहाँ उससे अगली इन्द्रिय सम्बन्धी सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयके साथ वह व्याख्यान करना चाहिए। इस प्रकार इन दो प्रकारके और इन्द्रिय-भेदोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारके संसारी जीवोंमें जो पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके भेद नहीं कहे, अतः उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

अन्वयार्थ : मनवाले जीव संज्ञी जीव होते हैं ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

मनका व्याख्यान कर आये हैं। उसके साथ जो रहते हैं वे समनस्क कहलाते हैं। और उन्हें ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्यायसे यह सिद्ध हुआ कि इनसे अतिरिक्त जितने संसारी जीव होते हैं वे सब असंज्ञी होते हैं।

शंका – सूत्रमें 'संज्ञिनः' इतना पद देनेसे ही काम चल जाता है, अतः 'समनस्काः' यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागकी परीक्षा करने में मनका व्यापार होता है और यही संज्ञा है ?

समाधान – यह कहना उचित नहीं, क्योंकि संज्ञा शब्द के अर्थमें व्यभिचार पाया जाता है। अर्थात् संज्ञा शब्दके अनेक अर्थ हैं। संज्ञाका अर्थ नाम है। यदि नामवाले जीव संज्ञी माने जायें तो सब जीवोंको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। संज्ञाका अर्थ यदि ज्ञान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञानस्वभाव होनेसे सबको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है तो भी पहलेके समान दोष प्राप्त होता है। अर्थात् आहारादि विषयक अभिलाषा सबके पायी जाती है, इसलिए भी सबको संज्ञीपने का प्रसंग प्राप्त होता है। चूँकि ये दोष न प्राप्त हों अतः सूत्रमें 'समनस्काः' यह पद रखा है। इससे यह लाभ है कि गर्भज, अण्डज, मूर्च्छित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें हिताहितकी परीक्षाके न होनेपर भी मनके सम्बन्ध से संज्ञीपना बन जाता है।

यदि जीवोंके हित और अहित आदि विषयके लिए क्रिया मनके निमित्तसे होती है तो जिसने पूर्व शरीर को छोड़ दिया है और जो मनरहित है ऐसा जीव जब नूतन शरीर को ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके जो क्रिया होती है वह किस निमित्तसे होती है यही बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

अन्वयार्थ : विग्रहगति में कर्मणकाय योग होता है ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

विग्रहका अर्थ देह है। विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है वह विग्रह गति है। अथवा विरुद्ध ग्रहको विग्रह कहते हैं जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामें कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोकर्मरूप पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह है और इस विग्रहके साथ होनेवाली गतिका नाम विग्रहगति है। सब शरीरोंकी उत्पत्तिके मूलकारण कर्मण शरीरको कर्म कहते हैं। तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके हलनचलनको योग कहते हैं। कर्मके निमित्तसे जो योग होता है वह कर्मयोग है वह विग्रहगतिमें होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इससे नूतन कर्मका ग्रहण और एक देशसे दूसरे देशमें गमन होता है।

गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंका एक देशसे दूसरे देशमें गमन क्या आकाशप्रदेशों की पंक्तिक्रमसे होता है या इसके बिना होता है, अब इसका खुलासा करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

अनुश्रेणिः गतिः ॥२६॥

अन्वयार्थ : गति श्रेणी के अनुसार होती है ॥२६॥

सर्वार्थसिद्धि :

लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। अनु शब्द 'आनुपूर्वी' अर्थमें समसित है। इसलिए 'अनुश्रेणि' का अर्थ 'श्रेणीकी आनुपूर्वीसे' होता है। इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोंकी होती

है यह इसका भाव है।

शंका – पुद्गलों का अधिकार न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण कैसे हो सकता है ?

समाधान – सूत्रमें गतिपदका ग्रहण किया है इससे सिद्ध हुआ कि अनधिकृत पुद्गल भी यहाँ विवक्षित हैं। यदि जीवोंकी गति ही इष्ट होती तो सूत्रमें गति पदके ग्रहण करनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि गति पदका ग्रहण अधिकारसे सिद्ध है। दूसरे अगले सूत्रमें जीव पदका ग्रहण किया है, इसलिए इस सूत्रमें पुद्गलोंका भी ग्रहण इष्ट है यह ज्ञान होता है।

शंका – चन्द्रमा आदि ज्योतिषियोंकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोंकी अनुश्रेणी गति होती है यह किसलिए कहा ?

समाधान – यहाँ कालनियम और देशनियम जानना चाहिए। कालनियम यथा - मरणके समय जब जीव एक भवको छोड़कर दूसरे भवके लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्व गमन करते हैं तब उनकी गति अनुश्रेणि ही होती है। देशनियम यथा - जब कोई ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है तब उस अवस्थामें गति अनुश्रेणि ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलोंकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलोंकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी। किसी एक प्रकारकी गति होनेका कोई नियम नहीं है। अब फिर भी गति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अन्वयार्थ : मुक्त जीव की गति विग्रहरहित होती है ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

विग्रह का अर्थ व्याघात या कुटिलता है जिस गति में विग्रह अर्थात् कुटिलता नहीं होती वह विग्रह-रहित गति है।

शंका – यह किसके होती है ? समाधान – जीव के।

शंका – किस प्रकार के जीव के ? समाधान – मुक्त जीव के।

शंका – यह किस प्रमाण से जाना जाता है कि मुक्त जीव के विग्रहरहित गति होती है ?

समाधान – अगले सूत्रमें 'संसारि' पदका ग्रहण किया है इससे ज्ञात होता है कि इस सूत्र में मुक्त जीव के विग्रहरहित गति ली गयी है।

शंका – 'अनुश्रेणि गतिः' इस सूत्र से ही यह ज्ञात हो जाता है कि एक श्रेणि से दूसरी श्रेणि में संक्रमण नहीं होता फिर इस सूत्रके लिखने से क्या प्रयोजन है ?

समाधान – पूर्व सूत्र में कहीं पर विश्रेणिगति भी होती है इस बात का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र रचा है।

शंका – पूर्व सूत्र की टीका में ही देशनियम और कालनियम कहा है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि उसकी सिद्धि इस सूत्र से होती है।

मुक्तात्मा की लोकपर्यन्त गति बिना प्रतिबन्ध के नियत समय के भीतर होती है यदि ऐसा आपका निश्चय है तो अब यह बतलाइए कि सदेह आत्मा की गति क्या प्रतिबन्ध के साथ होती है या मुक्तात्मा के समान बिना प्रतिबन्ध के होती है, इसी बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

अन्वयार्थ : संसारि जीव की गति विग्रहरहित और विग्रहवाली होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है ॥२८॥

सर्वार्थसिद्धि :

कालका अवधारण करनेके लिए 'प्राक्चतुर्भ्यः' पद दिया है। 'प्राक्' पद मर्यादा निश्चित करनेके लिए दिया है। चार समयसे पहले मोड़ेवाली गति होती है, चौथे समयमें नहीं यह इसका तात्पर्य है।

शंका – मोड़ेवाली गति चार समय से पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यों होती है चौथे समय में क्यों नहीं होती ?

समाधान – निष्कृत क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले दूसरे निष्कृत क्षेत्र वाले जीवको सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं; क्योंकि वहाँ आनुपूर्वीसे अनुश्रेणिका अभाव होनेसे इष्टगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निष्कृत क्षेत्रको प्राप्त करनेके लिए तीन मोड़ेवाली गतिका आरम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि इस प्रकारका कोई उपपादक्षेत्र नहीं पाया जाता, अतः मोड़ेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नहीं होती। 'च' शब्द समुच्चयके लिए दिया है। जिससे विग्रहवाली और विग्रहरहित दोनों गतियोंका समुच्चय होता है।

विग्रहवाली गतिका काल मालूम पड़ा। अब विग्रहरहित गतिका कितना काल है इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अन्वयार्थ : एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है ॥२९॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिस गति में एक समय लगता है वह एक समयवाली गति है। जिस गतिमें विग्रह अर्थात् मोड़ा नहीं लेना पड़ता वह मोड़ारहित गति है। गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके व्याघातके अभावमें एक समयवाली गति लोकपर्यन्त भी होती है यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

कर्मबंधकी परम्परा अनादिकालीन है, अतः मिथ्यादर्शन आदि बन्ध कारणों के वश से कर्मों को ग्रहण करनेवाला जीव विग्रहगति में भी आहारक प्राप्त होता है, अतः नियम करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥३०॥

अन्वयार्थ : एक, दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है ॥३०॥

सर्वार्थसिद्धि :

समयका अधिकार होनेसे यहाँ उसका सम्बन्ध होता है। 'वा' पदका अर्थ विकल्प है और विकल्प जहाँ तक अभिप्रेत हैं वहाँ तक लिया जाता है। जीव एक समय तक, दो समय तक या तीन समय तक अनाहारक होता है यह इस सूत्रका अभिप्राय है। तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करने को आहार कहते हैं। जिन जीवोंके इस प्रकारका आहार नहीं होता वे अनाहारक कहलाते हैं। किन्तु कर्मण शरीर के सद्भावमें कर्मके ग्रहण करनेमें अन्तर नहीं पड़ता जब यह जीव उपपादक्षेत्र के प्रति ऋजुगति में रहता है तब आहारक होता है। बाकीके तीन समयोंमें अनाहारक होता है। इस प्रकार अन्य गतिको गमन करनेवाले जीवके नूतन दूसरे पर्यायकी उत्पत्तिके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अन्वयार्थ : सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद ये (तीन) जन्म हैं ॥३१॥

सर्वार्थसिद्धि :

तीनों लोकोंमें ऊपर, नीचे और तिरछे देहका चारों ओरसे मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना **सम्मूर्च्छन** है। इसका अभिप्राय है चारों ओरसे पुद्गलोंका ग्रहण कर अवयवोंकी रचना होना। स्त्रीके उदरमें शुक्र और शोणितके परस्पर गरण अर्थात् मिश्रणको **गर्भ** कहते हैं। अथवा माताके द्वारा उपभुक्त आहारके गरण होनेको गर्भ कहते हैं। प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे **उपपाद** कहते हैं। उपपाद यह देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थान विशेषकी संज्ञा है। संसारी जीवोंके ये तीनों जन्मके भेद हैं, जो शुभ और अशुभ परिणामोंके निमित्तसे अनेक प्रकारके कर्म बँधते हैं, उनके फल हैं।

यहाँ तक संसारी विषयोंके उपभोगकी प्राप्तिमें आधारभूत जन्मोंका अधिकार था। अब इनकी योनियोंके भेद कहने चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं -

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अन्वयार्थ : सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये उसकी अर्थात् जन्म की योनियाँ हैं ॥३२॥

सर्वार्थसिद्धि :

आत्मा के चैतन्यविशेषरूप परिणाम को चित्त कहते हैं। जो चित्तके साथ रहता है वह **सचित्त** कहलाता है। **शीत** यह

स्पर्शका एक भेद है। शुक्ल आदिके समान यह द्रव्य और गुण दोनोंका वाची है, अतः शीतगुणवाला द्रव्य भी शीत कहलाता है। जो भले प्रकार ढका हो वह **संवृत** कहलाता है। यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे। इतर का अर्थ अन्य है और इनके साथ रहनेवाले सेतर कहे जाते हैं।

शंका – वे इतर कौन हैं ?

समाधान – अचित्त, उष्ण और विवृत। जो उभयरूप होते हैं वे मिश्र कहलाते हैं। यथा - सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत। सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयवाची है। जिससे योनियाँ मिश्र भी होती हैं इसका समुच्चय हो जाता है। यदि 'च' पदका यह अर्थ न लिया जाय तो मिश्रपद पूर्वोक्त पदोंका ही विशेषण हो जाता। 'एकशः' यह पद वीप्सावाची है। सूत्रमें इस पदका ग्रहण क्रम और मिश्रका ज्ञान करानेके लिए किया है। जिससे यह ज्ञान हो कि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत, विवृत इस क्रमसे योनियाँ ली हैं। यह ज्ञान न हो कि सचित्त, शीत इत्यादि क्रमसे योनियाँ ली हैं। जन्मके भेदोंके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'तत्' पदका ग्रहण किया है। उन संमूर्च्छन आदि जन्मोंकी ये योनियाँ हैं यह इसका भाव है। ये सब मिलाकर नौ योनियाँ जानना चाहिए।

शंका – योनि और जन्म में कोई भेद नहीं ?

समाधान – नहीं; क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे उनमें भेद हैं। ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं और जन्मके भेद आधेय हैं, क्योंकि सचित्त आदि योनिरूप आधारमें संमूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा शरीर, आहार और इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। देव और नारकियोंकी अचित्त योनि होती है, क्योंकि उनके उपपाद देश के पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है। गर्भजोंकी मिश्र योनि होती है, क्योंकि उनकी माता के उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं जिनका सचित्त माताकी आत्मासे मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है। संमूर्च्छनोंकी तीन प्रकारकी योनियाँ होती हैं। किन्हींकी सचित्त योनि होती है, अन्यकी अचित्तयोनि होती है और दूसरोंकी मिश्रयोनि होती है। साधारण शरीरवाले जीवोंकी सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये एक-दूसरेके आश्रयसे रहते हैं। इनसे अतिरिक्त शेष संमूर्च्छन जीवोंके अचित्त और मिश्र दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं। देव और नारकियोंकी शीत और उष्ण दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं; क्योंकि उनके कुछ उपपादस्थान शीत हैं और कुछ उष्ण। तेजस्कायिक जीवोंकी उष्णयोनि होती है। इनसे अतिरिक्त जीवोंकी योनियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। किन्हींकी शीत योनियाँ होती हैं, किन्हींकी उष्णयोनियाँ होती हैं और किन्हींकी मिश्रयोनियाँ होती हैं। देव, नारकी और एकेन्द्रियोंकी संवृत योनियाँ होती हैं। विकलेन्द्रियों की विवृत योनियाँ होती हैं। तथा गर्भजोंकी मिश्र योनियाँ होती हैं। इन सब योनियोंके चौरासी लाख भेद हैं यह बात आगमसे जाननी चाहिए। कहा भी है -

नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंकी सात-सात लाख योनियाँ हैं। वृक्षोंकी दस लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियोंकी मिलाकर छह लाख योनियाँ हैं। देव, नारकी और तिर्यचोंकी चार-चार लाख योनियाँ हैं तथा मनुष्योंकी चौदह लाख योनियाँ हैं।

इस प्रकार नौ योनियोंसे युक्त तीन जन्म सब जीवोंके अनियमसे प्राप्त हुए, अतः निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

अन्वयार्थ : जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का गर्भजन्म होता है ॥३३॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो जालके समान प्राणियोंका आवरण है और जो मांस और शोणितसे बना है उसे **जरायु** कहते हैं। जो नख की त्वचाके समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणितसे बना है उसे **अण्ड** कहते हैं। जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए हैं और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे **पोत** कहते हैं। इनमें जो जर से पैदा होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं। जो अण्डोंसे पैदा होते हैं वे अण्डज कहलाते हैं। सूत्रमें जरायुज, अण्डज और पोत इनका द्वन्द्व समास है। ये सब गर्भ की योनियाँ हैं।

यदि इन जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का गर्भ जन्म निर्णीत होता है तो अब यह बतलाइए कि उपपाद जन्म किन जीवों के होता है, अतः इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

राजवार्तिक :

जो नखकी त्वचा के समान कठिन है, गोल है, और जिसका आवरण शुक्र और शोणित से बना है उसे अण्ड कहते हैं।

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

अन्वयार्थ : देव और नारकियों का उपपाद जन्म होता है ॥३४॥

सर्वार्थसिद्धि :

इनसे अतिरिक्त अन्य जीवोंके कौन-सा जन्म होता है। अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

शेषाणां सम्मूर्च्छनं ॥३५॥

अन्वयार्थ : शेष सब जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है ॥३५॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्रमें 'शेष' पदसे वे जीव लिये गये हैं जो गर्भ और उपपाद जन्मसे नहीं पैदा होते। इनके सम्मूर्च्छन जन्म होता है। ये तीनों ही सूत्र नियम करते हैं। और यह नियम दोनों ओरसे जानना जानना चाहिए। यथा – गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका ही होता है। या जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंके गर्भजन्म ही होता है। उपपाद जन्म देव और नारकियोंके ही होता है या देव और नारकियोंके उपपाद जन्म ही होता है। सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवोंके ही होता है या शेष जीवोंके सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।

जो तीन जन्मोंसे पैदा होते हैं और जिनके अपने अवान्तर भेदोंसे युक्त नौ योनियाँ हैं उन संसारी जीवोंके शुभ और अशुभ नामकर्मके उदयसे निष्पन्न हुए और बन्धफलके अनुभव करनेमें आधारभूत शरीर कितने हैं। अब इसी बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कर्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अन्वयार्थ : औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कर्मण ये पाँच शरीर हैं ॥३६॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं वे शरीर हैं। इसके औदारिक आदि पाँच भेद हैं। ये औदारिक आदि प्रकृति विशेषके उदयसे होते हैं।

उदार और स्थूल ये एकार्थवाची शब्द हैं। उदार शब्दसे होनेरूप अर्थमें या प्रयोजनरूप अर्थमें ठक् प्रत्यय होकर **औदारिक** शब्द बनता है।

अणिमा आदि आठ गुणोंके ऐश्वर्यके सम्बन्धसे एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकारका शरीर करना **विक्रिया** है। यह विक्रिया जिस शरीरका प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है।

सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान करनेके लिए या असंयमको दूर करनेकी इच्छासे प्रमत्तसंयत जिस शरीरकी रचना करता है वह **आहारक शरीर** है।

जो दीप्तिका कारण है या तेजमें उत्पन्न होता है उसे **तैजस शरीर** कहते हैं।

कर्मोंका कार्य कर्मण शरीर है। यद्यपि सब शरीर कर्मके निमित्तसे होते हैं तो भी रूढिसे विशिष्ट शरीरको **कर्मण शरीर** कहा है।

जिस प्रकार इन्द्रियाँ औदारिक शरीरको जानती हैं उस प्रकार इतर शरीरोंको क्यों नहीं जानतीं ? अब इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अन्वयार्थ : आगे-आगे का शरीर सूक्ष्म है ॥३७॥

सर्वार्थसिद्धि :

पर शब्दके अनेक अर्थ हैं तो भी यहाँ विवक्षासे व्यवस्थारूप अर्थका ज्ञान होता है। यद्यपि शरीर अलग-अलग हैं तो भी उनमें सूक्ष्म गुणका अन्वय है यह दिखलानेके लिए 'परम्परम्' इस प्रकार वीप्सा निर्देश किया है। औदारिक शरीर स्थूल है। इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है। इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है। इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कर्मण शरीर सूक्ष्म है।

यदि ये उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म हैं तो प्रदेशोंकी अपेक्षा भी उत्तरोत्तर हीन होंगे। इस प्रकार विपरीत ज्ञानका निराकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हो –

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

अन्वयार्थ : तैजस से पूर्व तीन शरीरों में आगे-आगे का शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुणा है ॥३८॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है। इसका अर्थ परमाणु है। संख्यातीतको असंख्येय कहते हैं। जिसका गुणकार असंख्यात है वह असंख्येयगुणा कहलाता है।

शंका – किसकी अपेक्षा ?

समाधान – प्रदेशोंकी अपेक्षा, अवगाहनकी अपेक्षा नहीं। पूर्व सूत्रमें 'परम्परम्' इस पदकी अनुवृत्ति होकर असंख्येयगुणत्वका प्रसंग कर्मण शरीर तक प्राप्त होता है अतः उसकी निवृत्तिके लिए सूत्रमें 'प्राक् तैजसात्' पद रखा है। अर्थात् तैजस शरीरसे पूर्ववर्ती शरीर तक ये शरीर उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं। औदारिक शरीरसे वैक्रियिक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है।

शंका – गुणकार का प्रमाण क्या है ?

समाधान – पल्यका असंख्यातवाँ भाग।

शंका – यदि ऐसा है तो उत्तरोत्तर एक शरीर से दूसरा शरीर महापरिमाणवाला प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बन्धविशेषके कारण परिमाणमें भेद नहीं होता। जैसे रुईका ढेर और लोहे का गोला।

आगेके दो शरीरोंके प्रदेश क्या समान हैं या उनमें भी कुछ भेद है। इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हो -

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

अन्वयार्थ : परवर्ती दो शरीर प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं ॥३९॥

सर्वार्थसिद्धि :

पूर्व सूत्रसे 'प्रदेशतः' इस पद की अनुवृत्ति होती है। जिससे इसका सम्बन्ध करना चाहिए कि आहारक शरीरसे तैजस शरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीर से कर्मण शरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं।

शंका – गुणकार क्या है ?

समाधान – अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंका अनन्तवाँ भाग गुणकार है।

शंका – जिस प्रकार कील आदि के लग जानेसे कोई भी प्राणी इच्छित स्थानको नहीं जा सकता उसी प्रकार मूर्तिक द्रव्यसे उपचित होनेके कारण संसारी जीवकी इच्छित गतिके निरोधका प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ये दोनों शरीर -

अप्रतीघाते ॥४०॥

अन्वयार्थ : प्रतीघात रहित हैं ॥४०॥

सर्वार्थसिद्धि :

एक मूर्तिक पदार्थका दूसरे मूर्तिक पदार्थ के द्वारा जो व्याघात होता है उसे प्रतीघात कहते हैं। इन दोनों शरीरों का इस प्रकार का प्रतीघात नहीं होता, इसलिए ये प्रतीघात रहित हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म होने से अग्नि लोहेके गोलेमें प्रवेश कर जाती है। उसी प्रकार तैजस और कर्मण शरीर का वज्रपटलादिक में भी व्याघात नहीं होता।

शंका – वैक्रियिक और आहारक शरीरका भी प्रतीघात नहीं होता फिर यहाँ तैजस और कर्मण शरीर को ही अप्रतीघात क्यों कहा ?

समाधान – इस सूत्रमें सर्वत्र प्रतीघात का अभाव विवक्षित है। जिस प्रकार तैजस और कर्मण शरीरका लोक पर्यन्त सर्वत्र प्रतीघात नहीं होता वह बात वैक्रियिक और आहारक शरीर की नहीं है।

इन दोनों शरीरोंमें क्या इतनी ही विशेषता है या और भी कोई विशेषता है। इसी बातको बतलाने के लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं -

अनादिसंबन्धे च ॥४१॥

अन्वयार्थ : आत्मा के साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं ॥४१॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'च' शब्द विकल्प को सूचित करने के लिए दिया है। जिससे यह अर्थ हुआ कि तैजस और कर्मण शरीरका अनादि सम्बन्ध है और सादि सम्बन्ध भी है। कार्यकारणभाव की परम्परा की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध वाले हैं और विशेष की अपेक्षा सादि सम्बन्धवाले हैं। यथा बीज और वृक्ष। जिस प्रकार औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर जीव के कदाचित् होते हैं उस प्रकार तैजस और कर्मण शरीर नहीं हैं। संसार का क्षय होने तक उनका जीव के साथ सदा सम्बन्ध है। ये तैजस और कर्मण शरीर क्या किसी जीव के ही होते हैं या सामान्यरूप से सबके होते हैं। इसी बातका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

सर्वस्य ॥४२॥

अन्वयार्थ : तथा सब संसारी जीवों के होते हैं ॥४२॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ 'सर्व' शब्द निरवशेषवाची है। वे दोनों ही शरीर सब संसारी जीवों के होते हैं यह इस सूत्र का तात्पर्य है। सामान्य कथन करने से उन औदारिकादि शरीरों के साथ सब संसारी जीवोंका एक साथ सम्बन्ध प्राप्त होता है, अतः एक साथ कितने शरीर सम्भव हैं इस बात को दिखलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

अन्वयार्थ : एक साथ एक जीव के तैजस और कर्मण से लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं ॥४३॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में प्रकरण प्राप्त तैजस और कर्मण शरीरका निर्देश करनेके लिए 'तत्' शब्द दिया है। तदादि शब्दका समासलभ्य अर्थ है – तैजस और कर्मण शरीर जिनके आदि हैं वे। भाज्य और विकल्प्य ये पर्यायवाची नाम हैं। तात्पर्य यह है कि एक साथ एक आत्मा के पूर्वोक्त दो शरीर से लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं। किसीके तैजस और कर्मण ये दो शरीर होते हैं। अन्य के औदारिक, तैजस और कर्मण या वैक्रियिक, तैजस और कर्मण ये तीन शरीर होते हैं। किसी दूसरे के औदारिक, आहारक, तैजस और कर्मण ये चार शरीर होते हैं। इस प्रकार यह विभाग यहाँ किया गया है। फिर भी उन शरीरों का विशेष ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

निरूपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

अन्वयार्थ : अन्तिम शरीर उपभोगरहित है ॥४४॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो अन्त में होता है वह अन्त्य कहलाता है।

शंका – वह अन्त का शरीर कौन है ?

समाधान – कर्मण। इन्द्रियरूपी नालियों के द्वारा शब्दादि के ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं। यह बात अन्त के शरीर में नहीं पायी जाती; अतः वह निरूपभोग है। विग्रहगतिमें लब्धिरूप भावेन्द्रिय के रहते हुए भी वहाँ द्रव्येन्द्रियकी रचना न होनेसे शब्दादिकका उपभोग नहीं होता।

शंका – तैजस शरीर भी निरूपभोग है, इसलिए वहाँ यह क्यों कहते हो कि अन्त का शरीर निरूपभोग है ?

समाधान – तैजस शरीर योग में निमित्त भी नहीं होता, इसलिए इसका उपभोगके विचार में अधिकार नहीं है।

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाले इन जन्मों में क्या सामान्य से सब शरीर उत्पन्न होते हैं या इसमें कुछ विशेषता है। इस बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं -

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

अन्वयार्थ : पहला शरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से पैदा होता है ॥४५॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें जिस क्रमसे निर्देश किया तदनुसार यहाँ आद्यपदसे औदारिक शरीरका ग्रहण करना चाहिए। जो शरीर गर्भजन्म से और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है वह सब औदारिक शरीर है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। इसके अनन्तर जिस शरीरका निर्देश किया है उसकी उत्पत्ति किस जन्म से होती है अब इस बातका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

अन्वयार्थ : वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता है ॥४६॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो उपपादमें होता है उसे औपपादिक कहते हैं। इस प्रकार उपपाद जन्मसे पैदा होनेवाले शरीर को वैक्रियिक जानना चाहिए। यदि जो शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है वह वैक्रियिक है तो जो शरीर उपपाद जन्म से नहीं पैदा होता उसमें वैक्रियिकपन नहीं बन सकता। अब इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

अन्वयार्थ : तथा लब्धि से भी पैदा होता है ॥४७॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें 'च' शब्द आया है। उससे वैक्रियिक शरीरका सम्बन्ध करना चाहिए। तपविशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते हैं। इस प्रकारकी लब्धिसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है। वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी होता है ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए। क्या यही शरीर लब्धिकी अपेक्षासे होता है या दूसरा शरीर भी होता है। अब इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

तैजसमपि ॥४८॥

अन्वयार्थ : तैजस शरीर भी लब्धि से पैदा होता है ॥४८॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें 'अपि' शब्द आया है। उससे 'लब्धिप्रत्ययम्' पद का ग्रहण होता है। तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है यह इस सूत्रका भाव है। वैक्रियिक शरीरके पश्चात् जिस शरीरका उपदेश दिया है उसके स्वरूपका निश्चय करनेके लिए और उसके स्वामीका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

अन्वयार्थ : आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयत के ही होता है ॥४९॥

सर्वार्थसिद्धि :

शुभकर्मका कारण होने से इसे शुभ कहा है। यह शरीर आहारक काययोगरूप शुभकर्मका कारण है, इसलिए आहारक शरीर शुभ कहलाता है। यहाँ कारणमें कार्यका उपचार है। जैसे अन्नमें प्राणका उपचार करके अन्नको प्राण कहते हैं। विशुद्धकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहा है। तात्पर्य यह है कि जो चित्र-विचित्र न होकर निर्दोष है ऐसे विशुद्ध अर्थात् पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहते हैं। यहाँ कार्य में कारणका उपचार है। जैसे तन्तुओंमें कपासका उपचार करके तन्तुओं को कपास कहते हैं। दोनों ओरसे व्याघात नहीं होता, इसलिए यह अव्याघाती है। तात्पर्य यह है कि आहारक शरीरसे अन्य पदार्थका व्याघात नहीं होता और अन्य पदार्थसे आहारक शरीरका व्याघात नहीं होता। आहारक शरीरके प्रयोजनका समुच्चय करने के लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है। यथा – आहारक शरीर कदाचित् लब्धि-विशेषके सद्भावको जतानेके लिए, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थका निश्चय करनेके लिए और संयमकी रक्षा करनेके लिए उत्पन्न होता है। सूत्रमें 'आहारक' पद आया है उससे पूर्व में कहे गये आहारक शरीरको दुहराया है। जिस समय जीव आहारक शरीरकी रचना का आरम्भ करता है उस समय वह प्रमत्त हो जाता है, इसलिए सूत्रमें प्रमत्तसंयतके ही आहारक शरीर होता है यह कहा है। इष्ट अर्थके निश्चय करनेके लिए सूत्रमें 'एवकार' पदको ग्रहण किया है। जिससे यह जाना जाय कि आहारक शरीर प्रमत्तसंयतके ही होता है अन्यके नहीं किन्तु यह न जाना जाय कि प्रमत्तसंयतके आहारक ही होता है। तात्पर्य यह है कि प्रमत्तसंयतके औदारिक आदि शरीरोंका निराकरण न हो, इसलिए प्रमत्तसंयत पदके साथ ही एवकार पद लगाया है।

इस प्रकार इन शरीरोंको धारण करनेवाले संसारी जीवोंके प्रत्येक गतिमें क्या तीनों लिंग होते हैं या लिंगका कोई स्वतन्त्र नियम है ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

राजवार्तिक :

दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थ निर्णयलक्षणमाहारकम्।

= न तो आहारक शरीर किसीका व्याघात करता है, न किसीसे व्याघातित ही होता है, इसलिए अव्याघाती है। सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिए आहारक शरीर होता है।

यदा आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमतो भवतीति प्रमत्तसंयतस्येत्युच्यते।

= जिस समय मुनि आहारक शरीरकी रचना करता है, उस समय प्रमत्तसंयत हो होता है।

प्रमत्तसंयतस्यैवाहरकं नान्यस्य।

= प्रमत्तसंयतके ही आहारक शरीर होता है।

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

अन्वयार्थ : नारक और संमूर्च्छिन नपुंसक होते हैं ॥५०॥

सर्वार्थसिद्धि :

नरकों का कथन आगे करेंगे। जो नरकों में उत्पन्न होते हैं वे नारकी कहलाते हैं। जो संमूर्च्छिन जन्मसे पैदा होते हैं वे संमूर्च्छिन कहलाते हैं। सूत्रमें नारक और संमूर्च्छिन इन दोनों पदोंका द्वन्द्वसमास है। चारित्रमोहके दो भेद हैं – कषाय और नोकषाय। इनमें-से नोकषाय के भेद नपुंसकवेद के उदयसे और अशुभ नामकर्मके उदयसे उक्त जीव स्त्री और पुरुष न होकर नपुंसक होते हैं। यहाँ ऐसा नियम जानना कि नारक और संमूर्च्छिन नपुंसक ही होते हैं। इन जीवोंके मनोज्ञ शब्द, गन्ध, रूप, रस और स्पर्शके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुष विषयक थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता है।

यदि उक्त जीवोंके नपुंसकवेद निश्चित होता है तो यह अर्थात् सिद्ध है कि इनसे इतिरिक्त अन्य संसारी जीव तीन वेदवाले होते हैं। इसमें भी जिनके नपुंसकवेदका अत्यन्त अभाव है उनका कथन करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

न देवाः ॥५१॥

अन्वयार्थ : देव नपुंसक नहीं होते ॥५१॥

सर्वार्थसिद्धि :

शुभगति नामकर्मके उदयसे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी जो निरतिशय सुख है उसका देव अनुभव करते हैं इसलिए उनमें

नपुंसक नहीं होते।

इनसे अतिरिक्त शेष जीव कितने लिंगवाले होते हैं, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं –

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

अन्वयार्थ : शेष के सब जीव तीन वेदवाले होते हैं ॥५२॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनके तीन वेद होते हैं वे तीन वेदवाले कहलाते हैं।

शंका – वे तीन वेद कौन हैं ? समाधान – स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

शंका – इनकी सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान – जो वेदा जाता है उसे वेद कहते हैं। इसीका दूसरा नाम लिंग है। इसके दो भेद हैं - द्रव्यलिंग और भावलिंग। जो योनि मेहन आदि नामकर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी स्थिति नोकषायके उदयसे प्राप्त होती है वह भाव लिंग है। स्त्रीवेदके उदयसे जिसमें गर्भ रहता है वह स्त्री है। पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है और नपुंसकवेदके उदयसे जो उक्त दोनों प्रकारकी शक्तिसे रहित है वह नपुंसक है। वास्तवमें ये तीनों रौढ़िक शब्द हैं और रूढ़ि में क्रिया व्युत्पत्तिके लिए ही होती है। यथा जो गमन करती है वह गाय है। यदि ऐसा न माना जाय और इसका अर्थ गर्भधारण आदि क्रियाप्रधान लिया जाय तो बालक और वृद्धोंके, तिर्यच और मनुष्योंके, देवोंके तथा कार्मणकाययोगमें स्थित जीवोंके गर्भधारण आदि क्रियाका अभाव होनेसे स्त्री आदि संज्ञा नहीं बन सकती है। ये तीनों वेद शेष जीवोंके अर्थात् गर्भजोंके होते हैं।

जो ये देवादिक प्राणी जन्म, योनि, शरीर और लिंगके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके बतलाये हैं वे विचित्र पुण्य और पापके वशीभूत होकर चारों गतियोंमें शरीरको धारण करते हुए यथाकाल आयुको भोगकर अन्य शरीरको धारण करते हैं या आयुको पूरा न करके भी शरीरको धारण करते हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

औपपादिक चरमोत्तम-देहाऽसंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ : उपपाद जन्मवाले, चरमोत्तम देहवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीव अनपवर्त्य अन्य आयु वाले होते हैं ॥५३॥

सर्वार्थसिद्धि :

उपपादजन्मवाले देव और नारकी हैं यह व्याख्यान कर आये। चरम शब्द अन्त्यवाची है। उत्तम शब्द का अर्थ उत्कृष्ट है। जिनका शरीर चरम होकर उत्तम है वे चरमोत्तम देहवाले कहे जाते हैं। जिनका संसार निकट है अर्थात् उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होनेवाले जीव चरमोत्तम देहवाले कहलाते हैं। असंख्येय परिमाण विशेष है जो संख्यात से परे है। तात्पर्य यह है कि पल्य आदि उपमा प्रमाणके द्वारा जिनकी आयु जानी जाती है वे उत्तरकुरु आदिमें उत्पन्न हुए तिर्यच और मनुष्य असंख्यात वर्षकी आयुवाले कहलाते हैं। उपघातके निमित्त विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर जो आयु घट जाती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है। इस प्रकार जिनकी आयु घट जाती है वे अपवर्त्य आयुवाले कहलाते हैं। इन औपपादिक आदि जीवोंकी आयु बाह्य निमित्तसे नहीं घटती यह नियम है तथा इनसे अतिरिक्त शेष जीवोंका ऐसा कोई नियम नहीं है। सूत्रमें जो उत्तम विशेषण दिया है वह चरम शरीरके उत्कृष्टपनको दिखलानेके लिए दिया है। यहाँ इसका और कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा 'चरमोत्तमदेहा' पाठके स्थानमें 'चरमदेहा' यह पाठ भी मिलता है।

राजवार्तिक :

अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः।६। न वा; चरमशब्दस्योत्तमविशेषणात्वात्।७। उत्तमग्रहणमेवेति चेत्; न; तदनिवृत्तेः।८। चरमग्रहणमेवेति चेत्; न; तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात्।९। ...चरमदेह। इति वा केषांचित् पाठः। एतेषां नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियमः। = प्रश्न-उत्तम देहवाले भी अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगों की अकाल मृत्यु सुनी जाती है, अतः यह लक्षण ही अव्यापी है। उत्तर-चरमशब्द उत्तम का विशेषण है, अर्थात् अन्तिम उत्तम देह वालों की अकाल मृत्यु नहीं होती। यदि केवल उत्तम पद देते तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है। यद्यपि केवल 'चरमदेहे' पद देने से कार्य चल जाता है, फिर भी उस चरम देह की सर्वोत्कृष्टता बताने के लिए उत्तम

विशेषण दिया है। कहीं 'चरमदेहाः' यह पाठ भी देखा जाता है। इनकी अकालमृत्यु कभी नहीं होती, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के लिए यह नियम नहीं है।

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्त्याभाव इति चेत्; न; द्रष्टृत्वादात्मफलादिवत्।१०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः। = प्रश्न-अप्राप्तकाल में मरण की अनुपलब्धि होने से आयु के अपवर्तन का अभाव है। उत्तर-जैसे प्याल आदि के द्वारा आम आदि को समय से पहले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरण काल से पहले भी उदीरणा के कारणों से आयु का अपवर्तन हो जाता है।

अधिकार-३ (जीवाधिकार)

**रत्न-शर्करा-बालुका-पंक-धूम-तमो-महातमः प्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥१॥**

अन्वयार्थ : रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश के सहारे स्थित हैं तथा क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्यादिक सूत्रोंमें नारक शब्द सुना है इसलिए पूछते हैं कि वे नारकी कौन हैं ? अतः नारकियोंका कथन करनेके लिए उनकी आधारभूत पृथिवियोंका निर्देश करते हैं-

'रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमाः' इनमें सब पदोंका परस्पर द्वन्द्व समास है। प्रभा शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। पृथिवियोंकी प्रभा क्रमसे रत्न आदिके समान होनेसे इनके रत्नप्रभा आदि नाम पड़े हैं। यथा - जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नोंकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा शर्कराके समान है वह शर्कराप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा बालुकाकी प्रभाके समान है वह बालुकाप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा कीचड़के समान है वह पंकप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा धुँवाके समान है वह धूमप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा अन्धकारके समान है वह तमःप्रभा भूमि है और जिसकी प्रभा गाढ़ अन्धकारके समान है वह महातमःप्रभा भूमि है। इस प्रकार इन नामोंकी व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए। सूत्रमें भूमि पदका ग्रहण अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिके बिना स्थित है उस प्रकार नारकियोंके निवासस्थान नहीं हैं। किन्तु वे भूमिके आश्रयसे अवस्थित हैं। इन भूमियोंके आलम्बनका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'घनाम्बुवात' आदि पद का ग्रहण किया है। अभिप्राय यह है कि ये भूमियाँ क्रमसे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आश्रयसे स्थित हैं इस बातके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' पद दिया है। ये सब भूमियाँ घनोदधिवातवलयके आश्रयसे स्थित हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधारसे स्थित है। घनवातवलय तनुवातवलयके आश्रयसे स्थित है। तनुवातवलय आकाशके आश्रयसे स्थित है और आकाश स्वयं अपने आधारसे स्थित है; क्योंकि वह आधार और आधेय दोनों है। ये तीनों वातवलय प्रत्येक बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। सूत्रमें 'सप्त' पदका ग्रहण दूसरी संख्या के निराकरण करनेके लिए दिया है। भूमियाँ सात ही हैं, न आठ हैं और न नौ हैं। ये भूमियाँ तिर्यक् रूपसे अवस्थित नहीं हैं। इस बातको दिखानेके लिए सूत्रमें 'अधोऽधः' यह वचन दिया है।

क्या इन भूमियोंमें सर्वत्र नारकियोंके निवास-स्थान हैं या कहीं-कहीं, इस बातका निश्चय करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं-

तासु त्रिंशत्पंचविंशति पंचदशदश-त्रि-पंचोनैक-नरक- शतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥२॥

अन्वयार्थ : उन भूमियों में क्रम से तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक हैं ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें, इस सूत्र-द्वारा क्रमसे नरकोंकी संख्या बतलायी गयी है।

रत्नप्रभामें तीस लाख नरक हैं। शर्कराप्रभामें पचीस लाख नरक हैं। वालुकाप्रभामें पन्द्रह लाख नरक हैं। पंकप्रभामें दस लाख नरक हैं। धूमप्रभामें तीन लाख नरक हैं। तमःप्रभामें पाँच कम एक लाख नरक हैं और महातमःप्रभामें पाँच नरक हैं। रत्नप्रभामें तेरह नरकपटल हैं। इससे आगे सातवीं भूमि तक दो-दो नरक पटल कम हैं। इसके अतिरिक्त और विशेषता लोकानुयोगसे जान लेनी चाहिए।

उन भूमियोंमें रहनेवाले नारकियोंमें क्या विशेषता है इस बातको बतलानेके लिए अब आगे सूत्र को कहते हैं-

नारका नित्याऽशुभतर-लेश्या-परिणामदेह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

अन्वयार्थ : नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रियावाले हैं ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

लेश्यादिकका पहले व्याख्यान कर आये हैं। 'अशुभतर' इस पदके द्वारा तिर्यचगतिमें प्राप्त होनेवाली **अशुभ लेश्या** आदिककी अपेक्षा और नीचे-नीचे अपनी गतिकी अपेक्षा लेश्यादिककी प्रकर्षता बतलायी है। अर्थात् तिर्यचोंमें जो लेश्यादिक हैं उनसे प्रथम नरकके नारकियोंके अधिक अशुभ हैं आदि। नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थात् निरन्तरवाची है। तात्पर्य यह है कि नारकियोंकी लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया निरन्तर अशुभ होते हैं। यथा, प्रथम और दूसरी पृथिवीमें कापोत लेश्या है। तीसरी पृथिवीमें ऊपरके भागमें कापोत लेश्या है और नीचेके भागमें नील लेश्या है। चौथी पृथिवीमें नील लेश्या है। पाँचवीं पृथिवीमें ऊपरके भागमें नील लेश्या है और नीचेके भागमें कृष्ण लेश्या है। छठी पृथिवीमें कृष्ण लेश्या है। और सातवीं पृथिवीमें परम कृष्ण लेश्या है। द्रव्य लेश्याएँ अपनी आयु तक एक सी कही गयी हैं। किन्तु भावलेश्याएँ अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं।

परिणाम से यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द लिये गये हैं। ये क्षेत्रविशेषके निमित्तसे अत्यन्त दुःखके कारण अशुभतर हैं।

नारकियोंके **शरीर** अशुभ नामकर्मके उदयसे होनेके कारण उत्तरोत्तर अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है, हुंड संस्थान है और देखनेमें बुरे लगते हैं। उनकी ऊँचाई प्रथम पृथिवीमें सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है। तथा नीचे-नीचे प्रत्येक पृथिवीमें वह दूनी-दूनी है।

नारकियोंके अभ्यन्तर कारण असाता वेदनीयका उदय रहते हुए अनादिकालीन शीत और उष्णरूप बाह्य निमित्तसे उत्पन्न हुई **तीव्र वेदना** होती है। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवीमें मात्र उष्ण वेदनावाले नरक हैं। पाँचवीं पृथिवीमें ऊपरके दो लाख नरक ऊष्ण वेदनावाले हैं। और नीचेके एक लाख नरक शीत वेदनावाले हैं। तथा छठी और सातवीं पृथिवी के नरक शीत वेदनावाले ही हैं।

नारकी 'शुभ विक्रिया करेंगे' ऐसा विचार करते हैं पर उत्तरोत्तर **अशुभ विक्रिया** को ही करते हैं। 'सुखकर हेतुओंको उत्पन्न करेंगे' ऐसा विचार करते हैं, परन्तु वे दुःखकर हेतुओंको ही उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये भाव नीचे-नीचे अशुभतर जानने चाहिए।

क्या इन नारकियोंके शीतोष्णजनित ही दुःख है या दूसरे प्रकारका भी दुःख है, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

परस्परोदीरित-दुःखाः ॥४॥

अन्वयार्थ : तथा वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःखवाले होते हैं ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – नारकी परस्पर एक-दूसरेको कैसे दुःख उत्पन्न करते हैं ?

समाधान – नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान है जिसे मिथ्यादर्शनके उदयसे विभंगज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानके कारण दूरसे ही दुःखके कारणोंको जानकर उनको दुःख उत्पन्न हो जाता है और समीपमें आने पर एक-दूसरेको देखनेसे उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है। तथा पूर्वभवका स्मरण होनेसे उनकी वैरकी गाँठ और दृढ़तर हो जाती है। जिससे वे कुत्ता और गीदड़के समान एक-दूसरे का घात करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। वे विक्रियासे तलवार, बसूला, फरसा, हाथसे चलानेका तीर, बर्छी, तोमर नामका अस्त्र विशेष, बरछा और हथौड़ा आदि अस्त्र-शस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ, पाँव और दाँतोंसे छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदिके द्वारा परस्पर अतितीव्र दुःखको उत्पन्न करते हैं।
जिन कारणोंसे दुःख उत्पन्न होता है वे क्या इतने ही हैं या और भी हैं ? अब इस बातका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अन्वयार्थ : और चौथी भूमि से पहले तक वे संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये दुःखवाले भी होते हैं ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

देवगति नामक नामकर्मके भेदोंमें एक असुर नामकर्म है जिसके उदयसे 'परान् अस्यन्ति' जो दूसरोंको फेंकते हैं उन्हें असुर कहते हैं। पूर्व जन्ममें किये गये अतितीव्र संक्लेशरूप परिणामोंसे इन्होंने जो पापकर्म उपार्जित किया उसके उदयसे ये निरन्तर क्लिष्ट रहते हैं इसलिए संक्लिष्ट असुर कहलाते हैं। सूत्रमें यद्यपि असुरोंको संक्लिष्ट विशेषण दिया है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सब असुर नारकियोंको दुःख उत्पन्न कराते हैं। किन्तु अम्बावरीष आदि कुछ असुर ही दुःख उत्पन्न कराते हैं। मर्यादाके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'प्राक् चतुर्थ्याः' यह विशेषण दिया है। इससे यह दिखलाया है कि ऊपरकी तीन पृथिवीयोंमें ही संक्लिष्ट असुर बाधाके कारण है, इसके आगे नहीं। सूत्रमें 'च' शब्द पूर्वोक्त दुःखके कारणोंका समुच्चय करनेके लिए दिया है। परस्पर खूब तपाया हुआ लोहेका रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लौहस्तम्भका आलिंगन, कूट सेमरके वृक्षपर चढ़ाना-उतारना, लोहेके घनसे मारना, बसूला और छुरासे तरासना, तपाये गये खारे तेलसे सींचना, तेलकी कढ़ाईमें पकाना, भाड़में भूँजना, वैतरणीमें डूबाना, यन्त्रसे पेलना आदिके द्वारा नारकियोंके परस्पर दुःख उत्पन्न कराते हैं। इस प्रकार छेदन, भेदन आदिके द्वारा उनका शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है तो भी उनका अकालमें मरण नहीं होता है, क्योंकि उनकी आयु घटती नहीं।

यदि ऐसा है तो यह कहिए कि उन नारकियोंकी कितनी आयु है ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अन्वयार्थ : उन नरकों में जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम है ॥ ६॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। जिससे उन नरकोंमें भूमिके क्रमसे एक सागरोपम आदि स्थितियोंका क्रमसे सम्बन्ध हो जाता है। रत्नप्रभामें एक सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शर्कराप्रभामें तीन सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। वालुकाप्रभामें सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। पंकप्रभामें दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। धूमप्रभामें सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। तमःप्रभामें बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और महातमःप्रभामें तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। 'परा' शब्दका अर्थ 'उत्कृष्ट' है। और 'सत्त्वानाम्' पद भूमियोंके निराकरणके लिए दिया है। अभिप्राय यह है कि भूमियोंमें जीवोंकी यह स्थिति है, भूमियोंकी नहीं।

सात भूमियोंमें फैले हुए अधोलोकका वर्णन किया। अब तिर्यग्लोकका कथन करना चाहिए।

शंका – तिर्यग्लोक यह संज्ञा क्यों है ?

समाधान – चूँकि स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र तिर्यक् प्रचयविशेषरूपसे अवस्थित हैं, इसलिए तिर्यग्लोक संज्ञा है। वे तिर्यक् रूपसे अवस्थित क्या हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप-समुद्रा ॥७॥

अन्वयार्थ : जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

जम्बूद्वीप आदिक द्वीप हैं और लवणोद आदिक समुद्र हैं। तात्पर्य यह है कि लोकमें जितने शुभ नाम हैं उन नामवाले वे द्वीप-समुद्र हैं। यथा- जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लवणोद समुद्र, धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र, नन्दीश्वरवर द्वीप, नन्दीश्वरवर समुद्र, अरुणवर द्वीप और अरुणवर समुद्र, इस प्रकार स्वयंभूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र जानने चाहिए।

अब इन द्वीप-समुद्रोंके विस्तार, रचना और आकारविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अन्वयार्थ : वे सभी द्वीप और समुद्र दूने-दूने व्यासवाले, पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्र को वेष्टित करने वाले और चूड़ी के आकार वाले हैं ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

द्वीप-समुद्रोंका विस्तार दूना-दूना है इस बातको दिखलानेके लिए सूत्रमें 'द्विर्द्विः' इस प्रकार वीप्सा अर्थमें अभ्यावृत्ति वचन है। प्रथम द्वीपका जो विस्तार है लवणसमुद्रका विस्तार उससे दूना है तथा दूसरे द्वीपका विस्तार इससे दूना है और समुद्रका इससे दूना है। इस प्रकार उत्तरोत्तर दूना-दूना विस्तार है। तात्पर्य यह है कि इन द्वीप-समुद्रोंका विस्तार दूना-दूना है, इसलिए सूत्रमें उन्हें दूने-दूने विस्तारवाला कहा है। ग्राम और नगरादिकके समान इन द्वीप-समुद्रोंकी रचना न समझी जाये इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः' यह वचन दिया है। अर्थात् वे द्वीप और समुद्र उत्तरोत्तर एक दूसरेको घेरे हुए हैं। सूत्रमें जो 'वलयाकृतयः' वचन दिया है वह चौकोर आदि आकारोंके निराकरण करनेके लिए दिया है।

अब पहले जम्बूद्वीपका आकार और विस्तार कहना चाहिए, क्योंकि दूसरे द्वीप समुद्रोंका विस्तार आदि तन्मूलक है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अन्वयार्थ : उन सबके बीच में गोल और एक लाख योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्य में नाभि के समान मेरु पर्वत है ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

'तन्मध्ये' पदका अर्थ है 'उनके बीचमें'।

शंका – किनके बीचमें ?

समाधान – पूर्वोक्त द्वीप और समुद्रोंके बीचमें।

नाभिस्थानीय होनेसे नाभि कहा है। जिसका अर्थ मध्य है। अभिप्राय यह है कि जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है, जो सुर्यके मण्डलके समान गोल है और जिसका एक लाख योजन विस्तार है ऐसा यह जम्बूद्वीप है।

शंका – इसे जम्बूद्वीप क्यों कहते हैं ?

समाधान – जम्बूवृक्षसे उपलक्षित होनेके कारण इसे जम्बूद्वीप कहते हैं। उत्तरकुरुमें अनादिनिधन, पृथिवीसे बना हुआ, अकृत्रिम और परिवार वृक्षोंसे युक्त जम्बूवृक्ष है, उसके कारण यह जम्बूद्वीप कहलाता है।

इस जम्बूद्वीपमें छह कुलपर्वतोंसे विभाजित होकर जो सात क्षेत्र हैं वे कौन-से हैं ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

भरतहैमवत-हरि-विदेह-रम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥

१० ॥

अन्वयार्थ : भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

क्षेत्रोंकी भरत आदि संज्ञाएँ अनादिकालसे चली आ रही हैं और अनिमित्तक हैं। इनमें-से भरत क्षेत्र कहाँ स्थित है ? हिमवान् पर्वतके दक्षिणमें और तीन समुद्रोंके बीचमें चढ़े हुए धनुषके आकारवाला भरत क्षेत्र है जो विजयार्ध और गंगा-सिन्धुसे विभाजित होकर छह खण्डोंमें बँटा हुआ है। क्षुद्र हिमवान् के उत्तरमें और महाहिमवान् के दक्षिणमें तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रके बीचमें हैमवत क्षेत्र है। निषधके दक्षिणमें और महाहिमवान् के उत्तरमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हरिक्षेत्र है। निषधके उत्तरमें और नीलके दक्षिणमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हरिक्षेत्र है। नीलके उत्तरमें और रुक्मीके दक्षिणमें तथा पूर्व पश्चिम समुद्रके बीचमें रम्यक क्षेत्र है। रुक्मीके उत्तरमें और शिखरीके दक्षिणमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हैरण्यवत क्षेत्र है। शिखरीके उत्तरमें और तीन समुद्रोंके बीचमें ऐरावत क्षेत्र है जो विजयार्द्ध और रक्ता रक्तोदा से विभाजित होकर छह खण्डोंमें बँटा हुआ है।

कुलपर्वत छह हैं यह पहले कह आये हैं, परन्तु कौन हैं और कहाँ स्थित हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नील-रुक्मि- शिखरिणो वर्षधर-पर्वताः ॥११॥

अन्वयार्थ : उन क्षेत्रों को विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

इन पर्वतोंका स्वभाव उन क्षेत्रोंका विभाग करना है, इसलिए इन्हें उनका विभाग करनेवाला कहा है। ये पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हैं। इसका यह भाव है कि इन्होंने अपने पूर्व और पश्चिम सिरेसे लवण समुद्रको स्पर्श किया है। ये हिमवान् आदि संज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और बिना निमित्तकी हैं। इन पर्वतोंके कारण क्षेत्रोंका विभाग होता है इसलिए इन्हें वर्षधर पर्वत कहते हैं। हिमवान् पर्वत कहाँ है अब इसे बतलाते हैं- भरत और हैमवत क्षेत्र की सीमापर हिमवान् पर्वत स्थित है। इसे क्षुद्र हिमवान् भी कहते हैं। यह सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला महाहिमवान् है। यह दो सौ योजन ऊँचा है। विदेहके दक्षिणमें और हरिवर्षके उत्तरमें निषध पर्वत है। यह चार सौ योजन ऊँचा है। इसी प्रकार आगेके तीन पर्वत भी अपने-अपने क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले जानने चाहिए। उनकी ऊँचाई क्रमशः चार सौ, दो सौ और सौ योजन जाननी चाहिए। इन सब पर्वतोंकी जड़ अपनी ऊँचाईका एक-चौथाई भाग है।

अब इन पर्वतोंके वर्णविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

हेमार्जुन-तपनीय वैडूर्य-रजत हेममयाः ॥१२॥

अन्वयार्थ : ये छहों पर्वत क्रम से सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना इनके समान रंगवाले हैं ॥ १२॥

सर्वार्थसिद्धि :

वे पर्वत क्रम से हेम आदि वर्णवाले जानने चाहिए। हिमवान् पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है। महाहिमवान् का रंग अर्जुनमय अर्थात् सफेद है। निषध पर्वतका रंग-तपाये गये सोनेके समान अर्थात् उगते हुए सूर्यके रंगके समान है। नील पर्वतका रंग वैडूर्यमय अर्थात् मोरके गलेकी आभावाला है। रुक्मी पर्वतका रंग रजतमय अर्थात् सफेद है और शिखरी पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है।

फिरभी इन पर्वतोंकी और विशेषता का ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

मणि-विचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अन्वयार्थ : इनके पार्श्व मणियों से चित्र-विचित्र हैं तथा वे ऊपर, मध्य और मूल में समान विस्तारवाले हैं ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

इन पर्वतोंके पार्श्व भाग नाना रंग और नाना प्रकार की प्रभा आदि गुणोंसे युक्त मणियोंसे विचित्र हैं, इसलिए सूत्रमें इन्हें

मणियोंसे विचित्र पार्श्ववाले कहा है। अनिष्ट आकारके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'उपरि' आदि पद रखे हैं। 'च' शब्द मध्यभागका समुच्चय करनेके लिए है। तात्पर्य यह है कि इनका मूलमें जो विस्तार है वही ऊपर और मध्यमें है। इन पर्वतोंके मध्यमें जो तालाब हैं उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

पद्ममहापद्मतिगिच्छकेशरि महापुण्डरीकपुण्डरीका- हृदास्तेषामुपरि ॥१४॥

अन्वयार्थ : इन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये तालाब हैं ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह तालाब हैं जो उन हिमवान् आदि पर्वतोंपर क्रमसे जानना चाहिए।

इनमें-से पहले तालाबके आकार-विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

प्रथमो योजन-सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो हृदः । ॥१५॥

अन्वयार्थ : पहला तालाब एक हजार योजन लम्बा और इससे आधा चौड़ा है ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

पद्म नामक तालाब पूर्व और पश्चिम एक हजार योजन लम्बा तथा उत्तर और दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका तलभाग वज्रसे बना हुआ है। तथा इसका तट नाना प्रकारके मणि और सोनेसे चित्रविचित्र है।

अब इसकी गहराई दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अन्वयार्थ : तथा दस योजन गहरा है ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

अवगाह, अधःप्रवेश और निम्नता ये एकार्थवाची नाम है। पद्म तालाबकी गहराई दस योजन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। इसके बीचमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

अन्वयार्थ : इसके बीच में एक योजन का कमल है ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें जो 'योजनम्' पद दिया है उससे एक योजन प्रमाण लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कमलका पत्ता एक कोस लम्बा है और उसकी कर्णिकाका विस्तार दो कोसका है, इसलिए कमल एक योजन लम्बा और एक योजन विस्तारवाला है। इस कमलकी नाल जलतल से दो कोस ऊपर उठी है और इसके पत्तोंकी उतनी ही मोटाई है। इस प्रकार यह कमल जानना चाहिए।

अब दूसरे तालाब और कमलोंकी लम्बाई आदिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तद् द्विगुण-द्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

अन्वयार्थ : आगे के तालाब और कमल दूने-दूने हैं ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें जो 'तत्' पद आया है उससे तालाब और कमल दोनोंका ग्रहण किया है। आगेके तालाब और कमल दूने-दूने हैं इस व्याप्तिका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'तद्विगुणद्विगुणाः' कहा है।

शंका – ये तालाब और कमल किसकी अपेक्षा दूने हैं ?

समाधान – लम्बाई आदिकी अपेक्षा। पद्म तालाब की जो लम्बाई, विस्तार और गहराई है महापद्म तालाबकी लम्बाई, विस्तार और गहराई इससे दूनी है। इससे तिगिंछ तालाबकी लम्बाई, विस्तार और गहराई दूनी है।

शंका – कमल क्या है ?

समाधान – ये भी लम्बाई आदिकी अपेक्षा दूने-दूने हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए।

इनमें निवास करनेवाली देवियोंके नाम, आयु और परिवारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री-ही-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिक परिषत्काः ॥१९॥

अन्वयार्थ : इनमें श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ सामानिक और परिषद् देवों के साथ निवास करती हैं। तथा इनकी आयु एक पल्योपम है ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

इन कमलोंकी कर्णिकाके मध्यमें शरत्कालीन निर्मल पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिको हरनेवाले एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे महल हैं। उनमें निवास करनेवाली श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामवाली देवियाँ क्रमसे पद्म आदि छह कमलोंमें जानना चाहिए। उनकी स्थिति एक पल्योपम की है इस पदके द्वारा उनकी आयुका प्रमाण कहा है। समान स्थानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। सामानिक और परिषत्क ये देव हैं। वे देवियाँ इनके साथ रहती हैं। तात्पर्य यह है कि मुख्य कमलके जो परिवार कमल हैं उनके महलों में सामानिक और परिषद् जाति के देव रहते हैं। जिन नदियोंसे क्षेत्रोंका विभाग हुआ है अब उन नदियोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

गंगासिन्धु रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता सीतासीतोदा- नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

अन्वयार्थ : इन भरत आदि क्षेत्रों में-से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बही हैं ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

ये नदियाँ हैं तालाब नहीं। वे नदियाँ अन्तरालसे हैं या पास-पास इस बातका खुलासा करने के लिए सूत्रमें 'तन्मध्यगाः' पद दिया है। इसका यह भाव है कि उन क्षेत्रोंमें या उन क्षेत्रोंमें-से होकर वे नदियाँ बही हैं। एक स्थान में सबका प्रसंग प्राप्त होता है, अतः इसका निराकरण करके दिशा विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अन्वयार्थ : दो-दो नदियों में-से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र को जाती है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्रमें 'दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्र में हैं' इस प्रकार वाक्यविशेष का सम्बन्ध कर लेनेसे एक क्षेत्रमें सब नदियोंके प्रसंग होनेका निराकरण हो जाता है। 'पूर्वाः पूर्वगाः' यह वचन दिशाविशेष का ज्ञान करानेके लिए दिया है। इन नदियोंमें जो प्रथम

नदियाँ हैं वे पूर्व समुद्रमें जाकर मिली हैं। सूत्रमें जो 'पूर्वगाः' पद है उसका अर्थ 'पूर्व समुद्रको जाती हैं' यह है।

शंका – पूर्वत्व किस अपेक्षासे है ?

समाधान – सूत्रमें किये गये निर्देशकी अपेक्षा।

शंका – यदि ऐसा है तो गंगा, सिन्धु आदि सात नदियाँ पूर्व समुद्रको जानेवाली प्राप्त होती है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि 'द्वयोः द्वयोः' इन पदों का सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि दो-दो नदियों में-से प्रथम-प्रथम नदी बहकर पूर्व समुद्रमें मिली है।

अब इतर नदियोंके दिशाविशेष का ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अन्वयार्थ : किन्तु शेष नदियाँ पश्चिम समुद्र को जाती हैं ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

दो-दो नदियोंमें जो शेष नदियाँ हैं वे बहकर पश्चिम समुद्रमें मिली हैं। 'अपरगाः' पद का अर्थ अपर समुद्र को जाती है यह है। उनमें-से पद्म तालाबसे उत्पन्न हुई और पूर्व तोरणद्वारसे निकली हुई गंगा नदी है। पश्चिम तोरणद्वारसे निकली हुई सिन्धु नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई रोहितास्या नदी है। महापद्म तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई रोहित नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई हरिकान्ता नदी है। तिगिंछ तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई हरित नदी है। और उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई सीतोदा नदी है। केसरि तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई सीता नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई नरकान्ता नदी है। महापुण्डरीक तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई नारी नदी है। तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई रूप्यकूला नदी है। पुण्डरीक तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई सुवर्णकूला नदी है। पूर्व तोरणद्वारसे निकली हुई रक्ता नदी है और पश्चिम तोरणद्वारसे निकली हुई रक्तोदा नदी है।

अब इनकी परिवार-नदियोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अन्वयार्थ : गंगा और सिन्धु आदि नदियों की चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – 'गंगा सिन्धु आदि' पदका ग्रहण किसलिए किया गया है ?

समाधान – नदियोंका ग्रहण करने के लिए।

शंका – उनका तो प्रकरण है ही, अतः 'गङ्गासिन्ध्वादि' पदके बिना ग्रहण किये ही उनका सम्बन्ध हो जाता है ?

समाधान – ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'अनन्तरका विधान होता है या प्रतिषेध' इस नियमके अनुसार पश्चिमकी ओर बहनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता है जो कि इष्ट नहीं, अतः सूत्रमें 'गङ्गासिन्ध्वादि' पद दिया है।

शंका – तो सूत्रमें 'गङ्गादि' इतने पद का ही ग्रहण रहे ?

समाधान – यदि 'गङ्गादि' इतने पदका ही ग्रहण किया जाये तो पूर्वकी ओर बहनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होवे जो भी इष्ट नहीं, अतः दोनों प्रकारकी नदियोंका ग्रहण करनेके लिए 'गङ्गासिन्ध्वादि' पदका ग्रहण किया है। यद्यपि 'गङ्गासिन्ध्वादि' इतने पदके ग्रहण करनेसे ही यह बोध हो जाता है कि ये नदियाँ हैं, फिर भी सूत्रमें जो 'नदी' पदका ग्रहण किया है वह 'द्विगुणा द्विगुणाः' इसके सम्बन्धके लिए किया है। गंगाकी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं। इसी प्रकार सिन्धुकी भी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं। इस प्रकार आगेकी परिवार नदियाँ विदेह पर्यन्त दूनी-दूनी होती गयी हैं। और इससे आगेकी परिवार नदियाँ आधी-आधी होती गयी हैं।

अब उक्त क्षेत्रोंके विस्तारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

भरतः षड्विंशति-पंचयोजनशत-विस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा-योजनस्य ॥२४॥

अन्वयार्थ : भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन है ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ टीकामें पहले 'षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः' पद का समास किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि भरतवर्ष पाँच सौ छब्बीस योजनप्रमाण विस्तार से युक्त है।

शंका – क्या इसका इतना ही विस्तार है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि इसका एक योजन का छह बटे उन्नीस योजन विस्तार और जोड़ लेना चाहिए।

अब इतर क्षेत्रोंके विस्तार विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तद् द्विगुण द्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥

अन्वयार्थ : विदेह पर्यन्त पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार भरत क्षेत्र के विस्तार से दूना-दूना है ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनका भरतसे दूना-दूना विस्तार है वे भरत से दूने-दूने विस्तारवाले कहे गये हैं। यहाँ 'तद् द्विगुणद्विगुणविस्ताराः' में बहुव्रीहि समास है।

शंका – वे दूने-दूने विस्तारवाले क्या हैं ?

समाधान – पर्वत और क्षेत्र।

शंका – क्या सबका दूना-दूना विस्तार है ?

समाधान – नहीं, किन्तु विदेह क्षेत्र तक दूना-दूना विस्तार है।

क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार क्रमसे किस प्रकार है अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

उत्तरा दक्षिण-तुल्याः ॥२६॥

अन्वयार्थ : उत्तर के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार दक्षिण के क्षेत्र और पर्वतों के समान है ॥२६॥

सर्वार्थसिद्धि :

'उत्तर' इस पदसे ऐरावत क्षेत्रसे लेकर नील पर्यन्त क्षेत्र और पर्वत लिये गये हैं। इनका विस्तार दक्षिण दिशावर्ती भरतादिके समान जानना चाहिए। पहले जितना भी कथन कर आये हैं उन सबमें यह विशेषता जाननी चाहिए। इससे तालाब और कमल आदिकी समानता लगा लेनी चाहिए।

यहाँ पर शंकाकार कहता है कि इन पूर्वोक्त भरतादि क्षेत्रों में मनुष्यों का अनुभव आदि क्या समान हैं या कुछ विशेषता है ? इस शंका का समाधान करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

अन्वयार्थ : भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह समयों की अपेक्षा वृद्धि और हास होता रहता है ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

वृद्धि और हास इन दोनों पदों में कर्मधारय समास है।

शंका – किनकी अपेक्षा वृद्धि और हास होता है ?

समाधान – उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीसम्बन्धी छह समयोंकी अपेक्षा।

शंका – किनका छह समयों की अपेक्षा वृद्धि और हास होता है ?

समाधान – भरत और ऐरावत क्षेत्र का। इसका यह मतलब नहीं कि उन क्षेत्रोंका वृद्धि और हास होता है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। किन्तु उन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंका वृद्धि और हास होता है। अथवा, 'भरतैरावतयोः' षष्ठी विभक्ति न

होकर अधिकरणमें यह निर्देश किया है जिससे इस प्रकार अर्थ होता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्योंकी वृद्धि और हास होता है।

शंका- यह वृद्धि और हास किंनिमित्तक होता है ?

समाधान- अनुभव, आयु और प्रमाण आदि निमित्तक होता है। अनुभव उपभोगको कहते हैं, जीवित रहनेके परिमाणको आयु कहते हैं और शरीरकी ऊँचाईको प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार इत्यादि कारणोंसे मनुष्योंका वृद्धि और हास होता है।

शंका – यह वृद्धि और हास किस निमित्तसे होते हैं ?

समाधान – ये कालके निमित्त से होते हैं। वह काल दो प्रकारका है- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। इनमें-से प्रत्येकके छह भेद हैं। ये दोनों काल सार्थक नामवाले हैं। जिसमें मनुष्योंके अनुभव आदिकी वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका हास होता है वह अवसर्पिणी है। अवसर्पिणीके छह भेद हैं-सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्पमा, दुष्पमसुषमा, दुष्पमा और अतिदुष्पमा। इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी अतिदुष्पमासे लेकर सुषमसुषमा तक छह प्रकार का है। अवसर्पिणी कालका परिमाण दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और उत्सर्पिणीका भी इतना ही है। ये दोनों मिलकर एक कल्पकाल कहे जाते हैं। इनमें-से सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य उत्तरकुरुके मनुष्योंके समान होते हैं। फिर क्रमसे हानि होनेपर तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य हरिवर्ष के मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होनेपर दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमदुष्पमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य हैमवतके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण दुष्पमसुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका दुष्पमा काल प्राप्त होता है। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुष्पमा काल प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी विपरीत क्रमसे जाननी चाहिए। इतर भूमियोंमें क्या अवस्था है अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अन्वयार्थ : भरत और ऐरावत के सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं ॥२८॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें 'ताभ्याम्' पदसे भरत और ऐरावत क्षेत्रका ग्रहण किया है। इन दोनों क्षेत्रोंसे शेष भूमियाँ अवस्थित हैं। उन क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल नहीं हैं।

इन भूमियोंमें मनुष्य क्या तुल्य आयुवाले होते हैं या कुछ विशेषता है इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं-

एकद्वित्रिपल्योपम-स्थितयो हैमवतक हरिवर्षक दैवकुरुवकाः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ : हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु के मनुष्यों की स्थिति क्रम से एक, दो और तीन पल्योपम प्रमाण है ॥२९॥

सर्वार्थसिद्धि :

हैमवत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैमवतक कहलाते हैं। यहाँ हैमवत शब्दसे 'वुज्' प्रत्यय करके हैमवतक शब्द बना है जिससे मनुष्योंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार आगेके हरिवर्षक और दैवकुरुवक इन दो शब्दोंमें जान लेना चाहिए। हैमवतक आदि तीन हैं और एक आदि तीन हैं। यहाँ इनका क्रमसे सम्बन्ध करते हैं जिससे यह अर्थ हुआ कि हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति एक पल्योपम है। हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति दो पल्योपम है और देवकुरुक्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति तीन पल्योपम है।

ढाई द्वीपमें जो पाँच हैमवत क्षेत्र हैं उनमें सदा सुषमदुष्पमा काल है। वहाँ मनुष्योंकी आयु एक पल्योपम है, शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष हैं, उनका आहार एक दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग नील कमलके समान है।

पाँच हरिवर्ष नाम के क्षेत्रोंमें सदा सुषमा काल रहता है। वहाँ मनुष्योंकी आयु दो पल्योपम है, शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है, उनका आहार दो दिनके अन्तरालसे होता है और शरीर का रंग शंखके समान सफेद है।

पाँच देवकुरु नामके क्षेत्रमें सदा सुषमसुषमा काल है। वहाँ मनुष्योंकी आयु तीन पल्योपम है, शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुष है। उनका भोजन तीन दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग सोनेके समान पीला है।

उत्तर दिशावर्ती क्षेत्रोंमें क्या अवस्था है इसके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं-

तथोत्तराः ॥३०॥

अन्वयार्थ : दक्षिण के समान उत्तर में है ॥३०॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिस प्रकार दक्षिणके क्षेत्रोंका व्याख्यान किया उसी प्रकार उत्तरके क्षेत्रोंका जानना चाहिए। हैरण्यवत क्षेत्रोंके मनुष्योंकी सब बातें हैमवतके मनुष्योंके समान हैं, रम्यक क्षेत्रके मनुष्योंकी सब बातें हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं और देवकुरु क्षेत्रके मनुष्योंकी सब बातें उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं।
पाँच विदेहोंमें क्या स्थिति है इसके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

अन्वयार्थ : विदेहों में संख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य हैं ॥३१॥

सर्वार्थसिद्धि :

सब विदेहोंमें संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते हैं। वहाँ सुषमदुःषमा कालके अन्तके समान काल सदा अवस्थित है। मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष होती है, वे प्रतिदिन आहार करते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसके सम्बन्धमें एक गाथा कही जाती है-
"पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं।
छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ।।"
अर्थ:- "एक पूर्वकोटिका प्रमाण सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना चाहिए।"
भरतक्षेत्रका विस्तार पहले कह आये हैं। अब प्रकारान्तरसे उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अन्वयार्थ : भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग है ॥३२॥

सर्वार्थसिद्धि :

एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विस्तारके एक सौ नब्बे भाग करनेपर जो एक भाग प्राप्त हो उतना भरतक्षेत्रका विस्तार है जो कि पूर्वोक्त पाँचसौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन होता है।
जो पहले जम्बूद्वीप कह आये हैं उसके चारों ओर एक वेदिका है। इसके बाद लवणसमुद्र है जिसका विस्तार दो लाख योजन है। इसके बाद धातकीखण्ड द्वीप है जिसका विस्तार चार लाख योजन है। अब इसमें क्षेत्र आदिकी संख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

अन्वयार्थ : धातकीखण्ड में क्षेत्र तथा पर्वत आदि जम्बूद्वीप से दूने हैं ॥३३॥

सर्वार्थसिद्धि :

भरत आदि क्षेत्रोंकी यहाँ आवृत्ति विवक्षित है।

शंका – सूत्रमें 'सुच्' प्रत्यय किसलिए किया है ?

समाधान – वाक्य पूरा करने के लिए जो क्रिया जोड़ी जाती है उसकी आवृत्ति बतलानेके लिए 'सुच्' प्रत्यय किया है। जैसे 'द्विस्तावान् अयं प्रासादः' यहाँ 'सुच्' प्रत्यय के रहने से यह प्रासाद दुमंजिला है यह समझा जाता है। इसी प्रकार धातकीखण्डमें 'सुच्' से भरतादिक दूने ज्ञात हो जाते हैं। यथा-अपने सिरे से लवणोद और कालोद को स्पर्श करनेवाले और दक्षिणसे उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतोंसे विभक्त होकर धातकीखण्ड द्वीपके दो भाग हो जाते हैं-पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड। इन पूर्व और पश्चिम दोनों खण्डोंके मध्यमें दो मन्दर अर्थात् मेरु पर्वत हैं। इन दोनों के दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वत हैं। इस प्रकार दो भरत दो हिमवान् इत्यादि रूपसे जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड द्वीपमें दूनी संख्या जाननी चाहिए। जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंका जो विस्तार है धातकीखण्ड द्वीपमें

हिमवान् आदि पर्वतोंका उससे दूना विस्तार है। चक्केमें जिस प्रकार आरे होते हैं उसी प्रकार ये पर्वत क्षेत्रोंके मध्यमें अवस्थित हैं। और चक्केमें छिद्रोंका जो आकार होता है यहाँ क्षेत्रोंका वही आकार है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष स्थित है धातकीखण्डद्वीपमें परिवार वृक्षोंके साथ वहाँ धातकी वृक्ष स्थित है। और इसके सम्बन्धसे द्वीपका नाम धातकीखण्ड प्रसिद्ध है। इसको घेरे हुए कालोद समुद्र है। जिसका घाट ऐसा मालूम देता है कि उसे टाँकीसे काट दिया हो और जिसका विस्तार आठ लाख योजन है। कालोदको घेरे हुए पुष्करद्वीप है जिसका विस्तार सोलह लाख योजन है। द्वीप और समुद्रोंका उत्तरोत्तर जिस प्रकार दूना दूना विस्तार बतलाया है उसी प्रकार यहाँ धातकीखण्ड द्वीपके क्षेत्र आदिकी संख्या दूनी प्राप्त होती है अतः विशेष निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

अन्वयार्थ : पुष्करार्द्ध में उतने ही क्षेत्र और पर्वत हैं ॥३४॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ 'द्वि' पदकी अनुवृत्ति होती है।

शंका - 'द्वि' इस पदकी किसकी अपेक्षा अनुवृत्ति होती है ?

समाधान - जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंकी अपेक्षा 'द्विः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है।

शंका - यह कैसे समझा जाता है ?

समाधान - व्याख्यानसे। जिसप्रकार धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदिका विस्तार कहा है उसी प्रकार पुष्करार्द्धमें हिमवान् आदिका विस्तार दूना बतलाया है। नाम वे ही हैं। दो इष्वाकार और दो मन्दर पर्वत पहलेके समान जानना चाहिए। जहाँ पर जम्बूद्वीपमें जम्बूवृक्ष है पुष्कर द्वीपमें वहाँ अपने परिवार वृक्षोंके साथ पुष्करवृक्ष हैं। इसीलिए इस द्वीपका पुष्करद्वीप यह नाम रूढ़ हुआ है।

शंका - इस द्वीपको पुष्करार्द्ध यह संज्ञा कैसे प्राप्त हुई ?

समाधान - मानुषोत्तर पर्वतके कारण इस द्वीपके दो विभाग हो गये हैं अतः आधे द्वीपको पुष्करार्द्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई। यहाँ शंकाकारका कहना है कि जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदिकी जो संख्या है उससे हिमवान् आदिकी दूनी संख्या आधे पुष्करद्वीपमें क्यों कही जाती है पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं कही जाती ? अब इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

अन्वयार्थ : मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं ॥३५॥

सर्वार्थसिद्धि :

पुष्करद्वीपके ठीक मध्यमें चूड़ीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है। उससे पहले ही मनुष्य हैं, उसके बाहर नहीं। इसलिए मानुषोत्तर पर्वतके बाहर पूर्वोक्त क्षेत्रोंका विभाग नहीं है। इस पर्वतके उस ओर उपपाद जन्मवाले और समुद्घातको प्राप्त हुए मनुष्योंको छोड़कर और दूसरे विद्याधर या ऋद्धिप्राप्त मुनि भी कदाचित् नहीं जाते हैं इसलिए इस पर्वतका मानुषोत्तर यह सार्थक नाम है। इस प्रकार जम्बूद्वीप आदि ढाई द्वीपोंमें और दो समुद्रोंमें मनुष्य जानना चाहिए।

विशेषार्थ - ढाई द्वीप और इनके मध्यमें आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत मनुष्यलोककी सीमापर स्थित होनेसे इसका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें रहते हैं, उनका बाहर जाना सम्भव नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि गर्भमें आनेके बाद मरण पर्यन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीरके साथ वे इस क्षेत्रसे बाहर नहीं जा सकते। सम्मूर्च्छन मनुष्य तो इसके औदारिक शरीरके आश्रयसे होते हैं, इसलिए उनका मनुष्यलोकके बाहर जाना कथमपि सम्भव नहीं है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी भी अवस्थामें मनुष्य इस क्षेत्रके बाहर नहीं पाये जाते हैं। ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं जिनके होनेपर मनुष्य इस क्षेत्रके बाहर पाये जाते हैं, यथा-

(1) जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीपके बाहर उत्पन्न होनेवाले हैं वे यदि मरणके पहले मारणान्तिक समुद्घात करते हैं तो इसके द्वारा उनका ढाई द्वीपके बाहर गमन देखा जाता है।

(2) ढाई द्वीपके बाहर निवास करनेवाले जो जीव मरकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं उनके मनुष्यायु और मनुष्य गतिनाम कर्मका उदय होनेपर भी ढाई द्वीपमें प्रवेश करनेके पूर्व तक उनका इस क्षेत्रके बाहर अस्तित्व देखा जाता है।

(3) केवलिसमुद्घातके समय उनका मनुष्यलोकके बाहर अस्तित्व देखा जाता है। इन तीन अपवादोंका छोड़कर और किसी अवस्थामें मनुष्योंका मनुष्यलोकके बाहर अस्तित्व नहीं देखा जाता। वे मनुष्य दो प्रकारके हैं अब ये बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

आर्या म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अन्वयार्थ : मनुष्य दो प्रकार के हैं-आर्य और म्लेच्छ ॥३६॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो गुणों या गुणवालोंके द्वारा माने जाते हैं-वे आर्य कहलाते हैं। उनके दो भेद हैं- ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकारके हैं- क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्र्यार्य और दर्शनार्य। बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धिके भेदसे ऋद्धिप्राप्त आर्य सात प्रकारके हैं। म्लेच्छ दो प्रकारके हैं-अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ। लवणसमुद्रके भीतर आठों दिशाओंमें आठ अन्तर्द्वीप हैं और उनके अन्तरालमें आठ अन्तर्द्वीप और हैं। तथा हिमवान् और शिखरी इन दोनों पर्वतोंके अन्तमें और दोनों विजयार्थ पर्वतोंके अन्तमें आठ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें-से जो दिशाओंमें द्वीप हैं वे वेदिकासे तिरछे पाँचसौ योजन भीतर जाकर हैं। विदिशाओं और अन्तरालों में जो द्वीप हैं वे पाँचसौ पचास योजन भीतर जाकर हैं। तथा पर्वतोंके अन्तमें जो द्वीप हैं वे छहसौ योजन भीतर जाकर हैं। दिशाओंमें स्थित द्वीपोंका विस्तार सौ योजन है। विदिशाओं और अन्तरालोंमें स्थित द्वीपोंका विस्तार उससे आधा अर्थात् पचास योजन है। तथा पर्वतोंके अन्तमें स्थित द्वीपोंका विस्तार पच्चीस योजन है पूर्व दिशा में एक टाँगवाले मनुष्य हैं। पश्चिम दिशामें पूँछवाले मनुष्य हैं। उत्तर दिशामें गूँगे मनुष्य हैं और दक्षिण दिशामें सींगवाले मनुष्य हैं। चारों विदिशाओंमें क्रमसे खरगोशके समान कानवाले, शष्कुली अर्थात् मछली अथवा पूड़ीके समान कानवाले, प्रावरणके समान कानवाले और लम्बे कानवाले मनुष्य हैं। आठों अन्तराल के द्वीपोंमें क्रमसे घोड़ेके समान मुखवाले, सिंहके समान मुखवाले, कुत्तोंके समान मुखवाले, भैंसाके समान मुखवाले, सुअरके समान मुखवाले, व्याघ्रके समान मुखवाले, कौआके समान मुखवाले और बन्दरके समान मुखवाले मनुष्य हैं। शिखरी पर्वतके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें मेघके समान मुखवाले और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य हैं। हिमवान् पर्वतके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें मछलीके समान मुखवाले और कालके समान मुखवाले मनुष्य हैं। उत्तर विजयार्थके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें हाथीके समान मुखवाले और दर्पणके समान मुखवाले मनुष्य हैं। तथा दक्षिण विजयार्थके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें गायके समान मुखवाले और मेढाके समान मुखवाले मनुष्य हैं। इनमें-से एक टाँगवाले मनुष्य गुफाओंमें निवास करते हैं और मिट्टीका आहार करते हैं तथा शेष मनुष्य फूलों और फलोंका आहार करते हैं और पेड़ों पर रहते हैं। इन सबकी आयु एक पल्योपम है। ये चौबीसों अन्तर्द्वीप जलकी सतहसे एक योजन ऊँचे हैं। इसी प्रकार कालोद समुद्रमें भी जानना चाहिए। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। इनसे अतिरिक्त जो शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक हैं वे सब कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

विशेषार्थ – षट्खण्डागममें मनुष्योंके दो भेद किये गये हैं- कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। अकर्मभूमि भोगभूमिका दूसरा नाम है। भोगभूमिका एक भेद कुभोगभूमि है। उसमें जन्म लेनेवाले मनुष्य ही यहाँ अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे गये हैं। शेष रहे शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि म्लेच्छ कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। इसी प्रकार आर्य भी क्षेत्रकी अपेक्षा दो भागोंमें विभक्त हैं-कर्मभूमिज आर्य और अकर्मभूमिज आर्य। तीस भोगभूमियोंके मनुष्य अकर्मभूमिज आर्य हैं और कर्मभूमिके आर्य कर्मभूमिज आर्य हैं। इनमें-से अकर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छों के अविरत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु कर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छ अणुव्रत और महाव्रतके भी अधिकारी हैं। इनके संयमासंयम और संयमस्थानों का विशेष व्याख्यान कषायप्राभूत लब्धिसार क्षपणासारमें किया है।

कर्मभूमियाँ कौन-कौन हैं, अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अन्वयार्थ : देवकुरु और उत्तरकुरु के सिवा भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियाँ हैं ॥३७॥

सर्वार्थसिद्धि :

भरत, ऐरावत और विदेह ये प्रत्येक पाँच-पाँच हैं। ये सब कर्मभूमियाँ कही जाती हैं। इनमें विदेहका ग्रहण किया है, इसलिए देवकुरु और उत्तरकुरुका भी ग्रहण प्राप्त होता है, अतः उसका निषेध करनेके लिए 'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' यह पद रखा है। अन्यत्र शब्द का अर्थ निषेध है। देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत और अन्तर्द्वीप ये भोगभूमियाँ कही जाती हैं।

शंका – कर्मभूमि यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

समाधान – जो शुभ और अशुभ कर्मों का आश्रय हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय है, फिरभी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय हैं। सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यहीं पर होता है। तथा पात्रदान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्म का आरम्भ यहीं पर होता है,

इसलिए भरतादिककी कर्मभूमि संज्ञा जाननी चाहिए। इतर क्षेत्रोंमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त भोगोंकी मुख्यता है, इसलिए वे भोगभूमियाँ कहलाती हैं।

विशेषार्थ – यह पहले ही बतला आये हैं कि भरतादि क्षेत्रोंका विभाग ढाई द्वीपमें ही है। जम्बूद्वीपमें भरतादि क्षेत्र एक-एक हैं और धातकीखण्ड व पुष्करार्धमें ये दो-दो हैं। इस प्रकार कुल क्षेत्र 35 होते हैं। उसमें भी उत्तरकुरु और देवकुरु विदेह क्षेत्रमें होकर भी अलग गिने जाते हैं, क्योंकि यहाँ उत्तम भोगभूमिकी व्यवस्था है, इसलिए पाँच विदेहोंके पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु इनको उक्त 35 क्षेत्रोंमें मिलानेपर कुल 45 क्षेत्र होते हैं। इनमें-से 5 भरत, 5 विदेह और 5 ऐरावत ये 15 कर्मभूमियाँ हैं और शेष 30 भोगभूमियाँ हैं। ये सब कर्मभूमि और भोगभूमि क्यों कहलाती हैं इस बातका निर्देश मूल टीकामें किया ही है।

उक्त भूमियोंमें स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

नृस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

अन्वयार्थ : मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है ॥३८॥

सर्वार्थसिद्धि :

'त्रिपल्योपमा' इस वाक्यमें 'त्रि' और 'पल्योपम' का बहुव्रीहि समास है। मुहूर्तके भीतरके कालको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। पर और अपर के साथ इन दोनोंका क्रमसे सम्बन्ध है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तथा मध्यकी स्थिति अनेक प्रकारकी है। पल्य तीन प्रकारका है-व्यवहार पल्य, उद्धारपल्य और अद्धारपल्य। ये तीनों सार्थक नाम हैं। आदि के पल्यको **व्यवहार पल्य** कहते हैं, क्योंकि वह आगेके दो पल्योंके व्यवहारका मूल है। इसके द्वारा और किसी वस्तुका परिमाण नहीं किया जाता। दूसरा **उद्धारपल्य** है। उद्धारपल्य में-से निकाले गये लोमके छेदोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी गिनती की जाती है। तीसरा **अद्धारपल्य** है। अद्धार और कालस्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं। इनमें-से अब प्रथम पल्यका प्रमाण कहते हैं- जो इस प्रकार है-प्रमाणांगुलकी गणनासे एक-एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे तीन गढ़ा करो और इनमें-से एकमें एक दिन से लेकर सात दिन तक के पैदा हुए मेढ़े के रोमोंके अग्र भागोंको ऐसे टुकड़े करके भरो जिससे कैची से उनके दूसरे टुकड़े न किये जा सकें। अनन्तर सौ-सौ वर्षमें एक-एक रोमका टुकड़ा निकालो। इस विधिसे जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो वह सब काल व्यवहार पल्योपम नामसे कहा जाता है। अनन्तर असंख्यात करोड़ वर्षोंके जितने समय हों उतने उन लोमच्छेदोंमें-से प्रत्येक खण्ड करके उनसे दूसरे गढ़ेके भरनेपर वह गढ़ा खाली हो जाय उतने कालका नाम उद्धार पल्योपम है। इन दस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धार सागरोपम काल होता है। तथा ढाई उद्धार सागरके जितने रोमखण्ड हों उतने सब द्वीप और समुद्र हैं। अनन्तर सौ वर्षोंके जितने समय हों उतने उद्धारपल्यके रोमखण्डोंमें-से प्रत्येकके खण्ड करके और उनसे तीसरे गढ़े के भरनेपर एक अद्धारपल्य होता है। और इनमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमके निकालनेपर जितने समयमें वह गढ़ा खाली हो जाय उतने कालका नाम अद्धारपल्योपम है। तथा ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धारपल्योंका एक अद्धारसागर होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धारसागरोंका एक अवसर्पिणी काल होता है और उत्सर्पिणी भी इतना ही बड़ा होता है।

इस अद्धारपल्यके द्वारा नारकी, तिर्यच, देव और मनुष्योंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति की गणना करनी चाहिए। संग्रह गाथा भी कही है-

'व्यवहार, उद्धार और अद्धार ये तीन पल्य जानने चाहिए। संख्याका प्रयोजक व्यवहार पल्य है। दूसरेसे द्वीप-समुद्रोंकी गणना की जाती है और तीसरे अद्धारपल्यमें कर्मोंकी स्थितिका लेखा लिया जाता है।'

जिसप्रकार मनुष्योंकी यह उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति है उसी प्रकार-

राजवार्तिक :

जघन्य संख्येयासंख्येय (देखो असंख्यात) को विरलन कर पूर्वोक्त विधिसे (देखे नीचे) तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर भी उत्कृष्ट संख्येयासंख्येय नहीं होता। इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव व लोकाकाशके प्रदेश, प्रत्येक शरीर, बादर निगोद शरीर ये छहों असंख्येय, स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, योगके अविभाग प्रतिच्छेद, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयों को जोड़कर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्टसंख्येयासंख्येयको उल्लंघनकर जघन्यपरीतानन्तमें जाकर स्थित होता है। ...यह जो जघन्य परीतानन्त उसको पूर्ववत् वर्गितसंवर्गित करनेपर उत्कृष्ट परीतानन्तको उल्लंघनकर जघन्य युक्तानन्त में जाकर गिरता है। उसमें-से एक कम करनेपर उत्कृष्ट परीतानन्त हो जाता है। मध्यम परीतानन्त इन दोनों सीमाओं के बीचमें अजघन्य व अनुत्कृष्ट रूपवाला है।

जघन्य परीतानन्त पूर्ववत् वर्गित, संवर्गित उत्कृष्ट परीतानन्त को उल्लंघन कर जघन्य युक्तानन्त में जाकर स्थित होता है। ... इस जघन्य युक्तानन्त को विरलन कर प्रत्येकपर जघन्ययुक्तानन्त को रख उन्हें परस्पर वर्ग करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त को उल्लंघनकर जघन्य परीतानन्त (जघन्य युक्तानन्त) को प्राप्त होता है अर्थात् (जघन्य युक्तानन्त) यह राशि जघन्य अनन्तानन्त के बराबर है। इसमें से एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। मध्यम युक्तानन्त इन दोनों की सीमाओं के बीचमें अजघन्य व अनुत्कृष्ट रूप है।

जघन्य युक्तानन्तको विरलन कर प्रत्येकपर जघन्य युक्तानन्त को रख उन्हें परस्पर वर्ग (जघन्य युक्तानन्त) करनेपर अर्थात् (जघन्य युक्तानन्त) उत्कृष्ट युक्तानन्त से आगे जघन्य अनन्तानन्त में जाकर प्राप्त होता है.... इस जघन्य अनन्तानन्त को पूर्ववत् विरलीकृत कर तीन बार वर्गित संवर्गित करनेपर उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त नहीं होता है। उसमें सिद्ध जीव, निगोद जीव, वनस्पति काय वाले जीव, अतीत व अनागत कालके समय, सर्व पुद्गल, सर्व आकाश प्रदेश, धर्म व अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के अगुरुलघु गुणों के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद जोड़े। फिर तीन बार वर्गित संवर्गित करें। तब भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता है। अतः उसमें केवलज्ञान व केवलदर्शन को (अर्थात् इनके सर्व अविभागी प्रतिच्छेदों को) जोड़ें, तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। उसमें-से एक कम करनेपर अजघन्योत्कृष्ट या मध्यम अनन्तानन्त होता है।

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

अन्वयार्थ : तिर्यचों की स्थिति भी उतनी ही है ॥३९॥

सर्वार्थसिद्धि :

तिर्यचों की योनिको तिर्यग्योनि कहते हैं। इसका अर्थ तिर्यचगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ जन्म है। जो तिर्यचयोनिमें पैदा होते हैं वे तिर्यग्योनिज कहलाते हैं। इन तिर्यचयोनिसे उत्पन्न जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम और जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तथा बीचकी स्थितिके अनेक विकल्प हैं।

विशेषार्थ – स्थिति दो प्रकारकी होती है-भवस्थिति और कायस्थिति। एक पर्यायमें रहनेमें जितना काल लगे वह भवस्थिति है। तथा विवक्षित पर्यायके सिवा अन्य पर्यायमें उत्पन्न न होकर पुनः पुनः उसी पर्यायमें निरन्तर उत्पन्न होने से जो स्थिति प्राप्त होती है वह कायस्थिति है। यहाँ मनुष्यों और तिर्यचोंकी भवस्थिति कही गयी है इनकी जघन्य कायस्थिति जघन्य भवस्थिति प्रमाण है, क्योंकि एक बार जघन्य आयुके साथ भव पाकर उसका अन्य पर्यायमें जाना संभव है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है। पृथक्त्व यह रौढिक संज्ञा है। मुख्यतः इसका अर्थ तीनसे ऊपर और नौसे नीचे होता है। यहाँ बहुत अर्थमें पृथक्त्व शब्द आया है। तिर्यचोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनोंके बराबर है। यह तिर्यचगति सामान्यकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति कही है। यदि अन्य गतिसे आकर कोई जीव निरन्तर तिर्यचगतिमें परिभ्रमण करता रहता है तो अधिकसे अधिक इतने काल तक वह तिर्यचगति में रह सकता है। इसके बाद वह नियमसे अन्य गतिमें जन्म लेता है। वैसे तिर्यचोंके अनेक भेद हैं, इसलिए उन भेदोंकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति जुदी-जुदी है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

अधिकार-४ (जीवाधिकार)

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

अन्वयार्थ : देव चार निकाय वाले हैं ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

'देव और नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है' इत्यादि सूत्रों में अनेक बार देव शब्द आया है। किन्तु वहाँ यह न जान सके कि देव कौन है। और वे कितने प्रकार के होते हैं। अतः इसका निर्णय करने के लिए आगे के सूत्र कहते हैं-

अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्म का उदय होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं। वे देव कहलाते हैं।

शंका – 'देवश्चतुर्णिकायः' इस प्रकार एकवचन रूप निर्देश करना उचित था, क्योंकि जाति का कथन कर देने से बहुत का कथन हो ही जाता है।

समाधान – देवों के अन्तर्गत अनेक भेद हैं। इस बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि देवों के इन्द्र सामानिक आदि की अपेक्षा अनेक भेद हैं, और स्थिति आदि की अपेक्षा भी अनेक भेद हैं अतः उनको सूचित करने के लिए बहुवचन का निर्देश किया है। अपने अवान्तर कर्मों से भेद को प्राप्त होने वाले देवगति नाम कर्म के उदय की सामर्थ्य से जो संग्रह किये जाते हैं, वे निकाय कहलाते हैं। निकाय शब्द का अर्थ संघात है। 'चतुर्णिकाय' में बहुव्रीहि समास है, जिसमें देवों के मुख्य निकाय चार ज्ञात होते हैं।

शंका – इन चार निकायों के क्या नाम हैं ? **समाधान** – भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । अब इनकी लेश्याओं का निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

अन्वयार्थ : आदि के तीन निकायों में पीत पर्यन्त चार लेश्याएँ हैं ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

अन्त के तीन निकायों का, मध्य के निकायों का या विपरीत क्रम से निकायों का ग्रहण न समझ लिया जाय, इसलिय सूत्रमें 'आदितः' पद दिया है। दो और एक निकाय के निराकरण करने के लिए 'त्रि' पद का ग्रहण किया है।

शंका – 'त्रि' पद से चार की निवृत्ति क्यों नहीं होती है?

समाधान – सूत्र में जो 'आदितः' पद दिया है। इससे ज्ञात होता है कि 'त्रि' पद चार की निवृत्ति के लिए नहीं है। लेश्याएँ छह कहीं हैं। उनमें-से चार लेश्याओं के ग्रहण करने के लिए सूत्र में 'पीतान्त' पदका ग्रहण किया है। यहाँ पीत से तेज लेश्या लेनी चाहिए। यहां पहले पीत और अन्त इन शब्दों में और अनन्तर पीतान्त और लेश्या शब्दों में बहुव्रीहि समास है। इसका यह अभिप्राय है कि आदि के भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन निकायों में देवों के कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

विशेषार्थ – यों तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-देवों के एक पीत लेश्या ही होती है। किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के मध्यम अंश से मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच और पीत लेश्या के मध्यम अंश से मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। यतः ऐसे कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यचों के मरते समय प्रारम्भ की तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं अतः इनके मरकर भवनत्रिकों में उत्पन्न होने पर वहाँ भी अपर्याप्त अवस्था में ये तीन अशुभ लेश्याएँ पायी जाती हैं। इसी से इनके पीत तक चार लेश्याएँ कही हैं। अभिप्राय यह है कि भवनत्रिकों के अपर्याप्त अवस्था में पीत तक चार लेश्याएँ और पर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या होती है।

अब इन निकायों के भीतरी भेद दिखलाने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं -

दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पा कल्पोपपन्न पर्यन्ताः ॥३॥

अन्वयार्थ : वे कल्पोपपन्न देव तक के चार निकाय के देव क्रम से दस, आठ, पांच और बारह भेद वाले हैं ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

देव निकाय चार है। और दश आदि संख्या शब्द चार है। अतः इनका क्रम से संबन्ध जानना चाहिए। यथा- भवनवासी दस प्रकार के हैं, व्यन्तर आठ प्रकार के हैं। ज्योतिषी पांच प्रकार के हैं, और वैमानिक बारह प्रकार के हैं। पूर्वोक्त कथन से सब वैमानिक बारह भेदों में आ जाते हैं। अतः ग्रैवेयक आदि के निराकरण करने के लिए सूत्र में 'कल्पोपपन्नपर्यन्ताः' यह पद दिया है।

शंका – कल्प इस संज्ञा का क्या कारण है ?

समाधान – जिनमें इन्द्र आदि दस प्रकार कल्पे जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादिक की कल्पना ही कल्प संज्ञा का कारण है। यद्यपि इन्द्रादिक की कल्पना भवनवासियों में भी सम्भव है फिर भी रूढि से कल्प शब्द का व्यवहार वैमानिकों में ही किया जाता है। जो कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। तथा जिनके अन्त में कल्पोपपन्न देव हैं उनको कल्पोपपन्नपर्यन्त कहा है।

प्रकारान्तरसे उनके भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

इंद्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्ष-लोकपालानीक- प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥४॥

अन्वयार्थ : उक्त दस आदि भेदों में-से प्रत्येक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक रूप हैं ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो अन्य देवोंमें असाधारण अणिमादि गुणों के सम्बन्ध से शोभते हैं वे **इन्द्र** कहलाते हैं।
आज्ञा और ऐश्वर्य के सिवा जो स्थान, आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि हैं वे समान कहलाते हैं। इस समान में जो होते हैं वे **सामानिक** कहलाते हैं। ये पिता, गुरु और उपाध्याय के समान सबसे बड़े हैं।
जो मन्त्री और पुरोहित के समान हैं वे त्रायस्त्रिंश हैं, ये तैंतीस ही होते हैं इसलिए **त्रायस्त्रिंश** कहलाते हैं।
जो सभा में मित्र और प्रेमीजनों के समान होते हैं, वे **पारिषद** कहलाते हैं।
जो अंगरक्षक के समान हैं वे **आत्मरक्ष** कहलाते हैं।
जो रक्षकके समान अर्थचर हैं, वे **लोकपाल** कहलाते हैं।
जैसे यहाँ सेना है उसी प्रकार सात प्रकार के पदाति आदि **अनीक** कहलाते हैं।
जो गाँव और शहरों में रहने वालों के समान हैं। उन्हें **प्रकीर्णक** कहते हैं।
जो दास के समान वाहन आदि कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे **आभियोग** कहलाते हैं।
जो सीमाके पास रहने वालों के समान हैं वे **किल्बिषिक** कहलाते हैं। किल्बिष पाप को कहते हैं इसकी जिनके बहुलता होती है। वे किल्बिषिक कहलाते हैं।
चारों निकायों में से प्रत्येक निकाय में ये इन्द्रादिक दस भेद उत्सर्ग से प्राप्त हुए, अतः जहाँ अपवाद है। उसका कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः ॥५॥

अन्वयार्थ : किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों से रहित है ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

व्यन्तर और ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों के सिवा शेष आठ भेद जानना चाहिए।
उन निकायों में क्या एक एक इन्द्र है या और दूसरा कोई नियम है इस बात को बतलाने लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं-

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

अन्वयार्थ : प्रथम दो निकायो में दो दो इन्द्र हैं ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

पूर्व के दो निकायों से भवनवासी और व्यन्तर ये दो निकाय लेना चाहिए।

शंका – दूसरे निकाय को पूर्व कैसे कहा जा सकता है?

समाधान – प्रथम के समीपवर्ती होने से दूसरे निकाय को उपचार से पूर्व कहा है। 'द्वीन्द्राः' इस पद में वीप्सारूप अर्थ गर्भित है, अतः इसका विग्रह इस प्रकार हुआ कि 'द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषो ते द्वीन्द्राः' जैसे सप्तपर्ण और अष्टापद। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सप्तपर्ण और अष्टापद इन पदों में वीप्सारूप अर्थ गर्भित है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है भवनवासियों में असुरकुमारों के चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारों के धरण और भूतानन्द ये दो इन्द्र हैं। विद्युत्कुमारों के हरि-सिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं। सुपूर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं। वातकुमारों के वैलम्ब और प्रभञ्जन ये दो इन्द्र हैं। स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष दो इन्द्र हैं। उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं। दीपकुमारों के पूर्ण और विशिष्ट ये दो इन्द्र हैं। तथा दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं। व्यन्तरों में भी किन्नरों के किन्नर और किम्पूरूष ये दो इन्द्र हैं। किम्पूरूषों के सत्पूरूष और महापूरूष ये दो इन्द्र हैं। महोरगों के अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं। गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं। यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षसों के भीम और महाभीम ये दो इन्द्र हैं। भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप

ये दो इन्द्र हैं। तथा पिशाचों के काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं।
इन देवों का सुख किस प्रकार का होता है ऐसा पूछने पर सुखों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

काय-प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

अन्वयार्थ : ऐशान तक के देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीर से विषय सुख भोगने वाले होते हैं ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

मैथुन द्वारा उपसेवन को प्रवीचार कहते हैं। जिनका काय से प्रवीचार है वे कायप्रवीचार वाले कहे जाते हैं। कहाँ तक काय से प्रवीचार की व्याप्ति है इस बात के बतलाने लिए सूत्र में 'आड्' का निर्देश किया है। सन्देह न हो इसलिए 'आ ऐशानात्' इस प्रकार सन्धि के बिना निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि ऐशान स्वर्ग पर्यन्त ये भवनवासी आदि देव संक्लिष्ट कर्म वाले होने के कारण मनुष्यों के समान स्त्री विषयक सुखका अनुभव करते हैं।

पूर्वोक्त सूत्रमें काय से प्रवीचार की मर्यादा कर दी है। इसलिए इतर देवों के सुख का विभाग नहीं ज्ञात होता है, अतः इसके प्रतिपादन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः ॥८॥

अन्वयार्थ : शेष देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से विषय सुख भोगने वाले होते हैं ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

पहले जिन देवों का प्रवीचार कहा है। उनसे अतिरिक्त देवों के ग्रहण करने के लिए शेष पद का ग्रहण किया है।

शंका – उक्त देवों से अवशिष्ट और कौन देव है ?

समाधान – कल्पवासी । यहाँ स्पर्श, रूप, शब्द और मन इनका परस्पर द्वन्द्व समास करके अनन्तर प्रवीचार शब्द के साथ बहुव्रीहि समास किया है।

शंका- इनमें से किन देवों के कौन सा प्रवीचार है इसका संबंध कैसे करना चाहिए ?

समाधान – इसका संबंध जिस प्रकार आर्ष में विरोध न आवे उस प्रकार कर लेना चाहिए।

शंका – पुनः 'प्रवीचार' शब्द का ग्रहण किसलिए किया है ?

समाधान – इष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के लिए।

शंका – जिसमें आर्ष से विरोध न आवे ऐसा वह इष्ट अर्थ क्या है?

समाधान – सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव देवांगानाओं के स्पर्श मात्र से परम प्रीति को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार वहाँ की देवियाँ भी। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव देवांगानाओं के श्रंगार, आकृति, विलास, चतुर और मनोज्ञ वेष तथा मनोज्ञ रूप के देखने मात्र से ही परम सुख को प्राप्त होते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव देवांगानाओं के मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित कथित और भूषणों के कोमल शब्दों के सुनने के मात्र से ही परम प्रीति को प्राप्त होते हैं। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देव अपनी अंगना का मन में संकल्प करने मात्र से ही परमसुख को प्राप्त होते हैं।

अब आगे के देवों का किस प्रकार का सुख है ऐसा प्रश्न करने पर उसका निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

परेऽप्रवीचाराः ॥९॥

अन्वयार्थ : बाकी के सब देव विषय सुख से रहित होते हैं ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

शेष सब देवों का संग्रह करने के लिए सूत्र में 'पर' शब्द का ग्रहण किया है। परम सुख का ज्ञान कराने के लिए अप्रवीचार पद का ग्रहण किया है। प्रवीचार वेदना का प्रतिकार मात्र है। इसके अभाव में उनके सदा परम सुख पाया जाता है।

आदि के निकाय के देवों के दस भेद कहे हैं। अब उनकी सामान्य और विशेष संज्ञा ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

भवन-वासिनोऽसुरनाग-विद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीप- दिक्कुमाराः ॥१०॥

अन्वयार्थ : भवनवासी देव दस प्रकार के हैं - असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनका स्वाभाव भवनों में निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं। प्रथम निकाय की यह सामान्य संज्ञा है। तथा असुरादिक विशेष संज्ञाएँ हैं जो विशिष्ट नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन सब देवों का वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनके वेष, भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीड़ा आदि कुमारों के समान होती है इसलिए सब भवनवासियों में कुमार शब्द रूढ़ है। यह कुमार शब्द प्रत्येक के साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा असुर-कुमार आदि।

शंका- इनके भवन कहाँ है ?

समाधान- रत्नप्रभा के पंकबहुल भाग में असुरकुमारों के भवन हैं। और खर पृथिवीभाग में ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष नौ प्रकार के कुमारों के भवन हैं।

अब दूसरे निकाय की सामान्य और विशेष संज्ञा के निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत- पिशाचाः ॥११॥

अन्वयार्थ : व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास है वे व्यन्तर देव कहलाते हैं। यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदों में लागू है। यह व्यन्तरों के किन्नरादि आठों भेद विशेष नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

शंका- इन व्यन्तरों के निवास कहाँ हैं ?

समाधान- इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप और समुद्र लाँघकर उपर के खर पृथ्वी भाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास हैं। तथा पंकबहुल भाग में राक्षसों के आवास हैं।

अब तीसरे निकाय की सामान्य और विशेष संज्ञा का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अन्वयार्थ : ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं - सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

ये सब पाँचों प्रकार के देव ज्योतिर्मय हैं, इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है। तथा सूर्य आदि विशेष संज्ञाएँ विशेष नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा की प्रधानता को दिखलाने के लिए 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस प्रकार इन दोनों का अलग से ग्रहण किया है।

शंका - इनमें प्रधानता किस निमित्त से प्राप्त होती है ?

समाधान - इनमें प्रभाव आदिक की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त होती है।

शंका - इनका आवास कहाँ पर है ?

समाधान - इस समान भूमि भाग से सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर तारकाएँ विचरण करती हैं। जो सब ज्योतिषियों के अधोभाग में स्थित हैं। इससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य विचरण करते हैं। इससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं। इससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। इससे चार योजन ऊपर जाकर बुध है। इससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। इससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति हैं। इससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल हैं। इससे तीन योजन ऊपर जाकर शनीचर हैं। यह ज्योतिषियों से व्याप्त नभःप्रदेश एक सौ दस योजन मोटा और धनोदधि-पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र-प्रमाण लम्बा है। कहा भी है--

'इस पृथ्वी तल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ताराएँ हैं। पुनः दस योजन ऊपर जाकर सूर्य हैं। पुनः अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा हैं। पुनः चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र और चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं। पुनः चार बार तीन योजन ऊपर जाकर अर्थात् तीन-तीन योजन ऊपर जाकर क्रम से शुक्र, गुरू, मंगल और शनि हैं। अब ज्योतिषी देवों की गति विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

मेरु-प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

अन्वयार्थ : ज्योतिषी देव मनुष्यलोक में मेरू की प्रदक्षिणा करते हैं और निरन्तर गतिशील हैं ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

'मेरूप्रदक्षिणा' इस पद में षष्ठी तत्पुरुष समास है। 'मेरूप्रदक्षिणा' यह वचन गतिविशेष का ज्ञान करने के लिए और कोई विपरीत गति न समझ बैठे इसके लिए दिया है। वे निरन्तर गतिरूप क्रिया युक्त हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'नित्यगतयो' पद दिया है। इस प्रकार के ज्योतिषी देवों का क्षेत्र बताने के लिए 'नृलोक' पद का ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि ढाई द्वीप और दो समुद्रों में ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं अन्यत्र नहीं।

शंका – ज्योतिषी देवों के विमानों की गति का कारण नहीं पाया जाता अतः उनका गमन नहीं बन सकता ?

समाधान – नहीं, क्योंकि यह हेतु असिद्ध है। बात यह है कि गमन करने में रत जो अभियोग जाति के देव हैं उनसे प्रेरित होकर देवों के विमानों का गमन होता रहता है। यदि कहा जाए कि अभियोग्य जाति के देव निरन्तर गति में ही क्यों रत रहते हैं तो उसका उत्तर यह है कि यह कर्म के परिपाक की विचित्रता है। उनका कर्म गतिरूप से ही फलता है। यही कारण है कि वे निरन्तर गमन करने में ही रत रहते हैं। यद्यपि ज्योतिषी देव मेरूपर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं तो भी मेरूपर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रह कर ही विचरण करते हैं।

अब गमन करने वाले ज्योतिषियों के सम्बन्ध से व्यवहार-काल का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

तत्कृतः काल विभागः ॥१४॥

अन्वयार्थ : उन (ज्योतिष्क देवों) के द्वारा काल-विभाग होता है।

सर्वार्थसिद्धि :

गमन करने वाले ज्योतिषी देवों का निर्देश करने के लिए सूत्र में 'तत्' पदका ग्रहण किया है। केवल गति से काल का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि वह पायी नहीं जाती और गति के बिना केवल ज्योति से भी काल का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि परिवर्तन के बिना वह सदा एक सी रहेगी। यही कारण है कि यहाँ 'तत्' पद के द्वारा गति वाले ज्योतिषियों का निर्देश किया है। काल दो प्रकार का है व्यावहारिक काल और मुख्य काल। इनमें-से समय और आवलि आदि रूप व्यावहारिक काल विभाग गति वाले ज्योतिषी देवों के द्वारा किया हुआ है। यह क्रिया विशेष से जाना जाता है और अन्य नहीं जानी हुई वस्तुओं के जानने का हेतु है। मुख्यकाल इससे भिन्न है जिसका लक्षण आगे कहने वाले हैं -

विशेषार्थ - मनुष्य मानुषोत्तर पर्वतके भीतर पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं इसलिए यह मनुष्यलोक कहलाता है। इस लोकमें ज्योतिष्क सदा भ्रमण किया करते हैं। इनका भ्रमण मेरू के चारों ओर होता है। मेरू के चारों ओर ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क मण्डल नहीं है। इसके आगे वह आकाश में सर्वत्र बिखरा हुआ है। जम्बूद्वीपमें दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। एक सूर्य जम्बूद्वीप की पूरी प्रदक्षिणा दो दिन-रातमें करता है। इसका चार क्षेत्र जम्बूद्वीप में 180 योजन और लवण समुद्र में 330 48/61 योजन माना गया है। सूर्य के घूमने की कुल गलियाँ 184 हैं। इनमें यह क्षेत्र विभाजित हो जाता है। एक गली से दूसरी गली में दो योजन का अन्तर माना गया है। इसमें सूर्य बिम्ब के प्रमाण को मिला देने पर वह 2 48/61 योजन होता है। इतना उदयान्तर है। मण्डलान्तर दो योजन का ही है। चन्द्र को पूरी प्रदक्षिणा करने में दो दिन रात से कुछ अधिक समय लगता है। चन्द्रोदय में न्यूनाधिकता इसी से आती है। लवण समुद्रमें चार सूर्य, चार चन्द्र, धातकीखण्ड में बारह सूर्य, बारह चन्द्र, कालोदधि में व्यालीस सूर्य, व्यालीस चन्द्र और पुष्करार्थ में बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्र हैं। इस प्रकार ढाई द्वीपमें एक सौ बत्तीस सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्र हैं। इन दोनों में चन्द्र इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र है। एक एक चन्द्र का परिवार एक सूर्य, अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छयासठ हजार नौ सौ कोडा कोड़ा तारे हैं। इन ज्योतिष्कों का गमन स्वभाव है तो भी अभियोग्य देव सूर्य आदिके विमानों को निरन्तर ढोया करते हैं। ये देव सिंह, गज, बैल और घोड़े का आकार धारण किये रहते हैं। सिंहकार देवों का मुख पूर्व दिशा की ओर रहता है। तथा गजाकार देवों का मुख दक्षिण दिशा की ओर, वृषभाकार देवों का मुख पश्चिम की ओर और अश्वाकार देवोंका मुख उत्तर दिशा की ओर रहता है।

अब ढाई द्वीपके बाहर ज्योतिषियों के अवस्थान का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

अन्वयार्थ : मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिष्क देव स्थिर हैं, गमन नहीं करते ।

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'बहिः' पद दिया है।

शंका – किससे बाहर ?

समाधान – मनुष्य लोक से बाहर।

शंका – यह कैसे जाना जाता है।

समाधान – पिछले सूत्र में नृलोके पद आया है। अर्थ के अनुसार उसकी विभक्ति बदल जाती है। जिससे यह जाना जाता है। कि यहाँ 'बहिः' पद से मनुष्यलोक के बाहर यह अर्थ इष्ट है।

शंका – मनुष्यलोक में ज्योतिषी निरन्तर गमन करते हैं। यह पिछले सूत्र में कहा ही है। अतः अन्यत्र ज्योतिषियों का अवस्थान सुतरां सिद्ध है। इसलिए बहिरवस्थिताः यह सूत्रवचन निरर्थक है।

समाधान – यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषियों का अस्तित्व और अवस्थान ये दोनों असिद्ध है। अतः इन दोनों की सिद्धि के लिए बहिरवस्थिताः यह सूत्रवचन कहा है। दूसरे विपरीत गति के निराकरण करने के लिए यह सूत्र रचा है। अतः यह सूत्र वचन अनर्थक नहीं है।

अब चौथे निकाय की सामान्य संज्ञा के कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

वैमानिकाः ॥१६॥

अन्वयार्थ : अब वैमानिक देवों का वर्णन करते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

वैमानिकों का अधिकार है। यह बतलाने के लिए 'वैमानिक' पद का ग्रहण किया है। आगे जिनका कथन करने वाले हैं वे वैमानिक हैं। इनका ज्ञान जैसे हो इसके लिए यह अधिकार वचन है। जो विशेषतः अपने में रहने वाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं वे विमान हैं और जो उन विमानों में होते हैं वे **वैमानिक** हैं। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक के भेद से विमान अनेक प्रकार के हैं। उनमें से **इन्द्रक विमान** इन्द्र के समान मध्य में स्थित है। उनके चारों ओर आकाश के प्रदेशों की पंक्ति के समान जो स्थित हैं वे **श्रेणि विमान** हैं। तथा बिखरे हुए फूलों के समान विदिशाओं में जो विमान हैं वे **पुष्पप्रकीर्णक विमान** हैं।

उन वैमानिकों के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

अन्वयार्थ : वे दो प्रकार के हैं -- कल्पोपपन्न और कल्पातीत ।

सर्वार्थसिद्धि :

जो कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। और जो कल्पों के परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। इस प्रकार वैमानिक दो प्रकार के हैं।

अब उनके अवस्थान विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

उपर्युपरि ॥१८॥

अन्वयार्थ : ये कल्पादि क्रमशः ऊपर ऊपर हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – यह सूत्र किसलिए कहा है ?

समाधान – ये कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिक तिरछे रूप से रहते हैं इसका निषेध करने के लिए कहा है। ये

ज्योतिषियों के समान तिरछे रूप से नहीं रहते हैं उसी प्रकार व्यन्तरो के समान विषमरूप से नहीं रहते हैं ।

शंका – वे ऊपर-ऊपर क्या है ?

समाधान – कल्प ।

यदि ऐसा है तो कितने कल्प विमानों में देव निवास करते हैं इस बात के बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं -

सौधर्मेशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ- शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानतप्राणत- योरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त जयन्तापराजितेषु सर्वार्थ-सिद्धौ च ॥१९॥

अन्वयार्थ : सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत आठ स्वर्गों के युगलों में देवों के निवास-स्थान विमान हैं तथा नौ ग्रैवेयक, (नवसु) नौ अनुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित और सर्वार्थसिद्धि अनुत्तर-विमानों में अहमिन्द्र कल्पातीत-देव रहते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – इन सौधर्मादिक शब्दों को कल्प संज्ञा किस निमित्त से मिली है ?

समाधान – व्याकरण में चार अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है उससे सौधर्म आदि शब्दों की कल्प संज्ञा है या स्वभाव से ही वे कल्प कहलाते हैं ।

शंका – सौधर्म आदि शब्द इन्द्र के वाची कैसे हैं ?

समाधान – स्वभाव से या साहचर्य से ।

शंका – कैसे ?

समाधान – सुधर्मा नाम की सभा है। वह जहाँ है, उस कल्प का नाम सौधर्म है। यहाँ 'तदस्मिन्नस्ति' इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ है। और इस कल्प के सम्बन्ध से वहाँ का इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है। इन्द्र का ईशान यह नाम स्वभाव से है। वह इन्द्र जिस कल्प में रहता है उसका नाम ऐशान कल्प है। यहाँ 'तस्य निवासः' इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है। तथा इस कल्प के सम्बन्ध से इन्द्र भी ऐशान कहलाता है। इन्द्र का सानत्कुमार नाम स्वभाव से है। यहाँ 'तस्य निवासः' इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है इससे कल्प का नाम सानत्कुमार पड़ा और इसके सम्बन्ध से इन्द्र भी सानत्कुमार कहलाता है। इन्द्र का माहेन्द्र नाम स्वभाव से है। वह इन्द्र जिस कल्प में रहता है, उसका नाम माहेन्द्र कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना । व्यवस्था आगम के अनुसार होती है। इसलिए 'उपर्युपरि' इस पद के साथ दो दो कल्पों का सम्बन्ध कर लेना चाहिए । सर्वप्रथम सौधर्म और ऐशान कल्प है। इनके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प है। इनके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प हैं। इनके ऊपर लान्तव और कापिष्ठ कल्प हैं। इनके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्प हैं। इनके ऊपर शतार और सहस्रार कल्प हैं। नीचे और ऊपर आनत और प्राणत कल्प हैं। इनके ऊपर आरण और अच्युत कल्प है। नीचे और ऊपर प्रत्येक कल्प में एक एक इन्द्र है। तथा मध्य में दो दो कल्पों में एक एक इन्द्र है। तात्पर्य यह है कि सौधर्म, ऐशान सानत्कुमार और माहेन्द्र इन चार कल्पों के चार इन्द्र हैं। ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पों का एक ब्रह्म नामक इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पों में एक लान्तव नाम का इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्र में एक शुक्र नाम का इन्द्र है। शतार और सहस्रार इन दो कल्पों में एक शतार नामक इन्द्र है। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्पों के चार इन्द्र हैं। इस प्रकार कल्पवासियों के बारह इन्द्र होते हैं। जम्बूद्वीप में एक महामन्दर नाम का पर्वत जो मूल में एक हजार योजन गहरा है। और नित्यानबे हजार योजन ऊँचा है। उसके नीचे अधोलोक है। मेरू पर्वत की जितनी ऊँचाई है उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है। उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसकी मेरू चूलिका चालीस योजन विस्तृत है । उसके ऊपर एक बाल के अन्तर से ऋजुविमान है जो सौधर्म कल्प का इन्द्रक विमान है। शेष सब लोकानुयोग से जानना चाहिए।

शंका – 'नवसु ग्रैवेयकेषु' यहाँ नव शब्द का कथन अलग से क्यों किया है ?

समाधान – अनुदिश नाम के नौ विमान और हैं। इस बात के बतलाने के लिए 'नव' शब्द का अलग से कथन किया है। इससे भी अनुदिशों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

अब इन अधिकार प्राप्त वैमानिकों के परस्पर विशेष ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

स्थिति-प्रभाव-सुख-दयुति-लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-विषय- तोऽधिकाः ॥२०॥

अन्वयार्थ : ऊपर-ऊपर के देवों की आयु, प्रभाव, सुख, कांति, लेश्या, विशुद्धि, इन्द्रिय-विषय और अवधिज्ञान के विषय क्रमश उत्तरोत्तर वृद्धिगत होते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

अपने द्वारा प्राप्त हुई आयु के उदय से उस भव में शरीर के साथ रहना **स्थिति** कहलाती है।

शाप और अनुग्रहरूप शक्ति को **प्रभाव** कहते हैं।

इन्द्रियों के विषयों के अनुभवन करने को **सुख** कहते हैं।

शरीर वस्त्र और अभूषण आदि की कान्ति को **द्युति** कहते हैं।

लेश्या का कथन कर आये हैं। लेश्या की विशुद्धि **लेश्याविशुद्धि** कहलाती है।

इन्द्रिय और अवधिज्ञान का विषय **इन्द्रियविषय** और **अवधिविषय** कहलाता है।

इनसे या इनकी अपेक्षा वे सब देव उत्तरोत्तर अधिक-अधिक हैं। तात्पर्य यह है कि ऊपर-ऊपर प्रत्येक कल्प में और प्रत्येक प्रस्तार में वैमानिक देव स्थिति आदि की अपेक्षा अधिक-अधिक हैं।

जिस प्रकार ये वैमानिक देव स्थिति आदि की अपेक्षा ऊपर-ऊपर अधिक हैं। उसी प्रकार गति आदि की अपेक्षा भी प्राप्त हुए, अतः इसका निराकरण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अन्वयार्थ : नीचे के स्वर्गों से ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवों में गति, शरीर, परिग्रह, अभिमान क्रमश हीन-हीन होता है ।

सर्वार्थसिद्धि :

एक देश से दूसरे देश के प्राप्त करने का जो साधन है उसे **गति** कहते हैं।

यहाँ शरीर से वैक्रियिक **शरीर** लिया गया है यह पहले कह आये हैं।

लोभ कषाय के उदय से विषयों के संग को **परिग्रह** कहते हैं।

मानकषाय के उदय से उत्पन्न हुए अहंकार को **अभिमान** कहते हैं।

इन गति आदि की अपेक्षा वैमानिक देव ऊपर-ऊपर हीन हैं। भिन्न देश में स्थित विषयों में क्रीडा विषयक रति का प्रकर्ष नहीं पाया जाता इसलिए ऊपर-ऊपर गमन कम है। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों का शरीर सात अरत्निप्रमाण है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों का शरीर छह अरत्निप्रमाण है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्प के देवों का शरीर पाँच अरत्निप्रमाण है। शुक्र महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्प के देवों का शरीर चार अरत्निप्रमाण है। आनत और प्राणत कल्प के देवों का शरीर साढ़े तीन अरत्निप्रमाण है। आरण और अच्युत कल्प के देवों का शरीर तीन अरत्निप्रमाण है। अधोग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का शरीर ढाई अरत्निप्रमाण है। मध्यग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का शरीर दो अरत्निप्रमाण है, तथा पाँच अनुत्तर विमानों में अहमिन्द्रों का शरीर एक अरत्निप्रमाण है। विमानों की लम्बाई चौड़ाई आदि रूप परिग्रह ऊपर-ऊपर कम है। अल्प कषाय होने से अभिमान भी ऊपर-ऊपर कम है।

पहले तीन निकायों में लेश्या का कथन कर आये। अब वैमानिकों में लेश्याओं का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२२॥

अन्वयार्थ : प्रथम दो युगलों में, तीन युगलों में और शेष समस्त विमानों में देवों की क्रमश पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

पीता, पद्मा और शुक्ला में द्वन्द्व समास है, अनन्तर लेश्या शब्द के साथ बहुव्रीहि समास है। जिनके ये पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं।

शंका – पीता, पद्मा और शुक्ला ये तीनों शब्द दीर्घ हैं वे ह्रस्व किस नियम से हो गये ?

समाधान – जैसे 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यम विलम्बितयोरुपसंख्यानम्' अर्थात् द्रुतावृत्ति में तपरकरण करने पर मध्यमा और विलम्बितावृत्ति में उसका उपसंख्यान होता है इसके अनुसार यहाँ 'मध्यमा' शब्दों में औत्तरपदिक ह्रस्व हुआ है। उसी प्रकार प्रकृत में भी औत्तरपदिक ह्रस्व जानना चाहिए । अथवा यहाँ पीता, पद्मा और शुक्ला शब्द न लेकर पीत, पद्म और शुक्ल वर्ण वाले पदार्थ लेने चाहिए । जिनके इन वर्णों के समान लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत पद्म और शुक्ल लेश्यावाले जीव हैं। इस प्रकार यहाँ पीत पद्म और शुक्ल ये तीन शब्द ह्रस्व ही समझना चाहिए । अब किसके कौन लेश्या है यह

बतलाते हैं -सौधर्म और ऐशान कल्प में पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में पीत और पद्म लेश्याएँ हैं। ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पों में पद्मलेश्या है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्प में पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याएँ हैं तथा आनतादिक में शुक्ल लेश्या है। उसमें भी अनुदिश और अनुत्तर विमानों में परम शुक्ल लेश्या है।

शंका – सूत्र में तो मिश्र लेश्याएँ नहीं कही हैं। फिर उनका ग्रहण कैसे होता है।

समाधान – साहचर्यवश मिश्र लेश्याओं का ग्रहण होता है लोक के समान । जैसे 'छत्री जाते हैं' ऐसा कथन करने पर अछत्रियों में भी छत्री व्यवहार होता है। उसी प्रकार यहाँ भी दोनों मिश्र लेश्याओं में से किसी एक का ग्रहण होता है।

शंका – यह अर्थ सूत्र से कैसे जाना जाता है।

समाधान – यहाँ ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए कि दो कल्प युगलों में पीत लेश्या है। यहाँ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में पद्मलेश्या की विवक्षा नहीं की ब्रह्मलोक आदि तीन कल्पयुगलों में पद्म लेश्या है। शुक्र और महाशुक्र में शुक्ल लेश्या की विवक्षा नहीं की। शेष शतार आदि में शुक्ललेश्या है। पद्म लेश्या की विवक्षा नहीं की । इसलिए कोई दोष नहीं है।

कल्पोपपन्न देव हैं यह कह आये पर यह नहीं ज्ञात हुआ कि कल्प कौन हैं इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

प्राग्वैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

अन्वयार्थ : ग्रैवेयकों से पहिले अर्थात् १६वें स्वर्ग तक कल्प कहते हैं क्योंकि वहीं तक के देवों में इन्द्रादिक दस-भेदों की कल्पना है ।

सर्वार्थसिद्धि :

यह नहीं मालूम होता कि यहाँ से लेकर कल्प हैं इसलिए सौधर्म अदि पद की अनुवृत्ति होती है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि सौधर्म से लेकर और नौ ग्रैवेयक से पूर्व तक कल्प हैं । परिशेष न्याय से यह भी ज्ञात हो जाता है कि शेष सब कल्पातीत हैं।

लौकान्तिक देव वैमानिक हैं उनका किन में समावेश होता है वैमानिकों में। कैसे ? अब इसी बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

ब्रह्म-लोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

अन्वयार्थ : ब्रह्म-लोक (पांचवे स्वर्ग) के निवासी देव लौकान्तिक देव कहलाते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

आकर जिसमें लय को प्राप्त होते हैं अर्थात् निवास करते हैं। वह आलय या आवास कहलाता है। ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोक में रहने वाले लौकान्तिक देव जानना चाहिए ।

शंका – यदि ऐसा है तो ब्रह्मलोक में रहने वाले सब देव लौकान्तिक हुए ?

समाधान – सार्थक संज्ञा के ग्रहण करने से यह दोष नहीं रहता । लौकान्तिक शब्द में जो लोक शब्द है उससे ब्रह्मलोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्तभाग लोकान्त कहलाया । वहाँ जो होते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं। इसलिए ब्रह्मलोक में रहने वाले सब देवों का ग्रहण नहीं होता है। इन लौकान्तिक देवों के विमान ब्रह्मलोक के प्रान्तभाग में स्थित हैं। अथवा जन्म जरा और मरण से व्याप्त संसार लोक कहलाता है। और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है। इस प्रकार संसार के अन्त में जो होते हैं वे लौकान्तिक हैं क्यों कि ये सब परीतसंसारी होते हैं। वहाँ से च्युत होकर और एक बार गर्भ में रहकर निर्वाण को प्राप्त होंगे ।

सामान्य से कहे गये उन लौकान्तिक देवों के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सारस्वतादित्य वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिताव्या-बाधारिष्ठाश्च ॥ २५॥

अन्वयार्थ : लौकान्तिक देवों के सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट आठ भेद नाम हैं । यहाँ च से सूचित होता है कि प्रत्येक के बीच २-२ लौकान्तिक देव और हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – ये सारस्वत आदिक कहाँ रहते हैं?

समाधान – पूर्व उत्तर आदि आठों ही दिशाओं में क्रम से ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं ऐसा जानना चाहिए । यथा - पूर्वोत्तर कोण में सारस्वतों के विमान हैं। पूर्व दिशा में आदित्यों के विमान हैं। पूर्व दक्षिण दिशा में वह्नि देवों के विमान हैं। दक्षिण दिशा में अरुण विमान हैं। दक्षिण- पश्चिम कोने में गर्दतोय देवों के विमान हैं। पश्चिम दिशा में तुषित विमान हैं। उत्तर-पश्चिम दिशा में अव्याबाध देवों के विमान हैं। और उत्तर दिशा में अरिष्टदेवों के विमान हैं । सूत्र में 'च' शब्द है उससे इनके मध्य में दो दो देवगण और हैं इसका समुच्चय होता है यथा - सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ हैं। आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ और सत्याभ हैं। वह्नि और अरुण के मध्य में श्रेयस्कर और क्षेमंकर हैं। अरुण और गर्दतोय के मध्य में व्रषभेष्ट और कामचार हैं। गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित हैं। तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित हैं। अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य में मरुत् और वसु हैं । अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में अश्व और विश्व हैं। ये सब देव स्वतन्त्र हैं क्योंकि इनमें हीनाधिकता नहीं पायी जाती । विषय- रति से रहित होने के कारण देव ऋषि हैं। दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं। चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं। और वैराग्य कल्याणक के समय तीर्थंकर को संबोधन करने में तत्पर हैं।

लौकान्तिक देवों का कथन किया और वहाँ से च्युत होकर तथा एक गर्भ को धारण करके निर्वाण को प्राप्त होंगे यह भी कहा। क्या इसी प्रकार अन्य देवों में भी निर्वाण को प्राप्त होने के काल में भेद है? अब इसी बात का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

विजयादिषु द्वि-चरमाः ॥२६॥

अन्वयार्थ : नव अनुदिश के नौ और ४ अनुत्तरो; विजय ,वैजयन्त, जयन्त, अपराजित के देव उत्कृष्टता से दो भवधारी होते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिशों का ग्रहण सिद्ध हो जाता है।

शंका – यहाँ कौन-सा प्रकार लिया है?

समाधान – अहमिन्द्र होते हुए सम्यग्दृष्टियों का उत्पन्न होना, यह प्रकार यहाँ लिया गया है।

शंका – इससे सर्वार्थसिद्धि का भी ग्रहण प्राप्त होता है।

समाधान – नहीं क्योंकि वे परम उत्कृष्ट हैं। उनका सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम है। इसलिए वे एक भवावतारी होते हैं। देह का चरमपना मनुष्य भव की अपेक्षा लिया है। जिसके दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं। जो विजयादिक से च्युत होकर और सम्यक्त्व को न छोड़कर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और संयम की आराधना कर पुनः विजयादिक में उत्पन्न होकर और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव को प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यहाँ मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमपना है।

कहते हैं, जीव के औदयिक भावों को बतलाते हुए तिर्यचगति औदयिकी कही है। पुनः स्थितिका कथन करते समय 'तिर्यग्योनिजानां च' यह सूत्र कहा है । पर यह न जान सके कि तिर्यच कौन है इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं –

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अन्वयार्थ : उपपाद जन्म वाले देवों, नारकियों और मनुष्यों के अतिरिक्त सभी तिर्यच-योनी के जीव हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

औपपादिक देव और नारकी हैं यह पहले कह आये हैं। 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' इसका व्याख्यान करते समय मनुष्यों का भी कथन कर आये हैं। इनसे अन्य जितने संसारी जीव हैं उनका यहाँ शेष पद के द्वारा ग्रहण किया है । वे सब तिर्यच जानना चाहिए।

शंका – जिस प्रकार देवादिक का पृथक-पृथक क्षेत्र बतलाया है। उसी प्रकार इनका क्षेत्र बतलाना चाहिये ?

समाधान – तिर्यच सब लोक में रहते हैं, अतः उनका अलग से क्षेत्र नहीं कहा।

नारकी, मनुष्य और तिर्यचों की स्थिति पहले कही जा चुकी है। परन्तु अभी तक देवों की स्थिति नहीं कही है, अतः उसका कथन करते हुए सर्वप्रथम प्रारम्भ में कहे गये भवनवासियों की स्थिति का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीपशेषाणां-सागरोपम- त्रिपल्योपमार्द्धहीन-मिताः ॥२८॥

अन्वयार्थ : भवनवासी देवों में असुरकुमार की आयु १ सागर, नाग कुमार की ३ पल्य, सुपर्ण कुमार की २.५ पल्य, द्वीप कुमार की २ पल्य तथा शेष छ देवों (विद्युतकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनिक कुमार, उदधि कुमार और दिक्कुमार) की १.५ पल्य है।

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ सागरोपम आदि शब्दों के साथ असुरकुमार आदि शब्दों का क्रम से सम्बन्ध जान लेना चाहिए। यह उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्य स्थिति भी आगे कहेंगे। वह उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है- असुरों की स्थिति एक सागरोपम है। नागकुमारों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है। सुपर्णों की उत्कृष्ट स्थिति ढाई पल्योपम है। द्वीपों की उत्कृष्ट स्थिति दो पल्योपम है। और शेष छह कुमारों की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्योपम है।

देवों के प्रथम निकाय की स्थिति कहने के पश्चात व्यन्तर और ज्योतिषियों की स्थिति क्रम प्राप्त है, किन्तु उसे छोड़कर वैमानिकों की स्थिति कहते हैं क्योंकि व्यन्तर और ज्योतिषियों की स्थिति आगे थोड़े में कही जा सकेगी। वैमानिकों में आदि में कहे गये दो कल्पों की स्थिति का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सौधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

अन्वयार्थ : सौधर्मेशान और ऐशान स्वर्गों के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'सागरोपमे' यह द्विवचन प्रयोग किया है उससे दो सागरोपमों का ज्ञान होता है। 'अधिके' यह अधिकार वचन है।

शंका – इसका कहाँ तक अधिकार है ?

समाधान – सहस्रार कल्प तक।

शंका – यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान – अगले सूत्र में जो 'तु' पद दिया है उससे जाना जाता है। इससे यह निश्चित होता है कि सौधर्म और ऐशान कल्प में दो सागरोपम से कब अधिक स्थिति है।

अब आगे के दो कल्पों में स्थिति विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अन्वयार्थ : सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों में देवों की उत्कृष्ट-आयु सात सागर है।

सर्वार्थसिद्धि :

इन दो कल्पों में देवों की साधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

अब ब्रह्मलोक से लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पों में स्थिति विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

त्रिसप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

अन्वयार्थ : तीसरे युगल, (ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर) में १० सागर चौथे युगल (लांतव-कापिष्ठ) में १४ सागर, पांचवे युगल (शुक्र-महाशुक्र) में १६ सागर, छठे युगल (शतार-सहस्रार) में १८ सागर, सातवें युगल (आणत-प्राणत) में २२ सागर और आठवे युगल (आरण-अच्युत) में देवों की उत्कृष्टायु आयु २२ सागर है।

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ पिछले सूत्र से 'सप्त' पद का ग्रहण प्रकृत है। उसका यहाँ तीन आदि निर्दिष्ट संख्याओं के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा- तीन अधिक सात, सात अधिक सात आदि। तथा इनका क्रम से दो दो कल्पों के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। सूत्र में 'तु' शब्द विशेषता के दिखलाने के लिए आया है।

शंका – इससे क्या विशेषता मालूम पड़ती है ?

समाधान – इससे यहाँ यह विशेषता मालूम पड़ती है कि अधिक शब्द की अनुवृत्ति होकर उसका सम्बन्ध त्रि आदि चार शब्दों से ही होता है, अन्त के दो स्थिति विकल्पों से नहीं। इससे यहाँ यह अर्थ प्राप्त हो जाता है, ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर में साधिक दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ में साधिक चौदह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शुक्र और महाशुक्र में साधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शतार और सहस्रार में साधिक अठारह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। आनत और प्राणत में बीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। तथा आरण और अच्युत में बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

अब इसके आगे के विमानों में स्थिति विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

आरणाच्युता-दूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

अन्वयार्थ : आरण और अच्युत स्वर्गों के आठवें युगल से ऊपर नव-अनुदिश ,और विजयादि चार अनुत्तरों और सर्वार्थसिद्धि में देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमश १-१ सागर वृद्धिगत है।

सर्वार्थसिद्धि :

पूर्व सूत्र से अधिक पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए यहाँ इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि एक-एक सागरोपम अधिक है।

शंका – सूत्र में 'नव' पद का ग्रहण किसलिए किया ?

समाधान – प्रत्येक ग्रैवेयक में एक-एक सागरोपम अधिक उत्कृष्ट स्थिति है इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'नव' पद का अलग से ग्रहण किया है। यदि ऐसा न करते तो सब ग्रैवेयकों में एक सागरोपम अधिक स्थिति ही प्राप्त होती। 'विजयादिषु' में आदि शब्द प्रकारवाची है जिससे अनुदिशों का ग्रहण हो जाता है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं है यह बतलाने के लिए 'सर्वार्थसिद्धि' पद का अलग से ग्रहण किया है इससे यह अर्थ प्राप्त हुआ कि अधोग्रैवेयक में से प्रथम में तेईस सागरोपम, दूसरे में चौबीस सागरोपम और तीसरे में पच्चीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। मध्यम ग्रैवेयक में से प्रथम में छब्बीस सागरोपम, दूसरे में सत्ताईस सागरोपम और तीसरे में अट्ठाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। उपरिम ग्रैवेयक में से पहले में उनतीस सागरोपम, दूसरे में तीस सागरोपम और तीसरे में इकतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। अनुदिश विमानों में बत्तीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिक में तेंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थसिद्धि में तेंतीस सागरोपम ही स्थिति है। यहाँ उत्कृष्ट और जघन्य का भेद नहीं है।

जिनमें उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं उनमें जघन्य स्थिति का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अन्वयार्थ : सौधर्मेन्द्र और ऐशान स्वर्ग में देवों की जघन्यायु एक पल्य है।

सर्वार्थसिद्धि :

पल्योपम का व्याख्यान कर आये। यहाँ 'अपरा' पद से जघन्य स्थिति ली गयी है जो साधिक एक पल्योपम है।

शंका – यह जघन्य स्थिति किनकी है ?

समाधान – सौधर्म और ऐशान कल्प के देवों की।

शंका – कैसे जाना जाता है ?

समाधान – जो पूर्व-पूर्व देवों की उत्कृष्ट स्थिति है वह अगले अगले देवों की जघन्य स्थिति है। यह आगे कहने वाले हैं। इससे जाना जाता है कि यह सौधर्म और ऐशान कल्प के देवों की जघन्य स्थिति है।

अब सौधर्म और ऐशान कल्प से आगे के देवों की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

अन्वयार्थ : स्वर्गों में अगले स्वर्ग युगल के देवों की जघन्यायु पाहिले-पाहिले स्वर्ग युगल के देवों के उत्कृष्टायु से एक समय अधिक है।

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ 'परतः' पद का अर्थ 'पर स्थान में' लिया गया है। तथा द्वित्व वीप्सा रूप अर्थ में आया है। इसी प्रकार 'पूर्व' शब्द को भी वीप्सा अर्थ में द्वित्व किया है। अधिक पद की यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसलिए इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि सौधर्म और ऐशान कल्प में जो साधिक दो सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमें एक समय मिला देने पर वह सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में जघन्य स्थिति होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र में जो साधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है। उसमें एक समय मिला देने पर वह ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में जघन्य स्थिति होती है इत्यादि। नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं पर सूत्र-द्वारा अभी जघन्य स्थिति नहीं कही है। यद्यपि उसका प्रकरण नहीं है तो भी यहाँ उसका थोड़े में कथन हो सकता है। इस इच्छा से आचार्य ने आगे का सूत्र कहा है –

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

अन्वयार्थ : द्वितीय आदि नरकों में नारकियों की जघन्य स्थिति पूर्व-पूर्व के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति के समान है ।

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – सूत्रमें 'च' शब्द किसलिए दिया है ?

समाधान – प्रकृत विषय का समुच्चय करने के लिए 'च' शब्द दिया है।

शंका – क्या प्रकृत है ?

समाधान – 'परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थितिः' यह प्रकृत है। अतः 'च' शब्द से इसका समुच्चय हो जाता है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि रत्नप्रभा में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागरोपम है वह शर्कराप्रभा में जघन्य स्थिति है। शर्कराप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति जो तीन सागरोपम है वह बालुकाप्रभा में जघन्य स्थिति है इत्यादि । इस प्रकार द्वितीयदि नरकों में जघन्य स्थिति कही । प्रथम नरक में जघन्य स्थिति कितनी है। अब यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

दश-वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अन्वयार्थ : दश नरक में नारकी की जघन्यायु दस हजार वर्ष है ।

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में 'अपरा स्थितिः' इस पद की अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा पृथिवी में दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

अब भवनवासियों की जघन्य स्थिति कितनी है, यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं–

भवनेषु च ॥३७॥

अन्वयार्थ : भवनवासी देवों की जघन्यायु भी १० हजार वर्ष है ।

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया है ?

समाधान – प्रकृत विषय का समुच्चय करने के लिए । इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि भवनवासियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

तो व्यन्तरों की जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं–

व्यन्तराणां च ॥३८॥

अन्वयार्थ : व्यन्तर देवों की भी दस हजार वर्ष जघन्यायु है ।

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'च' शब्द प्रकृत विषय का समुच्चय करने के लिए दिया है। इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

अब व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है, यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

अन्वयार्थ : व्यन्तर-देवों की उत्कृष्टायु पल्य से कुछ अधिक है ।

सर्वार्थसिद्धि :

पर शब्द का अर्थ उत्कृष्ट है। तात्पर्य यह है कि व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्योपम है। अब ज्योतिषियों की स्थिति कहनी चाहिए, अतः आगे का सूत्र कहते हैं -

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अन्वयार्थ : ज्योतिष्क देवों की भी उत्कृष्टायु १ पल्य से कुछ अधिक होती है ।

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'च' शब्द प्रकृत का समुच्चय करने के लिए दिया है। इससे यह अर्थ घटित होता है कि ज्योतिषियों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्योपम है।

ज्योतिषियों की जघन्य स्थिति कितनी है, अब यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

अन्वयार्थ : ज्योतिष्क देवों में जघन्यायु एक पल्य का आठवा भाग है ।

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र का यह भाव है कि उसका अर्थात् पल्योपम का आठवाँ भाग ज्योतिषियों की जघन्य स्थिति है।

विशेषरूप में कहे गये लौकान्तिक देवों की स्थिति नहीं कही है। वह कितनी है अब यह बतलाते हैं -

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अन्वयार्थ : लौकान्तिक देवों की एक समान जघन्यायु और उत्कृष्टायु ८ सागर प्रमाण ही है ।

सर्वार्थसिद्धि :

इन सब लौकान्तिकों की शुक्ल लेश्या होती है। और शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्ति में चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

राजवार्तिक :

तत्पर्यायसामान्यविनिवृत्तिर्विनाशः। = पर्याय की सामान्य निवृत्ति का नाम विनाश है।

के पुनरन्वयाः। बुद्ध्यभिधानानुवृत्तिलिङ्गेन अनुमीयमानाविच्छेदाः स्वात्मभूतास्तित्वादयः।

= प्रश्न-अन्वय क्या है? उत्तर-अनुगताकार (यह वही है ऐसी) बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोगके द्वारा अनुमान किये जानेवाले तथा नित्य स्थित स्वात्मभूत अस्तित्वादि गुण अन्वय कहलाते हैं।

अधिकार-५ (अजीवाधिकार)

अजीव-काया-धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः ॥१॥

अन्वयार्थ : धर्म, अधर्म, आकाश, और पुद्गल अजीव (चेतना रहित) और कायावान (बहु प्रदेशी) है ।

सर्वार्थसिद्धि :

व्युत्पत्ति से काय शब्द का अर्थ शरीर है तो भी इन द्रव्यों में उपचार से उसका आरोप किया है।

शंका – उपचार का क्या कारण है ?

समाधान – जिस प्रकार शरीर पुद्गल द्रव्य के प्रचयरूप होता है उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी प्रदेशप्रचय की अपेक्षा काय के समान होने से काय कहे गये हैं। अजीव और काय इनमें कर्मधारय समास है जो 'विशेषणं विशेष्येण' इस सूत्र से हुआ है।

शंका- नीलोत्पल इत्यादिमें नील और उत्पल इन दोनों का व्यभिचार देखा जाता है अतः वहाँ विशेषण विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध किया गया है, किन्तु अजीवकायमें विशेषणविशेष्य सम्बन्ध करनेका क्या कारण है ? समाधान- अजीवकायका यहाँ भी व्यभिचार देखा जाता है क्योंकि अजीव शब्द कालमें भी रहता है जो कि काय नहीं है और काय शब्द जीवमें रहता है, अतः इस दोषके निवारण करनेके लिए यहाँ विशेषणविशेष्य सम्बन्ध किया है। शंका- काय शब्द किसलिए दिया है ? समाधान- प्रदेश बहुत्वका ज्ञान करानेके लिए। धर्मादिक द्रव्योंके बहुत प्रदेश हैं यह इससे जाना जाता है। शंका- आगे यह सूत्र आया है कि 'धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं' इसीसे इनके बहुत प्रदेशोंका ज्ञान हो जाता है फिर यहाँ कायशब्दके देनेकी क्या आवश्यकता? समाधान- यह ठीक है। तो भी इस कथनके होनेपर उस सूत्रसे प्रदेशोंके विषयमें यह निश्चय किया जाता है कि इन धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं और न अनन्त। दूसरे काल द्रव्यमें प्रदेशोंका प्रचय नहीं है यह ज्ञान कराने के लिए इस सूत्रमें 'काय' पदका ग्रहण किया है। कालका आगे व्याख्यान करेंगे। उसके प्रदेशोंका निषेध करनेके लिए यहाँ 'काय' शब्दका ग्रहण किया है। जिस प्रकार अणु एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसके द्वितीय आदि प्रदेश नहीं होते इसलिए अणुको अप्रदेशी कहते हैं उसी प्रकार काल परमाणु भी एकप्रदेशरूप होनेके कारण अप्रदेशी हैं। धर्मादिक द्रव्योंमें जीवका लक्षण नहीं पाया जाता, इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा है। तथा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये उनकी विशेष संज्ञाएँ हैं जो कि यौगिक हैं।

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इत्यादि सूत्रोंमें द्रव्य कह आये हैं। वे कौन हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

अद्भाशब्दो निपातः कालवाची।

= अद्भा शब्द एक निपात है, वह कालवाची है।

द्रव्याणि ॥२॥

अन्वयार्थ : (धर्म, अधर्म, आकाश, और पुद्गल) द्रव्य हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

द्रव्य शब्दमें 'द्रु' धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। इससे द्रव्य शब्दका व्युत्पत्तिरूप अर्थ इस प्रकार हुआ कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायोंको प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। शंका-द्रव्यत्व नामकी एक जाति है उसके सम्बन्धसे द्रव्य कहना ठीक है। समाधान-नहीं, क्योंकि इस तरह दोनों की सिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार दण्ड और दण्डी ये दोनों पृथक् सिद्ध हैं अतः उनका सम्बन्ध बन जाता है उस प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व से अलग-अलग सिद्ध नहीं हैं। यदि अलग-अलग सिद्ध न होनेपर भी इनका सम्बन्ध माना जाता है तो आकाश-कुसुम का और प्रकृत

पुरूषके दूसरे सिरका भी सम्बन्ध मानना पड़ेगा। यदि इनकी पृथक् सिद्धि स्वीकार करते हो तो द्रव्यत्वका अलगसे मानना निष्फल है। गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं यदि ऐसा मानते हो तो यहाँ भी गुणोंका और समुदायका भेद नहीं रहनेपर पूर्वोक्त संज्ञा नहीं बन सकती है। यदि भेद माना जाता है तो द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है इसमें जो दोष दे आये हैं वही दोष यहाँ भी प्राप्त होता है। शंका-जो गुणोंको प्राप्त हों या गुणोंके द्वारा प्राप्त हों उन्हें द्रव्य कहते हैं, द्रव्यका इस प्रकार विग्रह करनेपर वही दोष प्राप्त होता है? समाधान-नहीं, क्योंकि कथंचित् भेद और कथंचित् अभेदके बन जानेसे द्रव्य इस संज्ञाकी सिद्धि हो जाती है। गुण और द्रव्य ये एक दूसरेको छोड़कर नहीं पाये जाते, इसलिए तो इनमें अभेद है। तथा संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे इनमें भेद है। प्रकृत धर्मादिक द्रव्य बहुत हैं, इसलिए उनके साथ समानाधिकरण करनेके अभिप्रायसे 'द्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनरूप निर्देश किया है। शंका-जिस प्रकार यहाँ संख्याकी अनुवृत्ति प्राप्त हुई है उसी प्रकार पुल्लिंगको भी अनुवृत्ति प्राप्त होती है? समाधान-यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जिस शब्दका जो लिंग है वह कभी भी अपने लिंगका त्याग करके अन्य लिंगके द्वारा व्यवहृत नहीं होता, इसलिए 'धर्मादयो द्रव्याणि भवन्ति' ऐसा सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए।

अव्यवहित होनेके कारण धर्मादिक चारको ही द्रव्य संज्ञा प्राप्त हुई, अतः अन्यका अध्यारोप करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयः।

= अपनी जातिको न छोड़ते हुए उसी रूपसे अवस्थित रहना अन्वय है।

जीवाश्च ॥३॥

अन्वयार्थ : जीव भी द्रव्य है।

सर्वार्थसिद्धि :

जीव शब्दका व्याख्यान कर आये। सूत्रमें जो बहुवचन दिया है वह जीव द्रव्यके कहे गये भेदोंके दिखलानेके लिए दिया है। 'च' शब्द द्रव्य संज्ञाके खींचनेके लिए दिया है जिससे 'जीव भी द्रव्य है' यह अर्थ फलित हो जाता है। इस प्रकार ये पाँच आगे कहे जानेवाले कालके साथ छह द्रव्य होते हैं। शंका-आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र-द्वारा द्रव्यका लक्षण कहेंगे; अतः लक्षणके सम्बन्धसे धर्मादिकको 'द्रव्य' संज्ञा प्राप्त हो जाती है फिर यहाँ उनकी अलगसे गिनती करनेका कोई कारण नहीं? समाधान-गिनती निश्चय करनेके लिए की है। इससे अन्यवादियोंके द्वारा माने गये पृथिवी आदि द्रव्योंका निराकरण हो जाता है। शंका-कैसे? समाधान-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इनका पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले होते हैं। शंका-वायु और मनमें रूपादिक नहीं हैं? समाधान-नहीं, क्योंकि वायु रूपादिवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, घटके समान। इस अनुमानके द्वारा वायुमें रूपादिककी सिद्धि होती है। शंका-चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा वायुका ग्रहण नहीं होता, इसलिए उसमें रूपादिकका अभाव है? समाधान-नहीं; क्योंकि इस प्रकार माननेपर परमाणु आदिमें अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् परमाणु आदिको भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण करतीं, इसलिए उनमें भी रूपादिकका अभाव मानना पड़ेगा। इसी प्रकार जल गन्धवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, पृथिवीके समान। अग्नि भी रस और गन्धवाली है, रूपवाली होनेसे, पृथिवीके समान। मन भी दो प्रकारका है-द्रव्यमन और भावमन। उनमें-से भावमन ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान जीवका गुण है, इसलिए इसका आत्मामें अन्तर्भाव होता है। तथा द्रव्यमनमें रूपादिक पाये जाते हैं, अतः पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है। यथा-मन रूपादिवाला है, ज्ञानोपयोगका कारण होनेसे, चक्षु इन्द्रियके समान। शंका-शब्द अमूर्त होते हुए भी उसमें ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है, अतः मनको रूपादिवाला सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है? समाधान-नहीं; क्योंकि शब्द पौद्गलिक है, अतः उसमें मूर्तपना बन जाता है। शंका-जिस प्रकार परमाणुओंके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं देखे जाते हैं अतः वे रूपादिवाले सिद्ध होते हैं उस प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं दिखाई देते? समाधान-नहीं, क्योंकि वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले कार्य सिद्ध हो जाते हैं; क्योंकि सब परमाणुओंमें सब रूपादि गुणवाले कार्यके होनेकी योग्यता मानी है। कोई पार्थिव आदि भिन्न-भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु हैं, यह बात नहीं है; क्योंकि जातिका संकर होकर सब कार्योंका आरम्भ देखा जाता है। इसी प्रकार दिशाका भी आकाशमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि सूर्यके उदयादिककी अपेक्षा आकाश प्रदेशपंक्तियोंमें यहाँसे यह दिशा है इस प्रकारके व्यवहारकी उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ- जातिकी अपेक्षा ये जीव पुद्गलादि जितने पदार्थ हैं वे सब द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इस शब्दमें दो अर्थ छिपे हुए हैं--
--द्रवणशीलता और ध्रुवता। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है, इसलिए उसे द्रव्य कहते हैं। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों और पर्यायोंका कभी भी उल्लंघन नहीं करता। उसके प्रवाहित होनेकी नियत धारा है जिसके आश्रयसे वह प्रवाहित होता रहता है। द्रव्य इस शब्दका उपयोग हमें जैन दर्शनके सिवा वैशेषिक दर्शनमें विशेष रूपसे व्यवहृत दिखाई देता है। वैशेषिकदर्शनमें गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् और सामान्य-विशेषमें सर्वथा भेद माना गया है, इसलिए वह द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है, द्रव्य शब्दका ऐसा अर्थ करता है, किन्तु उसका यह अर्थ संगत प्रतीत

नहीं होता, क्योंकि द्रव्यत्व नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ अनुभवमें नहीं आता। इस दर्शनने द्रव्यके पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, मन, दिशा आदि अनेक भेद किये हैं, किन्तु विचार करनेपर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका अन्तर्भाव पुद्गलमें हो जाता है। पुद्गलका स्वरूप आगे बतलानेवाले हैं। वहाँ उस रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला बतलाया है। पृथ्वी जलादि जो पदार्थ पहले कह आये हैं, उन सबमें ये स्पर्शादिक उपलब्ध होते हैं यह निर्विवाद है। मनके दो भेद हैं-द्रव्यमन और भावमन। उनमें से द्रव्यमनका अन्तर्भाव पुद्गलमें और भावमनका अन्तर्भाव जीवमें होता है। इसी प्रकार दिशा आकाशसे पृथक् भूत पदार्थ नहीं है क्योंकि सूर्यके उदयादिकी अपेक्षा आकाशमें ही दिशा का व्यवहार होता है। इस प्रकार विचार करनेपर जैन दर्शनमें जो जीवादि पदार्थ गिनाये गये हैं वे ही द्रव्य ठहरते हैं अन्य नहीं, ऐसा सिद्ध होता है। अब उक्त द्रव्योंके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

अन्वयार्थ : (ऊपर कहे हुए सभी द्रव्य) नित्य (अविनाशी) है, अवस्थित (संख्या निश्चित है), अन्यरूपाणि (चक्षु इन्द्रिय से देखे नहीं जा सकते / अरूपी) हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

नित्य शब्दका अर्थ ध्रुव है। 'नेर्ध्रुवे त्यः', इस वार्तिकके अनुसार 'नि' शब्दसे ध्रुव अर्थमें 'त्य' प्रत्यय लगाकर नित्य शब्द बना है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा गतिहेतुत्व आदि रूप विशेष लक्षणोंको ग्रहण करनेवाले और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अस्तित्व आदि रूप सामान्य लक्षणको ग्रहण करनेवाले ये छहों द्रव्य कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसलिए नित्य हैं। 'तदभावाव्ययं नित्यम्' इस सूत्र द्वारा यही बात आगे कहनेवाले भी हैं। व्यभिचार नहीं होता, इसलिए ये अवस्थित हैं। धर्मादिक छहों द्रव्य कभी भी छह इस संख्याका उल्लंघन नहीं करते, इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं। इनमें रूप नहीं पाया जाता इसलिए अरूपी हैं। यहाँ केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी हैं अतः उनका भी निषेध हो जाता है। जिस प्रकार सब द्रव्योंका नित्य और अवस्थित यह साधारण लक्षण प्राप्त होता है उसी प्रकार पुद्गलोंमें अरूपीपना भी प्राप्त होता है, अतः इसका अपवाद करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

अन्वयार्थ : पुद्गल द्रव्य रूपी (मूर्तिक) है ।

सर्वार्थसिद्धि :

रूप और मूर्ति इनका एक अर्थ है। शंका-मूर्ति किसे कहते हैं? समाधान-रूपादिसंस्थानके परिणामको मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। इसका अर्थ मूर्तिमान् है। अथवा, रूप यह गुणविशेषका वाची शब्द है। वह जिनके पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। शंका-यहाँ रसादिकका ग्रहण नहीं किया है? समाधान-नहीं; क्योंकि रसादिक रूपके अविनाभावी हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव हो जाता है।

पुद्गलोंके भेदोंका कथन करनेके लिए सूत्रमें 'पुद्गलाः' यह बहुवचन दिया है। स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गल अनेक प्रकारके हैं। पुद्गलके ये सब भेद आगे कहेंगे। यदि पुद्गलको प्रधानके समान एक और अरूपी माना जाय तो जो विश्वरूप कार्य दिखाई देता है उसके होनेमें विरोध आता है।

पुद्गल द्रव्यके समान क्या धर्मादिक प्रत्येक द्रव्य भी अनेक हैं? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

आ आकाशादेक-द्रव्याणि ॥६॥

अन्वयार्थ : आकाशपर्यन्त सभी द्रव्य (धर्म, अधर्म और आकाश) १-१ हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में 'आड' अभिविधि अर्थमें आया है। सूत्र सम्बन्धी आनुपूर्वीका अनुसरण करके यह कहा है। इससे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनका ग्रहण होता है। एक शब्द संख्यावाची है और वह द्रव्यका विशेषण है। तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं। शंका-यदि ऐसा है तो सूत्र में 'एकद्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनका प्रकार करना अयुक्त है? समाधान-धर्मादिक द्रव्योंकी अपेक्षा बहुवचन बन जाता है। शंका-एकमें अनेकके ज्ञान करानेकी शक्ति होती है, इसलिए 'एकद्रव्याणि' के स्थानमें 'एकैकम्' इतना ही रहा आवे। इससे सूत्र छोटा हो जाता है। तथा 'द्रव्य' पदका ग्रहण करना भी निष्फल है? समाधान-ये धर्मादिक द्रव्यकी अपेक्षा एक है इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'द्रव्य' पदका ग्रहण

किया है। तात्पर्य यह है कि यदि सूत्र में 'एकैकम्' इतना ही कहा जाता तो यह नहीं मालूम पड़ता कि ये धर्मादिक द्रव्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमें-से किसकी अपेक्षा एक हैं, अतः सन्देहके निवारण करनेके लिए 'एकद्रव्याणि' पद रखा है। इनमें-से धर्म और अधर्म द्रव्यके क्षेत्रकी अपेक्षा असंख्यात विकल्प इष्ट होनेसे और भावकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे तथा आकाशके क्षेत्र और भाव दोनोंकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे ये जीव और पुद्गलोंके समान बहुत नहीं हैं इस प्रकार यह बात इस सूत्रमें दिखायी गयी है।
अब अधिकार प्राप्त उन्हीं एक-एक द्रव्योंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अन्वयार्थ : और (धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य) निष्क्रिय (क्रियारहित) हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

अन्तरंग और बहिरंग निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्यके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें प्राप्त करानेका कारण है वह क्रिया कहलाती है और जो इस प्रकारकी क्रियासे रहित हैं वे निष्क्रिय कहलाते हैं। शंका-यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता, क्योंकि घटादिकका क्रियापूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है। और उत्पाद नहीं बननेसे उनका व्यय नहीं बनता। अतः सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं इस कल्पनाका व्याघात हो जाता है? समाधान-नहीं, क्योंकि इनमें उत्पाद आदिक तीन अन्य प्रकारसे बन जाते हैं। यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्यों में क्रियायनिमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है। यथा-उत्पाद दो प्रकारका है, स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। स्वनिमित्तक यथा-प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघु गुण (अविभागप्रतिच्छेद) स्वीकार किये गये हैं जिनका छह स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे होता है। इसी प्रकार परप्रत्यय का भी उत्पाद और व्यय होता है। यथा-ये धर्मादिक द्रव्य क्रमसे अश्व आदिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें कारण हैं। चूँकि इन गति आदिक में क्षण-क्षणमें अन्तर पड़ता है इसीलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्योंमें परप्रत्ययकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है। शंका-यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो ये जीव और पुद्गलोंकी गति आदिकके कारण नहीं हो सकते; क्योंकि जलादिक क्रियावान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त देखे जाते हैं, अन्यथा ननहीं? समाधान-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रियके समान ये बलाधानमें निमित्तमात्र हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय रूपके ग्रहण करनेमें निमित्तमात्र है, इसलिए जिसका मन व्याक्षिप्त है उसके चक्षु इन्द्रियके रहते हुए भी रूपका ग्रहण नहीं होता। उसी प्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिए। इस प्रकार अधिकार प्राप्त धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यको निष्क्रिय मान लेने पर जीव और पुद्गल सक्रिय हैं यह प्रकरणसे अपने-आप प्राप्त हो जाता है। शंका-काल द्रव्य भी सक्रिय होगा? समाधान-नहीं; क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नहीं है। इसलिए इन द्रव्यों के साथ उसका अधिकार नहीं किया है।

‘अजीवकायाः’ इत्यादि सूत्रमें ‘काय’ पदके ग्रहण करनेसे प्रदेशोंका अस्तित्व मात्र जाना जाता है, प्रदेशोंकी संख्या नहीं मालूम होती, अतः उसका निर्धारण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

अन्वयार्थ : धर्म, अधर्म और एक जीवद्रव्य के असंख्यात-असंख्यात प्रदेश होते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

जो संख्यासे परे हैं वे असंख्यात कहलाते हैं। असंख्यात तीन प्रकारका है-जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। उनमें-से यहाँ अजघन्योत्कृष्ट असंख्यातका ग्रहण किया है। ‘प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशः’ यह प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि जिससे विवक्षित परिमाणका संकेत मिलता है, उसे प्रदेश कहते हैं। परमाणुका लक्षण आगे कहेंगे। वह जितने क्षेत्रमें रहता है वह प्रदेश है ऐसा व्यवहार किया जाता है। धर्म, अधर्म और एक जीवके प्रदेशोंकी संख्या समान है। इनमें-से धर्म और अधर्मद्रव्य निष्क्रिय हैं और लोकाकाशभरमें फैले हुए हैं। यद्यपि जीवके प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्यके बराबर ही हैं तो भी वह संकोच और विस्तारस्वभाववाला है, इसलिए कर्मके निमित्तसे छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है उतनी अवगाहनाका होकर रहता है। और केवलिसमुद्घातके समय जब यह लोकको व्यापता है उस समय जीवके मध्यके आठ प्रदेश मेरु पर्वतके नीचे चित्रा पृथिवीके वज्रमय पटलके मध्यमें स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर, नीचे और तिरछे समस्त लोकको व्याप लेते हैं।

अब आकाश द्रव्यके कितने प्रदेश हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

सीमा को नहीं जानने से सर्वज्ञत्व का अभाव होगा, यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा जानता है ।

प्रश्न – यदि संख्या किसी के द्वारा नहीं जानी जाती है तो पदार्थों की अनुपलब्धि होने से असर्वज्ञत्व का प्रसंग आएगा ।

उत्तर – ऐसा नहीं कहना क्योंकि जैसे सर्वज्ञ अनन्त को अनन्तरूप से जानता है तो सर्वज्ञत्व नष्ट नहीं होता उसी तरह वह असंख्यात को असंख्यात-रूप से जानता है इसलिए सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती । सर्वज्ञ प्रभु यथार्थ जानने वाले होने से अन्य रूप से अवस्थित वस्तु को अन्यथा-रूप से नहीं जानते ।

आकाशस्यानन्ताः ॥९॥

अन्वयार्थ : आकाश के अनंत प्रदेश हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

जिनका अन्त नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं? शंका-अनन्त क्या हैं? समाधान-प्रदेश। शंका-किसके? समाधान-आकाशके। पहलेके समान इसके भी प्रदेशकी कल्पना जान लेनी चाहिए। अर्थात् जितने क्षेत्रमें एक परमाणु रहता है उसे प्रदेश कहते हैं। प्रदेशका यह अर्थ यहाँ जानना चाहिए।

अमूर्त द्रव्योंके प्रदेश कहे। अब मूर्त पुद्गलोंके प्रदेशोंकी संख्या ज्ञातव्य है, अतः उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

प्रश्न – अनन्त को केवलज्ञान के द्वारा जान लेने से अनन्तता नहीं रहेगी?

उत्तर – १. उसके द्वारा अनन्त का अनन्त के रूपमें ही ज्ञान हो जाता है। अतः मात्र सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञानसे उसमें सान्तत्व नहीं आता। २. प्रायः सभी वादी अनन्त भी मानते हैं और सर्वज्ञ भी। बौद्ध लोग धातुओं को अनन्त कहते हैं। वैशेषिक दिशा, काल, आकाश और आत्मा को सर्वगत होनेसे अनन्त कहते हैं। सांख्य पुरुष और प्रकृति को सर्वगत होने से अनन्त कहते हैं। इन सबका परिज्ञान होने मात्र से सान्तता हो नहीं सकती। अतः अनन्त होनेसे अपरिज्ञान का दूषण ठीक नहीं है। ३. यदि अनन्त होनेसे पदार्थ को अज्ञेय कहा जायेगा तो सर्वज्ञ का अभाव हो जायेगा। ४. यदि पदार्थों को सान्त माना जायेगा तो संसार और मोक्ष दोनों का लोप हो जायेगा। सो कैसे? वह बताते हैं - (१) यदि जीवों को सान्त माना जाता है तो सब जीव मोक्ष चले जायेंगे तब संसार का उच्छेद हो जायेगा। यदि संसारोच्छेद के भयसे मुक्त जीवों का संसार में पुनः आगमन माना जाये तो अनात्यन्तिक होनेसे मोक्ष का भी उच्छेद हो जायेगा। (२) एक जीवमें कर्म और नोकर्म पुद्गल अनन्त हैं। यदि उन्हें सान्त माना जाये तो भी संसार का अभाव हो जायेगा और उसके अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। (३) इसी तरह अतीत और अनागत कालको सान्त माना जाये तो पहले और बादमें काल व्यवहार का अभाव ही हो जायेगा, पर यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि असत्की उत्पत्ति और सत् का सर्वथा नाश दोनों ही अयुक्तिक हैं। (४) इसी तरह आकाश को सान्त माननेपर उससे आगे कोई ठोस पदार्थ मानना होगा। यदि नहीं तो आकाश ही आकाश माननेपर सान्तता नहीं रहेगी।

प्रश्न – अनन्त होनेके कारण वह ज्ञानमें नहीं आना चाहिए?

उत्तर – नहीं, क्योंकि अतिशय रूप केवलज्ञान के द्वारा उसे भी जान लिया जाता है।

प्रश्न – सर्वज्ञ के द्वारा अनन्त जाना जाता है अथवा नहीं जाना जाता? यदि अनन्त को सर्वज्ञने जाना है तो अनन्त का ज्ञानके द्वारा अन्त जान लेनेसे अनन्तता नहीं रहेगी, और यदि नहीं जाना है तो उसके स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण असर्वज्ञता का प्रसंग आयेगा?

उत्तर – ऐसा नहीं है, क्योंकि अतिशय ज्ञान के द्वारा वह जाना जाता है। यह जो केवलज्ञानियों का क्षायिकज्ञान है सो अतिशयवान् तथा अनन्तानन्त परिमाण वाला है। उसके द्वारा अनन्त साक्षात् जाना जाता है। अन्य लोक सर्वज्ञ के उपदेश से तथा अनुमान से अनन्तता का ज्ञान कर लेते हैं।

प्रश्न – यदि कहोगे कि उसके द्वारा जाना गया है, अतः वह अनन्त भी सान्त है?

उत्तर – तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञने अनन्त को अनन्त रूपसे ही जाना है और सभी वादी प्रायः इस विषयमें विरोध भी नहीं रखते हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अन्वयार्थ : पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं ।

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्रमें जो 'च' शब्द दिया है उससे अनन्तकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि किसी द्वयणुक आदि पुद्गल द्रव्यके संख्यात प्रदेश होते हैं और किसीके असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश होते हैं। शंका-यहाँ अनन्तानन्तका उपसंख्यान करना चाहिए? समाधान-नहीं, क्योंकि यहाँ अनन्त सामान्यका ग्रहण किया है। अनन्त प्रमाण तीन प्रकारका कहा है-परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इसलिए इन सबका अनन्त सामान्यसे ग्रहण हो जाता है। शंका-लोक असंख्यात प्रदेशवाला है, इसलिए वह अनन्त प्रदेशवाले और अनन्तानन्त प्रदेशवाले स्कन्धका आधार है, इस बातके माननेमें विरोध आता है, अतः पुद्गलके अनन्त प्रदेश नहीं बनते? समाधान-यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अवगाहन शक्तिके निमित्तसे अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्धोंका आकाश आधार हो जाता है। सूक्ष्मरूपसे परिणत हुए अनन्तानन्त परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशमें ठहर जाते हैं। इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है, इसलिए आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त परमाणुओंका अवस्थान विरोधको प्राप्त नहीं होता।

पूर्व सूत्रमें 'पुद्गलानाम्' यह सामान्य वचन कहा है। इससे परमाणुके भी प्रदेशों का प्रसंग प्राप्त होता है, अतः इसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

नाणोः ॥११॥

अन्वयार्थ : पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी ही है ।

सर्वार्थसिद्धि :

परमाणुके प्रदेश नहीं हैं, यहाँ 'सन्ति' यह वाक्यका शेष है। शंका-परमाणुके प्रदेश क्यों नहीं होते? समाधान-क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशमात्र है। जिस प्रकार एक आकाश प्रदेशमें प्रदेश-भेद नहीं होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेशरूप है इसलिए उसमें प्रदेशभेद नहीं होता। दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेदको प्राप्त होवें।

इस प्रकार निश्चित प्रदेशवाले इन धर्मादिक द्रव्योंके आधारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

लोकाकाशोऽवगाहः ॥१२॥

अन्वयार्थ : इन द्रव्यों का अवगाहन लोकाकाश में है ।

सर्वार्थसिद्धि :

उक्त धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह है बाहर नहीं, यह इस सूत्रका तात्पर्य है। शंका-यदि धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाश आधार है तो आकाशका क्या आधार है? समाधान-आकाशका अन्य आधार नहीं है, क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है। शंका-यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिए। यदि धर्मादिक द्रव्योंका अन्य आधार माना जाता है तो आकाशका भी अन्य आधार मानना चाहिए। और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है? समाधान-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाशसे अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है जहाँ आकाश स्थित है यह कहा जाय। वह सब ओर से अनन्त है। परन्तु धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है वह व्यवहारनयकी अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूत नयकी अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है-आप कहाँ रहते हैं? अपने में। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं हैं, यहाँ आधार-आधेय कल्पनासे इतना ही फलितार्थ लिया गया है। शंका-लोकमें जो पूर्वोत्तर कालभावी होते हैं उन्हींका आधार-आधेयभाव देखा गया है। जैसे कि बेरोंका आधार कुण्ड होता है। उसीप्रकार आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछेसे उत्पन्न हुए हों, ऐसा तो है नहीं, अतः व्यवहारनयकी अपेक्षा भी आधार-आधेयकल्पना नहीं बनती ? समाधान- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक साथ होनेवाले पदार्थों में भी आधार-आधेयभाव देखा जाता है। यथा - घट में रूपादिक हैं। और शरीर में हाथ आदि हैं। अब लोकका स्वरूप कहते हैं। शंका- लोक किसे कहते हैं? समाधान-जहाँ धर्मादिक द्रव्य विलोके जाते हैं उसे लोक कहते हैं। 'लोक' धातुसे अधिकरण अर्थमें 'धञ्' प्रत्यय करके लोक शब्द बना है। आकाश दो प्रकारका है-लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकका स्वरूप पहले कह आये हैं। वह जितने आकाशमें पाया जाता है लोकाकाश है और उससे बाहर सबसे अनन्त अलोकाकाश है। यह लोकालोकका विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षासे जानना चाहिए। अर्थात् धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और इससे बाहर अलोकाकाश है। यदि धर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो जीव और पुद्गलोंकी गतिके नियमका हेतु न रहने से लोकालोकका विभाग नहीं बनता। उसी प्रकार यदि

अधर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जायेगा तो स्थितिका निमित्त न रहने से जीव और पुद्गलों की स्थितिका अभाव होता है जिससे लोकाकाशका विभाग नहीं बनता। अतः इन दोनों के सद्भाव और सद्भावकी अपेक्षा लोकाकाशके विभाग की सिद्धि होती है।

लोकाकाशमें जितने द्रव्य बतलाये हैं उनके अवस्थानमें भेद हो सकता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्यके अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

अन्वयार्थ : धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में तिल में तेल के समान व्याप्त है ।

सर्वार्थसिद्धि :

सब लोकाकाशके साथ व्याप्तिके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत्स्न' पद रखा है। धर्ममें जिस प्रकार घट अवस्थित रहता उस प्रकार लोकाकाशमें धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह नहीं है। किन्तु जिस प्रकार तिलमें तेल रहता है उस प्रकार सब लोकाकाशमें धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह है। यद्यपि ये सब द्रव्य एक जगह रहते हैं तो भी अवगाह शक्ति के निमित्तसे इनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट होकर व्याघात को नहीं प्राप्त होते।

अब जो उक्त द्रव्योसे विपरीत हैं और जो अप्रदेशी है या संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी हैं ऐसे मूर्तिमान् पुद्गलके अवगाह विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अन्वयार्थ : पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से होता है ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

एक और प्रदेश इन दोनों का द्वन्द्व समास है। जिनके आदि में एक प्रदेश है वे एक प्रदेश आदि कहलाते हैं। उनमें पुद्गलों का अवगाह विकल्प से है। यहाँ पर विग्रह अवयव के साथ है किन्तु समासार्थ समुदायरूप लिया गया है, इसलिए एक प्रदेश का भी ग्रहण होता है। खुलासा इस प्रकार है- आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु का अवगाह है। बन्ध को प्राप्त हुए या खुले हुए दो परमाणुओं का आकाश के एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अवगाह है। बन्ध को प्राप्त हुए या खुले हुए तीन परमाणुओं का आकाश के एक, दो या तीन प्रदेशों में अवगाह है। इसी प्रकार संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धों का लोकाकाश के एक, संख्यात और असंख्यातप्रदेशों में अवगाह जानना चाहिए।

शंका – यह तो युक्त है कि धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं, इसलिए उनका एक जगह बिना विरोध के रहना बन जाता है, किन्तु पुद्गल मूर्त हैं इसलिए उनका बिना विरोध के एक जगह रहना कैसे बन सकता है ?

समाधान – इनका अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूपसे परिणमन हो जाता है, इसलिए एक ढक्कन में जिस प्रकार अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार मूर्तिमान् पुद्गलों का एक जगह अवगाह विरोध को प्राप्त नहीं होता तथा आगम प्रमाण से यह बात जानी जाती है। कहा भी है-

'लोक सूक्ष्म और स्थूल अनन्तानन्त नाना प्रकार के पुद्गलकायों से चारों ओर से खचा-खच भरा है।'

अब जीवों का अवगाह किस प्रकार है इस बात को अगले सूत्र में कहते हैं -

असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

अन्वयार्थ : लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में जीवों का अवगाह है ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में 'लोकाकाशे' इस पद की अनुवृत्ति होती है। उसके असंख्यात भाग करके जो एक भाग प्राप्त हो वह असंख्यातवाँ भाग कहलाता है। वह जिनके आदि में है वे सब असंख्यातवें भाग आदि हैं। उनमें जीवों का अवगाह जानना चाहिए। वह इस प्रकार है – एक एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है। इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असंख्यात भागों से लेकर सब लोकपर्यन्त एक जीव का अवगाह जानना चाहिए। किन्तु नाना जीवों का अवगाह सब लोक में ही होता है।

शंका – यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है तो संख्या की अपेक्षा अनन्तानन्त सशरीर जीवराशि लोकाकाश में कैसे रहती है ?

समाधान – जीव दो प्रकार के हैं सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाश में अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव हैं उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होने के कारण एक निगोद जीव आकाश के जितने प्रदेशों को अवगाहन करता है उतने में साधारण शरीर वाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्पर में और बादरों के साथ व्याघात को नहीं प्राप्त होते, इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों के अवगाह में कोई विरोध नहीं आता।

यहाँ पर शंकाकार का कहना है कि जब एक जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर बतलाये हैं तो लोक के असंख्यातवें भाग आदि में एक जीव कैसे रह सकता है, उसे तो सब लोक को व्याप्त कर ही रहना चाहिए ? अब इस शंका का समसधान करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

अन्वयार्थ : क्योंकि प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होने के कारण लोकाकाश के असंख्येयभागादिक में जीवों का अवगाह बन जाता है ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

चूँकि आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्ध के कारण एकपने को प्राप्त होने से वह मूर्त हो रहा है और कर्मण शरीर के कारण वह छोटे- बड़े शरीर में रहता है, इसलिए वह प्रदेशों के संकोच और विस्तार स्वभाववाला है और इसलिए शरीर के अनुसार दीपक के समान उसका लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाश-प्रदेश में यद्यपि दीपक के प्रकाश के परिमाण का निश्चय नहीं होता तथापि वह सकोरा, ढक्कन , तथा आवरण करने वाले दूसरे पदार्थों के आवरण के वश से तत्परिमाण होता है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

शंका – धर्मादिक द्रव्यों के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश होने के कारण संकर होने से अभेद प्राप्त होता है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि परस्पर अत्यन्त संश्लेष सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते; इसलिए उनमें अभेद नहीं होता । कहा भी है-

'सब द्रव्य परस्पर प्रविष्ट हैं , एक दूसरे को अवकाश देते हैं, और सदा मिलकर रह रहे हैं तो भी अपने स्वभाव नहीं छोड़ते।'

यदि ऐसा है तो धर्मादिक द्रव्यों का स्वभावभेद कहना चाहिए इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं-

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

अन्वयार्थ : गति और स्थिति में निमित्त होना यह क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

एक स्थान से दूसरे स्थान के प्राप्त कराने में जो कारण है उसे **गति** कहते हैं। **स्थिति** का स्वरूप इससे उलटा है। **उपग्रह** शब्द उपकार का पर्यायवाची है जिसकी व्युत्पत्ति 'उपगृह्यते' है। गति और स्थिति इन दोनों में द्वन्द्व समास है। गति और स्थिति ही उपग्रह हैं, इसलिए 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह सूत्रवचन कहा है। 'धर्माधर्मयोः' यह कर्ता अर्थ में षष्ठी निर्देश है। उपकार की व्युत्पत्ति 'उपक्रियते' है।

शंका – यह उपकार क्या है ?

समाधान – गति उपग्रह और स्थिति उपग्रह यही उपकार है।

शंका – यदि ऐसा है तो द्विवचन का निर्देश प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सामान्य से ग्रहण किया गया शब्द जिस संख्या को प्राप्त कर लेता है दूसरे शब्द के सम्बन्ध होने पर भी वह उस संख्या को नहीं छोड़ता। जैसे 'साधोः कार्यं तपः श्रुते' इस वाक्य में 'कार्यम्' एकवचन और 'तपःश्रुते' द्विवचन है। यही बात प्रकृत में जानना चाहिए। इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मछली के गमन में जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलों के गमन में धर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। तथा जिस प्रकार घोड़ा आदि के ठहरने में पृथिवी साधारण निमित्त है उसी प्रकार ठहरने वाले जीव और पुद्गलों के ठहरने में अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है।

शंका – सूत्र में 'उपग्रह' वचन निरर्थक है, क्योंकि 'उपकार' इसी से काम चल जाता है। यथा - 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यथाक्रम के निराकरण करने के लिए 'उपग्रह' पद रखा है। जिस प्रकार धर्म और अधर्म के साथ गति और स्थिति का क्रम से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलों का क्रम से सम्बन्ध प्राप्त होता है। यथा- धर्म द्रव्य का उपकार जीवों की गति है और अधर्म द्रव्य का उपकार पुद्गलों की स्थिति है, अतः इसका

निराकरण करने के लिए सूत्र में 'उपग्रह' पद रखा है।

शंका – धर्म और अधर्म द्रव्य का जो उपकार है उसे आकाश का मान लेना युक्त है क्योंकि आकाश सर्वगत है ?

समाधान – यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश का अन्य उपकार है। सब धर्मादिक द्रव्यों को अवगाहन देना आकाश का प्रयोजन है। यदि एक द्रव्य के अनेक प्रयोजन माने जाते हैं तो लोकालोक के विभाग का अभाव होता है, अतः धर्म और अधर्म द्रव्य का जो उपकार है वह आकाश का मानना युक्त नहीं।

शंका – धर्म और अधर्म द्रव्य के जो प्रयोजन हैं पृथिवी और जल आदिक ही उनके करने में समर्थ हैं, अतः धर्म और अधर्म द्रव्य का मानना ठीक नहीं ?

समाधान – नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के साधारण कारण हैं यह विशेष रूप से कहा है। तथा एक कार्य अनेक कारणों से होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्य का मानना ठीक है।

शंका – धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य तुल्य बलवाले हैं, अतः गति से स्थिति का और स्थिति से गति का प्रतिबन्ध होना चाहिए ?

समाधान – नहीं, क्योंकि ये अप्रेरक हैं।

शंका – धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधे के सींग ?

समाधान – नहीं, क्योंकि इसमें सब वादियों को विवाद नहीं है। तात्पर्य यह है कि जितने वादी हैं वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थों को स्वीकार करते हैं। इसलिए इनका अभाव नहीं किया जा सकता। दूसरे हम जैनों के प्रति 'अनुपलब्धि' हेतु असिद्ध है, क्योंकि जिनके सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र विद्यमान हैं ऐसे सर्वज्ञ देव सब धर्मादिक द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानते हैं और उनके उपदेश से श्रुतज्ञानी भी जानते हैं।

यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार के सम्बन्ध से अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो इनके अनन्तर जो अतीन्द्रिय आकाश द्रव्य कहा है, ऐसा कौन-सा उपकार है जिससे उसका ज्ञान होता है ? अब इसी बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

आकाशस्या-वगाहः ॥१८॥

अन्वयार्थ : आकाश देना आकाश का उपकार है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में 'उपकार' इस पद की अनुवृत्ति होती है। अवगाहन करने वाले जीव और पुद्गलों को अवकाश देना आकाश का उपकार जानना चाहिए।

शंका – अवगाहन स्वभाव वाले जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं इसलिए इनको अवकाश देना युक्त है परन्तु धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय और नित्य सम्बन्धवाले हैं, उनका अवगाह कैसे बन सकता है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि उपचार से इसकी सिद्ध होती है। जैसे गमन नहीं करने पर भी आकाश सर्वगत कहा जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है इसी प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह रूप क्रिया नहीं पायी जाती तो भी लोकाकाश में वे सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः वे अवगाही ऐसा उपचार कर लिया जाता है।

शंका – यदि अवकाश देना आकाश का स्वभाव है तो वज्रादिक से लोढा आदिक का और भीत आदि से गाय आदि का व्याघात नहीं प्राप्त होता है, किन्तु व्याघात तो देखा जाता है। इससे मालूम होता है कि अवकाश देना आकाश का स्वभाव नहीं ठहरता ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वज्र और लोढा आदि स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए उनका आपस में व्याघात होता है, अतः आकाश की अवकाश देने रूप सामर्थ्य नहीं नष्ट होती। यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करने वाले पदार्थों का ही है। तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्पर अवकाश नहीं देते, यह कुछ आकाश का दोष नहीं है। हाँ, जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं।

शंका – यदि ऐसा है तो यह आकाश का असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे पदार्थों में भी इसका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान – नहीं क्योंकि, आकाश द्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

शंका – अलोकाकाश में अवकाशदान रूप स्वभाव नहीं पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाश का स्वभाव नहीं है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता।

आकाश द्रव्य का उपकार कहा। अब उसके अनन्तर कहे गये पुद्गलों का क्या उपकार है, यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

शरीरवाङ्मनः-प्राणापाना पुद्गलानाम् ॥१९॥

अन्वयार्थ : शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – यह अयुक्त है।

समाधान – (प्रतिशंका) क्या अयुक्त है ?

शंका – पुद्गलों का क्या उपकार है यह प्रश्न था पर उसके उत्तर में 'शरीरादिक पुद्गलमय हैं' इस प्रकार पुद्गलों का लक्षण कहा जाता है ?

समाधान – यह अयुक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गलों का लक्षण आगे कहा जाएगा, यह सूत्र तो जीवों के प्रति पुद्गलों के उपकार का कथन करने के लिए ही आया है, अतः उपकार प्रकरण में ही यह सूत्र कहा है। औदारिक आदि पाँचों शरीरों का कथन पहले कर आये हैं। वे सूक्ष्म होने से इन्द्रियगोचर नहीं हैं। किन्तु उनके उदय से जो उपचय शरीर प्राप्त होते हैं उनमें-से कुछ शरीर इन्द्रियगोचर हैं और कुछ इन्द्रियातीत हैं। इन पाँचों शरीरों के कारणभूत जो कर्म हैं उनका भी शरीर पद के ग्रहण करने से ग्रहण हो जाता है। ये सब शरीर पौद्गलिक हैं ऐसा समझकर जीवों का उपकार पुद्गल करते हैं यह कहा है।

शंका – आकाश के समान कार्मण शरीर का कोई आकार नहीं पाया जाता, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है। हाँ, जो औदारिक आदिक शरीर आकारवाले हैं उनको पौद्गलिक मानना युक्त है ?

समाधान – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योंकि उसका फल मूर्तिमान् पदार्थों के सम्बन्ध से होता है। यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिक के सम्बन्ध से पकनेवाले धान आदि पौद्गलिक है। उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड़ और काँटे आदि मूर्तिमान् पदार्थों के मिलने पर फल देते हैं, इससे ज्ञात होता है कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है। वचन दो प्रकार का है- द्रव्यवचन और भाववचन। इनमें-से भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के निमित्त से होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है, क्योंकि पुद्गलों के अभाव में भाववचन का सद्भाव नहीं पाया जाता। चूँकि इस प्रकार की सामर्थ्य से युक्त क्रियावाले आत्मा के द्वारा प्रेरित हो कर पुद्गल वचनरूप से परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्य वचन भी पौद्गलिक हैं। दूसरे द्रव्य श्रोत्र इन्द्रिय के विषय हैं, इससे भी ज्ञात होता है कि वे पौद्गलिक हैं।

शंका – वचन इतर इन्द्रियों के विषय क्यों नहीं होते ?

समाधान – घ्राण इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है उससे जिस प्रकार रसादिक की उपलब्धि नहीं होती उसी प्रकार इतर इन्द्रियों में वचन के ग्रहण करने की योग्यता नहीं है।

शंका – वचन अमूर्त हैं ?

समाधान – नहीं, क्योंकि वचनों का मूर्त इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदि के द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदि के द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है तथा अन्य कारणों से उनका अभिभव आदि देखा जाता है। इससे शब्द मूर्त सिद्ध होते हैं।

मन दो प्रकार का है- द्रव्यमन और भावमन। लब्धि और उपयोगलक्षण भावमन पुद्गलों के आलम्बन से होता है, इसलिए पौद्गलिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के निमित्त से जो पुद्गल गुण-दोष का विचार और स्मरण आदि उपयोग के सम्मुख हुए आत्मा के उपकारक हैं वे ही मनरूप से परिणत होते हैं, अतः द्रव्यमन भी पौद्गलिक है।

शंका – मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह रूपादिरूप परिणमन से रहित है और अणुमात्र है, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना अयुक्त है।

समाधान – शंकाकार का इस प्रकार कहना अयुक्त है। खुलासा इस प्रकार है- वह मन आत्मा और इन्द्रिय से सम्बद्ध है या असम्बद्ध। यदि असम्बद्ध है तो वह आत्मा का उपकारक नहीं हो सकता और इन्द्रियों की सहायता भी नहीं कर सकता। यदि सम्बद्ध है तो जिस प्रदेश में वह अणु मन सम्बद्ध है उस प्रदेशको छोड़ कर इतर प्रदेशों का उपकार नहीं कर सकता।

शंका – अदृष्ट नाम का एक गुण है उसके वश से वह मन अलातचक्र के समान सब प्रदेशों में घूमता रहता है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि अदृष्ट नाम के गुण में इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं पायी जाती। यतः अमूर्त और निष्क्रिय आत्मा का अदृष्ट गुण है। अतः यह गुण भी निष्क्रिय है, इसलिए अन्यत्र क्रिया का आरम्भ करने में असमर्थ है। देखा जाता है कि वायु नामक द्रव्य विशेष स्वयं क्रियावाला और स्पर्शवाला होकर ही वनस्पति में परिस्पन्द का कारण होता है, परन्तु यह अदृष्ट उससे विपरीत लक्षणवाला है, इसलिए यह क्रिया का हेतु नहीं हो सकता। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला आत्मा कोष्ठगत जिस वायु को बाहर निकालता है उच्छवास लक्षण उस वायु को प्राण कहते हैं। तथा वही आत्मा बाहरी जिस वायु को भीतर करता है निःश्वासलक्षण उस वायु को अपान कहते हैं। इस प्रकार ये प्राण और अपान भी आत्मा का उपकार करते हैं, क्योंकि इनमें आत्मा जीवित रहता है। ये मन, प्राण और अपान मूर्त हैं, क्योंकि दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा इनका प्रतिघात आदि देखा जाता है। जैसे- प्रतिभय पैदा करनेवाले बिजलीपात आदि के द्वारा मन का प्रतिघात होता है और सुरा आदि के द्वारा अभिभव। तथा हस्ततल और वस्त्र आदि के द्वारा मुख के ढँक लेने से प्राण और अपान का प्रतिघात उपलब्ध होता है और कफ के द्वारा अभिभव। परन्तु

अमूर्त का मूर्त पदार्थों के द्वारा अभिघात आदि नहीं हो सकता, इससे प्रतीत होता है कि ये सब मूर्त हैं। तथा इसी से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। जैसे यन्त्रप्रतिमा की चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार प्राण और अपान आदि रूप कार्य भी क्रिया वाले आत्मा के अस्तित्व के साधक हैं।

क्या पुद्गलों का इतना ही उपकार है या और भी उपकार है, इस बात के बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

नैते हेतवः । यस्तावदुच्यते-इन्द्रिय-ग्राह्यत्वादिति; श्रोत्रमाकाशमयममूर्तममूर्तस्य ग्राहकमिति को विरोधः । यश्चोच्यते-प्रेरणामिति; नासौ प्रेर्यते गुणस्य गमनाभावात् । देशान्तरस्थेन कथं गृह्यते इति चेत् ।....वेगवद्द्रव्याभिघातात् तदनारम्भेऽग्रहणं न प्रेरणमिति । योऽप्युच्यते-अवरोधादिति; स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, एकदिक्कारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति । अत्रोच्यते-नैते दोषाः । श्रोत्रं 'तावदाकाशमयम्' इति नोपपद्यते; आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात् । अदृष्टवशादिति चेत्; चिन्त्यमेतत्-किमसावदृष्ट आकाशं संस्करोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरैकदेशमिति । न तौ तौ तौ संस्कारो युज्यते; अमूर्तत्वात् अन्यगुणत्वादसंबन्धाच्च । आत्मन्यपि शरीरादत्यन्तमन्यत्वेन कल्पिते नित्ये निरवयवे संस्काराधानं न युज्यते, तदुपार्जनफलादानासंभवात् । नापि शरीरैकदेशे युज्यते; अन्यगुणत्वात् अनभिसंबन्धाच्च । किंच, मूर्तिमत्संबन्धजनितविपत्संपत्तिदर्शनात् श्रोत्रं मूर्तमेवेत्यवसेयम् । यदप्युच्यते-स्पर्शवद् द्रव्याभिघातात् शब्दान्तरानारम्भ इति; खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव मूर्तत्वमस्य सिद्धम् । न हि अमूर्तः कश्चित् मूर्तिमता विहन्यते । तत एव च मुख्यावरोधसिद्धिः स्पर्शवदभिघाताभ्युपगमात् । = प्रश्न-उपरोक्त सर्व ही हेतु ठीक नहीं हैं, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमय होने के कारण स्वयं अमूर्त है और इसलिए अमूर्त शब्द को भी ग्रहण कर सकता है । वायु के द्वारा प्रेरित होना भी नहीं बनता, क्योंकि शब्द गुण है और गुण में क्रिया नहीं होती । संयोग, विभाग व शब्द इन तीनों से शब्दान्तर उत्पन्न हो जाने से नये शब्द सुनाई देते हैं । वास्तव में प्रेरित शब्द सुनाई नहीं देता । जहाँ वेगवान् द्रव्य का अभिघात होता है वहाँ नये शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती । जो शब्द का अवरोध जैसा मालूम देता है, वस्तुतः वह अवरोध नहीं है, किन्तु अन्य स्पर्शवान् द्रव्य का अभिघात होने से एक ही दिशा में शब्द उत्पन्न हो जाता है । वह अवरोध जैसा लगता है । अतः शब्द अमूर्त है ? उत्तर- ये कोई दोष नहीं हैं; क्योंकि-श्रोत्र को आकाशमय कहना उचित नहीं है, क्योंकि अमूर्त आकाश कार्यान्तर को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित है। अदृष्ट की सहायता से भी आकाश में या आत्मा में या शरीर के एकदेश में संस्कार उत्पन्न करने की बात ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य का गुण होने के कारण आकाश व शरीर से उस अदृष्ट का कोई सम्बन्ध नहीं है । और आत्मा आपके ही स्वयं निरंश व नित्य होने के कारण उसके फल से रहित है । दूसरे यह बात भी है कि मूर्तिमान् तेल आदि द्रव्यों से श्रोत्र में अतिशय देखा जाता है तथा मूर्तिमान् कील आदि से उसका विनाश देखा जाता है, अतः श्रोत्र को मूर्त मानना ही समुचित है । आपका यह कहना कि स्पर्शवान् द्रव्य के अभिघात से शब्दान्तर उत्पन्न हो जाता है, स्वयं इस बात की सिद्धि करता है कि शब्द मूर्त है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्त के द्वारा अभिघात को प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए मुख्यरूप से शब्द के अभिघात वाला हेतु भी खण्डित नहीं होता ।

यथा नारकादयो भास्करप्रभाभिवान्मूर्तिमन्तः, तथा सिंहगजभेर्पादिशब्दैर्बृहद्भिः शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते । तथा कंसादिषु पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति । गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः प्रतिश्रुद्भावमास्कन्दन्ति । अत्राह-अमूर्तैरप्यभिभवा दृश्यन्ते- यथा विज्ञानस्य सुरादिभिः मूर्तिमद्भिस्ततो नायं निश्चयहेतुरिति उच्यते-नायं व्यभिचारः, विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात् । = जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने वाले तारा आदि मूर्तिक हैं, उसी तरह सिंह की दहाड़, हाथी की चिंघाड़ और भेरी आदि के घोष से पक्षी आदि के मन्द शब्दों का भी अभिभव होने से वे मूर्त हैं । कांसे के बर्तन आदि में पड़े हुए शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करते हैं । पर्वतों की गुफाओं आदि से टकराकर प्रतिध्वनि होती है । प्रश्न- मूर्तिमान् से अभिभव होने का हेतु ठीक नहीं है, क्योंकि मूर्तिमान् सुरा आदि से अमूर्त विज्ञान का अभिभव देखा जाता है । उत्तर- यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि संसारी जीवों के क्षायोपशमिक ज्ञान को कथंचित् मूर्तिक स्वीकार किया गया है ।

रा.वा./५/१९/६/४६८/३० स्यान्मतम्-यथा चक्षुरादि व्यपदेशभाज आत्मप्रदेशा अवस्थिता नियतदेशत्वात् न तथा मनोऽवस्थितमस्ति, अतएव तदनिन्द्रियमित्युच्यते, ततोऽस्य न पृथग्ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् अनवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात् । यत्र यत्र प्रणिधानं तत्र तत्र आत्मप्रदेशा अंगुलासंख्येभागप्रमिता मनो व्यपदेशभाजः ।

रा.वा./५/१९/२२-२३/४७१/११ स्यादेतत्-अस्थायि मनः, न तस्य निवृत्तिरिति; तन्न; किं कारणम् । अनन्तरसमयप्रच्युतेः । मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गलाः गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते । नायमेकान्तः-अवस्थायैव मनः इति । कुतः । ... द्रव्यार्थदिशान्मनः स्यादवस्थायि, पर्यायार्थदिशात् स्यादनवस्थायि । =

चक्षु आदि इन्द्रियों के आत्मप्रदेश नियत देश में अवस्थित हैं, उस तरह मन के नहीं है, इसलिए उसे अनिन्द्रिय भी कहते हैं और इसीलिए उसका पृथक् ग्रहण ही किया गया है ।

उत्तर - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनवस्थित होने पर भी वह क्षयोपशमनिमित्तक तो है ही । जहाँ-जहाँ उपयोग होता है, वहाँ-वहाँ के अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण आत्मप्रदेश मन के रूप से परिणत हो जाते हैं ।

प्रश्न - मन अवस्थायी है, इसलिए उसकी (उपरोक्त प्रकार) निवृत्ति नहीं हो सकती ।

उत्तर - नहीं, क्योंकि, जो पुद्गल मनरूप से परिणत हुए थे उनकी मनरूपता गुणदोष-विचार और स्मरण आदि कार्य कर लेने पर, अनन्तर समय में नष्ट हो जाती है, आगे वे मन नहीं रहते । यहाँ यह एकान्त भी नहीं समझना चाहिए कि मन

अवस्थायी ही है। द्रव्यार्थिकनय से वह कथंचित् अवस्थायी और पर्यायार्थिक नय से अनवस्थायी। (जन्म से मरण पर्यंत जीव का क्षयोपशमरूप सामान्य भावमन तथा कमलाकार द्रव्यमन वह के वह ही रहते हैं, इसलिए वे अवस्थायी हैं, और प्रत्येक उपयोग के साथ विवक्षित आत्मप्रदेशों में ही भावमन की निर्वृति होती है तथा उस द्रव्यमन को मनपना प्राप्त होता है, जो उपयोग अनन्तर समय में ही नष्ट हो जाता है, इसलिए वे दोनों अनवस्थायी हैं)।

सुख-दुःख-जीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अन्वयार्थ : सुख, दुःख जीवित और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

साता और असाता के उदयरूप अन्तरंग हेतु के रहते हुए बाह्य द्रव्यादिक के परिपाक के निमित्त से जो प्रीति और परिताप रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सुख दुःख कहे जाते हैं। पर्याय के धारण करने में कारणभूत आयुर्कर्म के उदय से भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राण और अपानरूप क्रिया विशेष का विच्छेद नहीं होना जीवित है। तथा उसका उच्छेद मरण है। ये सुखादिक जीव के पुद्गल- कृत उपकार हैं; क्योंकि मूर्त कारणों के रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है।

शंका – उपकार का प्रकरण होने से सूत्र में उपग्रह शब्द का प्रयोग करना निष्फल है ?

समाधान – निष्फल नहीं है, क्योंकि स्वतः के उपकार के दिखलाने के लिए सूत्र में उपग्रह शब्द का प्रयोग किया है। पुद्गलों का भी पुद्गलकृत उपकार होता है। यथा- काँसे आदि का राख आदि के द्वारा, जल आदि का कतक आदि के द्वारा और लौह आदि का जल आदि के द्वारा, जल आदि का कतक आदि के द्वारा लौह आदि का जल आदि के द्वारा उपकार किया जाता है।

शंका – सूत्रमें 'च' शब्द किस लिए दिया है ?

समाधान – समुच्चय के लिए। पुद्गलकृत और भी उपकार हैं इसके समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीर आदिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

इस प्रकार पहले अजीवकृत उपकारको दिखलाकर अब जीवकृत उपकार के दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अन्वयार्थ : परस्पर निमित्त होना यह जीवों का उपकार है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

परस्पर यह शब्द कर्म व्यतिहार अर्थ में रहता है। और कर्मव्यतिहार का अर्थ क्रियाव्यतिहार है। परस्पर का उपग्रह परस्परोपग्रह है। यह जीवों का उपकार है।

शंका – वह क्या है ?

समाधान – स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूप से वर्तन करना परस्परोपग्रह है। स्वामी तो धन आदि देकर सेवक का उपकार करता है और सेवक हित का कथन करके तथा अहित का निषेध करके स्वामी का उपकार करता है। आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश-द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करता है और शिष्य भी आचार्य का उपकार करते हैं।

शंका – उपकार का अधिकार है, इसलिए सूत्र में फिर से 'उपग्रह' शब्द किसलिए दिया है ?

समाधान – पिछले सूत्र में जो सुखादिक चार कह आये हैं उनके दिखलाने के लिए फिर से 'उपग्रह' शब्द दिया है। तात्पर्य यह है कि सुखादिक भी जीवों के जीवकृत उपकार है।

यदि ऐसा है कि जो है उसे अवश्य उपकारी होना चाहिए तो काल भी सद्रूप माना गया है इसलिए उसका क्या उपकार है, इसी बात के बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं-

वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अन्वयार्थ : वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

णिजन्त वृत्ति धातु से कर्म या भाव में 'युट्' प्रत्यय के करने पर स्त्रीलिंग में वर्तना शब्द बनता है जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते' या वर्तनमात्रम् होती है। यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी उनकी वृत्ति

बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती, इसलिए उसे प्रवर्तने वाला काल है ऐसा मान कर वर्तना काल का उपकार कहा है।

शंका – णिजर्थ क्या है ?

समाधान – द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलाने वाला काल है।

शंका – यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है ? जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है। (यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है।)

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्त मात्र में भी हेतुकर्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे कंडे की अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कंडे की अग्नि निमित्तमात्र है उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है।

शंका – वह काल है यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान – समयादिक क्रियाविशेषों की और समयादिक के द्वारा होने वाले पाक आदिक की समय, पाक इत्यादि रूप से अपनी-अपनी रौढ़िक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें जो समय काल, ओदनपाक काल इत्यादि रूप से काल संज्ञा का अध्यारोप होता है वह उस संज्ञा के निमित्तभूत मुख्यकाल के अस्तित्व का ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण व्यवहार मुख्य की अपेक्षा रखता है। एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। यथा जीव के क्रोधादि और पुद्गल के वर्णादि। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य में परिणाम होता है जो अगुरुलघु गुणों (अविभाग-प्रतिच्छेदों) की वृद्धि और हानि से उत्पन्न होता है। द्रव्य में जो परिस्पन्दरूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं। प्रायोगिक और वैज्ञानिक के भेद से वह दो प्रकार की है। उनमें-से गाड़ी आदि की प्रायोगिक क्रिया है और मेघादिक की वैज्ञानिकी। परत्व और अपरत्व दो प्रकार का है – क्षेत्रकृत और कालकृत। प्रकृत में कालकृत उपकार का प्रकरण है, इसलिए कालकृत परत्व और अपरत्व लिये गये हैं। ये सब वर्तनादिक उपकार काल के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।

शंका – सूत्र में केवल वर्तना पद का ग्रहण करना पर्याप्त है। परिणाम आदिक उसके भेद हैं, अतः उनका अलग से ग्रहण करना निष्फल है।

समाधान – परिणाम आदिक का अलग से ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि दो प्रकार के काल के सूचन करने के लिए इतना विस्तार से कथन किया है। काल दो प्रकार का है - परमार्थ काल और व्यवहार काल। इनमें-से परमार्थ काल वर्तना लक्षणवाला है और परिणाम आदि लक्षणवाला व्यवहार काल है। तात्पर्य यह है कि जो क्रिया विशेष अन्य से परिच्छिन्न होकर अन्य के परिच्छेद का हेतु है उसमें काल इस प्रकार का व्यवहार किया गया है। वह काल तीन प्रकार का है - भूत, वर्तमान और भविष्यत्। उनमें-से परमार्थ काल में काल यह संज्ञा मुख्य है और भूतादिक व्यपदेश गौण है। तथा व्यवहार काल में भूतादिकरूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है, क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार क्रिया वाले द्रव्य की अपेक्षा से होता है तथा काल का कार्य है। यहाँ पर शंकाकार कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल द्रव्य का उपकार कहा तथा, 'उपयोगो लक्षणम्' इत्यादि सूत्र द्वारा इनका लक्षण भी कहा। इसी प्रकार 'अजीवकाया' इत्यादि सूत्र द्वारा पुद्गलों का सामान्य लक्षण भी कहा, किन्तु पुद्गलों का विशेष लक्षण नहीं कहा, इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

प्रश्न – काल का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – जितने लोकाकाश में प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। सारे लोकाकाश में भिन्न होने से इनमें मुख्य और प्रदेश कल्पना नहीं है क्योंकि ये निरवयवी हैं। क्योंकि मुख्यप्रदेश कल्पना, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और द्वय-अणुक पुद्गल स्कन्धों में है तथा परमाणु में प्रचयशक्ति के कारण उपचार से प्रदेश-कल्पना है, परन्तु कालाणु में धर्मास्तिकाय आदि के समान न तो मुख्य-प्रदेश कल्पना है और न परमाणु के समान उपचार प्रदेश-प्रचय कल्पना है, अतः कालाणु में कायत्व का अभाव है अर्थात् कालाणु अस्तिकाय नहीं है क्योंकि दोनों प्रकार के प्रदेश-प्रचयों का इसमें अभाव है। विनाश का कारण न होने से कालाणु नित्य है। कालाणु में परप्रत्यय (कारण) से उत्पाद-विनाश होता रहता है, इसलिए कालाणु कथंचित अनित्य भी है। सुई में धागा जाने के आकाश मार्ग के छिद्र के समान परिच्छिन्न मूर्ति होने पर भी रूप-रस-आदि से रहित होने के कारण अमूर्त है। अर्थात् जैसे सुई का धागा जाने से मार्ग परिच्छिन्न होता है, अमूर्त होते हुए भी सुई के छिद्र का आकाश सुई के नोक बराबर मूर्त हो जाता है, उतने स्थान का कालाणु भी परिच्छिन्न हो जाने से मूर्तसा दिखता है परन्तु रूप आदि नहीं होने से, वास्तव में अमूर्त है। प्रदेशान्तर -- क्षेत्र से क्षेत्रान्तर के संक्रमण का अभाव होने से कालाणु निष्क्रिय है। व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया और परत्वा-परत्व के द्वारा लक्षित होता है। कालकृत वर्तना का आधार होने से यह भी काल कहलाता है। यह स्वयं किसी के द्वारा परिच्छिन्न होकर अन्य पदार्थों के परिच्छेद में कारण होता है ॥२४॥

परस्पर अपेक्षा से काल तीन प्रकार का सिद्ध है। भूत, वर्तमान और भविष्यत्। ये तीनों काल परस्परापेक्ष सिद्ध होते हैं। जैसे वृक्ष-पंक्ति के अनुसार चलने वाले देवदत्त के एक-एक वृक्ष प्राप्त होने से कुछ वृक्ष प्राप्त हो चुके, कुछ प्राप्त हो रहे हैं और कुछ आगे प्राप्त होंगे, ऐसा व्यपदेश हाता है, उसी प्रकार उन कालाणुओं की क्रमिक पर्यायों का अनुसरण करने वाले द्रव्यों में क्रमशः वर्तमान का अनुभवन होने से भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल का सद्व्यवहार होता है। उनमें परमार्थ (मुख्य) काल में भूत वर्तमानादि का व्यवहार गौण है तथा व्यवहार काल में मुख्य है। अतः यह भूतादि व्यवहार काल एक-दूसरे की अपेक्षा रखता है। जो क्रियापरिणत द्रव्य कालपरमाणु को प्राप्त होता है वह द्रव्य उस काल के द्वारा वर्तमान

समय सम्बन्धी वर्तना के कारण वर्तमान काल कहलाता है। कालाणु भी उस वर्तमान द्रव्य की स्व-सम्बन्धी वर्तना के कारण वर्तमान कहा जाता है, वही द्रव्य जब कालवश वर्तना के सम्बन्ध का अनुभव कर चुकता है तब भूत कहा जाता है और कालाणु भी भूतकाल सम्बन्धी द्रव्य की वर्तना में कारण होने से भूत कहलाता है। वहीं द्रव्य आगे होने वाली वर्तना की अपेक्षा भविष्यत् कहा जाता है और कालाणु भी भविष्यत्काल सम्बन्धी द्रव्य की वर्तना के कारण भविष्यत् कहलाता है। इस प्रकार सूर्य को प्रतिक्षण गति की अपेक्षा आवलिका, उच्छवास, प्राण, स्तोक, लव, नालिका, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि सूर्यगतिनिमित्तक परिवर्तन काल-वर्तना के कारण व्यवहार काल मनुष्य क्षेत्र में होता है, ऐसा कहा जाता है; क्योंकि मनुष्य लोक में ही ज्योतिर्देव गतिशील होते हैं। मनुष्य-क्षेत्र से बाहर के ज्योतिर्देव अवस्थित हैं, गमन नहीं करते अर्थात् वे गतिव्यापार से रहित हैं। मनुष्य-क्षेत्र में उत्पन्न ज्योतिषी देवों की गति के कारण समुत्थ समय आवलि आदि के द्वारा परिछिन्न क्रियाकलाप रूप वर्तना नामक काल से ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक लोकरूप तीनों लोकों के प्राणियों की संख्यात, असंख्यात, अनन्तानन्त काल गणना के प्रभेद से कर्म-स्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति आदि का परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इससे संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि की गिनती की जाती है और इस व्यवहार काल से ही सर्वत्र, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवस्था की जाती है ॥२५॥

स्पर्श-रस-गंध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अन्वयार्थ : स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुद्गल होते हैं ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो स्पर्श किया जाता है उसे या स्पर्शनमात्र को **स्पर्श** कहते हैं। कोमल, कठोर, भारी, हल्का, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रूक्ष के भेद से वह आठ प्रकार का है।

जो स्वाद रूप होता है या स्वादमात्र को **रस** कहते हैं। तीता, खट्टा, कडुआ, मीठा और कसैला के भेद से वह पाँच प्रकार का है।

जो सूँघा जाता है या सूँघनेमात्र को **गन्ध** कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से वह दो प्रकार का है।

जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्र को **वर्ण** कहते हैं। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वह पाँच प्रकार का है। ये स्पर्श आदि के मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार ये स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनमें पाये जाते हैं वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्य से सदा सम्बन्ध है यह बतलाने के लिए 'मतुपु, प्रत्यय किया है। जैसे 'क्षीरिणो न्यग्रोधाः'। यहाँ न्यग्रोध वृक्ष में दूध का सदा सम्बन्ध बतलाने के लिए 'णिनी' प्रत्यय किया है - उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

शंका – 'रूपिणः पुद्गलाः' इस सूत्र में पुद्गलों को रूपवाला बतला आये हैं। और रसादिक वहीं रहते हैं जहाँ रूप पाया जाता है; क्यों कि इनका परस्पर में सहचर नाम का अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिए रूप के ग्रहण करने से रसादि का ग्रहण हो ही जाता है यह भी पहले बतला आये हैं, इसलिए उसी सूत्र के बल से पुद्गल रूपादिवाला सिद्ध हो जाता है अतः यह सूत्र निष्फल है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्र में धर्मादिक द्रव्यों का नित्य आदि रूप से निरूपण किया है इससे पुद्गलों को अरूपित्व प्राप्त हुआ, अतः इस दोष के दूर करने के लिए 'रूपिणः पुद्गलाः' यह सूत्र कहा है। परन्तु यह सूत्र पुद्गलों के स्वरूप विशेष का ज्ञान कराने के लिए कहा है।

अब पुद्गलों की शेष रहीं पर्यायों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

शब्द-बंध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद- तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अन्वयार्थ : तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

भाषारूप शब्द और अभाषारूप शब्द इस प्रकार **शब्दों** के दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं - साक्षर और अनक्षर। जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिससे आर्य और म्लेच्छों का व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब **साक्षर** शब्द हैं। जिससे उनके सातिशय ज्ञान के स्वरूप का पता लगता है ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवों के शब्द **अनक्षरात्मक** शब्द हैं। ये दोनों प्रकार के शब्द प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं - प्रायोगिक और वैस्रसिक। मेघ आदि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे **वैस्रसिक** शब्द हैं। तथा तत, वितत, घन और सौषिर के भेद

से **प्रायोगिक** शब्द चार प्रकार के हैं। चमड़े से मढ़े हुए पुष्कर, भेरी और दर्दुर से जो शब्द, उत्पन्न होता है वह **तत** शब्द है। ताँतवाले वीणा और सुघोष आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है वह **वितत** शब्द है। ताल, घण्टा और लालन आदि के ताड़न से जो शब्द उत्पन्न होता है वह **घन** शब्द है तथा बाँसुरी और शंख आदि के फूँकने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह **सौषिर** शब्द है।

बन्ध के दो भेद हैं - वैज्ञानिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है **वैज्ञानिक** बन्ध है। जैसे, स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्धन वैज्ञानिक बन्ध है। और जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह **प्रायोगिक** बन्ध है। इसके दो भेद हैं - अजीवसम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी। लाख और लकड़ी आदि का अजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। तथा कर्म और नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है वह जीवाजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है।

सूक्ष्मता के दो भेद हैं - अन्त्य और अपेक्षिक। परमाणुओं में **अन्त्य** सूक्ष्मत्व है। तथा बेल, आँवला और बेर आदि में **आपेक्षिक** सूक्ष्मत्व है।

स्थौल्य भी दो प्रकार का है - अन्त्य और आपेक्षिक। जगव्यापी महास्कन्ध में **अन्त्य** स्थौल्य है। तथा बेर, आँवला और बेल आदि में **आपेक्षिक** स्थौल्य है।

संस्थान का अर्थ आकृति है। इसके दो भेद हैं - इत्थंलक्षण और अनित्यलक्षण। जिसके विषय में 'यह संस्थान इस प्रकार का है' यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब **इत्थंलक्षण** संस्थान हैं। तथा इससे अतिरिक्त मेघ आदि के आकार जो कि अनेक प्रकार के हैं और जिनके विषय में यह इस प्रकार का है यह नहीं कहा जा सकता वह **अनित्यलक्षण** संस्थान है।

भेद के छह भेद हैं - उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन। करोत आदि से जो लकड़ी आदि को चीरा जाता है वह **उत्कर** नामका भेद है। जौ और गेहूँ आदि का जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह **चूर्ण** नाम का भेद है। घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं वह **खण्ड** नाम का भेद है। उड़द और मूंग आदि का जो खण्ड किया जाता है वह **चूर्णिका** नामका भेद है। मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं वह **प्रतर** नाम का भेद है। तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो फुलंगे निकलते हैं वह **अणुचटन** नाम का भेद है।

जिससे दृष्टि में प्रतिबन्ध होता है और जो प्रकाश का विरोधी है वह **तम** कहलाता है।

प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो पैदा होती है वह **छाया** कहलाती है। उसके दो भेद हैं - एक तो वर्णादिक के विकार रूप से परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिम्बरूप।

जो सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे **आतप** कहते हैं।

तथा चन्द्रमणि और जुगुनू आदि के निमित्त से जो प्रकाश पैदा होता है उसे **उद्योत** कहते हैं।

ये सब शब्दादिक पुद्गल द्रव्य के विकार(पर्याय) हैं। इसीलिए सूत्र में पुद्गल को इन शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवाला कहा है। सूत्र में दिये हुए 'च' शब्द से नोदन अभिघात आदिक जो पुद्गल की पर्यायें आगम में प्रसिद्ध हैं उनका संग्रह करना चाहिए।

अब पूर्वोक्त पुद्गलों के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं - पुद्गल के दो भेद हैं -

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

अन्वयार्थ : पुद्गल के दो भेद हैं - अणु और स्कन्ध ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

एक प्रदेश होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अणु एकप्रदेशी होने से सबसे छोटा होता है इसलिए वह अणु कहलाता है। यह इतना सूक्ष्म होता है जिससे वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। कहा भी है -

'जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है, और जिसे इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकतीं ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु समझो।'

जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है, वे स्कन्ध कहे जाते हैं। रूढि में क्रिया कहीं पर होती हुई उपलक्षणरूप से वह सर्वत्र ली जाती है, इसलिए ग्रहण आदि व्यापार के अयोग्य द्रव्यणुक आदिक में भी स्कन्ध संज्ञा प्रवृत्त होती है। पुद्गलों के अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणुजाति और स्कन्धजाति के भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार पुद्गलों की इन दोनों जातियों के आधारभूत अनन्त भेदों के सूचन करने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। यद्यपि सूत्र में अणु और स्कन्ध इन दोनों पदों को समसित रखा जा सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणवः स्कन्धाः' इस प्रकार भेद रूप से जो कथन किया है वह इस सूत्र से पहले कहे गये दो सूत्रों के साथ अलग-अलग सम्बन्ध बतलाने के लिए किया है। जिससे यह ज्ञात हो कि अणु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, छाया, आतप और उद्योतवाले हैं तथा स्पर्शादिवाले भी हैं।

इन पुद्गलों का अणु और स्कन्धरूप परिणाम होना अनादि है या सादि ? वह उत्पन्न होता है इसलिए सादि है। यदि ऐसा है तो उस निमित्त का कथन करो जिससे अणु और स्कन्ध ये भेद उत्पन्न होते हैं। इसलिए पहले स्कन्धों की उत्पत्ति के हेतु का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

राजवार्तिक :

प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिः गुणैस्सततं परिणमन्त इत्येवं अण्यन्ते शब्दन्ते ये ते अणवः। सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च।

= प्रदेश मात्र-भावि स्पर्शादि गुणों से जो परिणमन करते हैं और इसी रूप से शब्द के विषय होते हैं वे अणु हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इनका आदि मध्य अन्त एक ही है।

भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अन्वयार्थ : भेद से, संघात से तथा भेद और संघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ॥२६॥

सर्वार्थसिद्धि :

अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकार के निमित्तों से संघातों के विदारण करने को **भेद** कहते हैं।

तथा पृथग्भूत हुए पदार्थों के एकरूप हो जाने को **संघात** कहते हैं।

शंका – भेद और संघात दो हैं, इसलिए सूत्र में द्विवचन होना चाहिए।

समाधान – तीन का संग्रह करने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। जिससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि भेद से, संघात से तथा भेद और संघात इन दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। खुलासा इस प्रकार है - दो परमाणुओं के संघात से दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले स्कन्ध और अणु के संघात से या तीन अणुओं के संघात से तीन प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले दो स्कन्धों के संघात से, तीन प्रदेशवाले स्कन्ध और अणु के संघात से या चार अणुओं के संघात से चार प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त अणुओं के संघात से उतने-उतने प्रदेशोंवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तथा इन्हीं संख्यात आदि परमाणुवाले स्कन्धों के भेद से दो प्रदेशवाले स्कन्ध तक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक समय में होनेवाले भेद और संघात इन दोनों से दो प्रदेशवाले आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कन्ध से भेद होता है और अन्य का संघात, तब एक साथ भेद और संघात इन दोनों से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण कहा ।

अब अणु की उत्पत्ति के हेतु को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

भेदादणुः ॥२७॥

अन्वयार्थ : भेद से अणु उत्पन्न होता है ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है। तात्पर्य यह है कि अणु भेद से होता है यद्यपि यह सिद्ध है फिर भी 'भेदादणुः' इस सूत्र के निर्माण करने से यह नियम फलित होता है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है। न संघात से होती है और न भेद और संघात इन दोनों से ही होती है।

जब संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति होती है तब सूत्र में भेद और संघात इन दोनों पदों का ग्रहण करना निष्फल है अतः इन दोनों पदों के ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है इसका कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अन्वयार्थ : भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है ॥२८॥

सर्वार्थसिद्धि :

अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई अचाक्षुष। उसमें जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे होता है इसी बात के बतलाने के लिए यह कहा है कि भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध होता है,

केवल भेद से नहीं, यह इस सूत्र का अभिप्राय है।

शंका – इसका क्या कारण है ?

समाधान – आगे उसी कारण को बतलाते हैं - सूक्ष्मपरिणाम वाले स्कन्ध का भेद होने पर वह अपनी सूक्ष्मता को नहीं छोड़ता इसलिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है। एक दूसरा सूक्ष्मपरिणामवाला स्कन्ध है जिसका यद्यपि भेद हुआ तथापि उसका दूसरे संघात से संयोग हो गया अतः सूक्ष्मपना निकलकर उसमें स्थूलपने की उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष हो जाता है।

धर्मादिक द्रव्य के विशेष लक्षण कहे, सामान्य लक्षण नहीं कहा, जो कहना चाहिए इसलिए सूत्र द्वारा सामान्य लक्षण कहते हैं –

सद् द्रव्य-लक्षणम् ॥२९॥

अन्वयार्थ : द्रव्य का लक्षण सत् है ॥२९॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो सत् है वह द्रव्य है यह इस सूत्र का भाव है।

यदि ऐसा है तो यही कहिए कि सत् क्या है ? इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ॥३०॥

अन्वयार्थ : जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है ॥३०॥

सर्वार्थसिद्धि :

द्रव्य दो हैं - चेतन और अचेतन। वे अपनी जाति को तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनकी अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रति समय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है उसे **उत्पाद** कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। तथा पूर्व अवस्था के त्याग को **व्यय** कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकार का त्याग तथा जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। तथा इस ध्रुव का भाव या कर्म **ध्रौव्य** कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है वह सत् है।

शंका – भेद के रहते हुए युक्त शब्द देखा जाता है। जैसे दण्ड से युक्त देवदत्त। यहाँ दण्ड और देवदत्त में भेद है प्रकृत में भी यदि ऐसा मान लिया जाय तो उन तीनों का और उन तीनों से युक्त द्रव्य का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि अभेद में भी कथंचित् भेदग्राही नय की अपेक्षा युक्त शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे सार युक्त स्तम्भ। ऐसी हालत में उन तीनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से यहाँ युक्त शब्द का प्रयोग करना युक्त है। अथवा यह युक्त शब्द समाधिवाची है। भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं जिससे 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है' इसका भाव 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है' यह होता है। उक्त कथन का तात्पर्य है कि उत्पाद आदि द्रव्य के लक्षण हैं और द्रव्य लक्ष्य है। यदि इनका पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा विचार करते हैं तो ये आपस में और द्रव्य से पृथक् पृथक् हैं और यदि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा विचार करते हैं तो ये पृथक्-पृथक् उपलब्ध नहीं होने से अभिन्न हैं। इस प्रकार इनमें और द्रव्य में लक्ष्य-लक्षणभाव की सिद्धि होती है।

'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' यह सूत्र कह आये हैं। वहाँ यह नहीं ज्ञात होता कि नित्य क्या है, इसलिये आगे का सूत्र कहते हैं--

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

अन्वयार्थ : उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न होना नित्य है ॥३१॥

सर्वार्थसिद्धि :

अब तद्भाव इस पद का खुलासा करते हैं।

शंका – 'तद्भाव' क्या वस्तु है ?

समाधान – जो प्रत्यभिज्ञान का कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकार के स्मरण को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है। इसकी निरुक्ति 'भवनं भावः, तस्य भावः तदभावः'

इस प्रकार होती है। तात्पर्य यह है कि पहले जिसरूप वस्तु को देखा है उसी रूप उसके पुनः होने से 'यह वही है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तु का सर्वथा नाश हो जाय या सर्वथा नयी वस्तु का उत्पाद माना जाय तो इससे स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरण की उत्पत्ति न हो सकने से स्मरण के आधीन जितना लोकसंव्यवहार चालू है वह सब विरोध को प्राप्त होता है, इसलिए जिस वस्तु का जो भाव है उस रूप से च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है। परन्तु इसे कथंचित् जानना चाहिए। यदि सर्वथा नित्यता मान जी जाय तो परिणमन का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होने से संसार और इसकी निवृत्ति के कारणरूप प्रक्रिया का विरोध प्राप्त होता है।

शंका – उसी को नित्य कहना और उसी को अनित्य कहना यही विरुद्ध है। यदि नित्य है तो उसका व्यय और उत्पाद न होने से उसमें अनित्यता नहीं बनती। और यदि अनित्य है तो स्थिति का अभाव होने से नित्यता का व्याघात होता है ?

समाधान – नित्यता और अनित्यता का एक साथ रहना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि –

अर्पितानर्पितसिद्धे: ॥३२॥

अन्वयार्थ : मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है ॥३२॥

सर्वार्थसिद्धि :

वस्तु अनेकान्तात्मक है। प्रयोजन के अनुसार उसके किसी एक धर्म को विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती है तो वह **अर्पित** या उपनीत कहलाता है और प्रयोजन के अभावमें जिसकी प्रधानता नहीं रहती वह **अनर्पित** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या धर्म के रहते हुए भी उसकी विवक्षा नहीं होती, इसलिए जो गौण हो जाता वह अनर्पित कहलाता है। इन दोनोंका 'अनर्पितं च अर्पितं च' इस प्रकार द्वन्द्व समास है। इन दोनों की अपेक्षा एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों की सिद्धि होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। खुलासा इस प्रकार है - जैसे देवदत्त के पिता, पुत्र, भाई और भान्जे इसी प्रकार और भी जनकत्व और जन्यत्व आदि के निमित्त से होने वाले सम्बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होते। जब जिस धर्म की प्रधानता होती है उस समय उसमें वह धर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ - पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और पिता की अपेक्षा वह पुत्र है आदि। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। वे सामान्य और विशेष कथंचित् भेद और अभेद की अपेक्षा ही व्यवहार के कारण होते हैं।

शंका – सत् अनेक प्रकार के नय के व्यवहार के आधीन होने से भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति भले ही बन जावे परन्तु यह संदिग्ध है कि द्वयणुक आदि लक्षणवाला संघात संयोग से ही होता है या उसमें और कोई विशेषता है ?

समाधान – संयोग के होने पर एकत्व परिणमन रूप बन्ध से संघात की उत्पत्ति होती है।

शंका – यदि ऐसा है तो यह बतलाइए कि सब पुद्गलजाति के होकर भी उनका संयोग होने पर किन्हीं का बन्ध होता है और किन्हीं का नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

समाधान – चूँकि वे सब जाति से पुद्गल हैं तो भी उनकी जो अनन्त पर्यायें हैं उनका परस्पर विलक्षण परिणमन होता है, इसलिए उससे जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि –

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

अन्वयार्थ : स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है ॥३३॥

सर्वार्थसिद्धि :

बाह्य और आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उससे पुद्गल **स्निग्ध** कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'स्निह्यते स्मेति स्निग्धः' होगी। तथा रूखापन के कारण पुद्गल **रूक्ष** कहा जाता है। स्निग्ध पुद्गल का धर्म स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गल का धर्म रूक्षत्व है। पुद्गल की चिकने गुणरूप जो पर्याय है वह स्निग्धत्व है और इससे जो विपरीत परिणमन है वह रूक्षत्व है। सूत्र में 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इस प्रकार हेतुपरक निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि द्वयणुक आदि लक्षणवाला जो बन्ध होता है वह इनका कार्य है। स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले दो परमाणुओं का परस्पर संश्लेषलक्षण बन्ध होने पर द्वयणुक नाम का स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। स्निग्ध गुण के एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार रूक्ष गुण के भी एक, दो, तीन, चार संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। और इन गुणवाले परमाणु होते हैं। जिस प्रकार जल तथा बकरी, गाय, भैंस और ऊँट के दूध और घी में उत्तरोत्तर अधिक रूप से स्नेह गुण रहता है तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदि में उत्तरोत्तर न्यूनरूप से रूक्ष गुण रहता है उसी प्रकार परमाणुओं में भी न्यूनाधिकरूप से स्निग्ध और रूक्ष गुण का अनुमान होता है।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण के निमित्त से सामान्य से बन्ध के प्राप्त होने पर बन्ध में अप्रयोजनीय गुण के निराकरण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

न जघन्य-गुणानाम् ॥३४॥

अन्वयार्थ : जघन्य गुणवाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता ॥३४॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ जघन्य शब्द का अर्थ निकृष्ट है और गुण शब्द का अर्थ भाग है। जिनमें जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है वे जघन्य गुणवाले कहलाते हैं। उन जघन्य गुणवालों का बन्ध नहीं होता। यथा - एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले का एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले के साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त शक्त्यंशवालों के साथ बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले का एक रूक्ष शक्त्यंशवाले के साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार एक रूक्ष शक्त्यंशवाले की भी योजना करनी चाहिए।

इन जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्त्यंशवालों के सिवा अन्य स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध सामान्य रीति से प्राप्त हुआ, इसलिए इनमें भी जो बन्धयोग्य नहीं हैं वे प्रतिषेध के विषय हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

अन्वयार्थ : गुणों की समानता होने पर तुल्य जातिवालों का बन्ध नहीं होता ॥३५॥

सर्वार्थसिद्धि :

तुल्य जातिवालों का ज्ञान कराने के लिए सदृश पद का ग्रहण किया है। तुल्य शक्त्यंशों का ज्ञान कराने के लिए 'गुणसाम्य' पद का ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि दो स्निग्ध शक्त्यंशवालों का दो रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ, तीन स्निग्ध शक्त्यंशवालों का तीन रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशवालों का दो स्निग्ध शक्त्यंशवालों के साथ, दो रूक्ष शक्त्यंशवालों का दो रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

शंका – यदि ऐसा है तो सूत्र में 'सदृश' पद किसलिए ग्रहण किया है ?

समाधान – शक्त्यंशों की असमानता के रहते हुए बन्ध होता है इसका ज्ञान कराने के लिए सूत्र में सदृश पद ग्रहण किया है।

इस पूर्वोक्त कथन से समानजातीय या असमानजातीय विषम शक्त्यंशवालों का अनियम से बन्ध प्राप्त हुआ, अतः इष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

द्वयधिकादि गुणानां तु ॥३६॥

अन्वयार्थ : दो अधिक आदि शक्त्यंशवालों का तो बन्ध होता है ॥३६॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिसमें दो शक्त्यंश अधिक हों उसे द्वयधिक कहते हैं।

शंका – वह द्वयधिक कौन हुआ ?

समाधान – चार शक्त्यंशवाला। सूत्र में आदि शब्द प्रकारवाची है।

शंका – वह प्रकार रूप अर्थ क्या है ?

समाधान – द्वयधिकपना। इससे पाँच शक्त्यंश आदि का ज्ञान नहीं होता। तथा इससे यह भी तात्पर्य निकल आता है कि समानजातीय या असमानजातीय दो अधिक आदि शक्त्यंशवालों का बन्ध होता है दूसरों का नहीं। जैसे दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु का एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ और तीन स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, चार स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। तथा उसी दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु का पाँच स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ, इसी प्रकार छह, सात, आठ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु का पाँच स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ बन्ध होता है। किन्तु आगे-पीछे के शेष स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ

बन्ध नहीं होता। चार स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु का छह स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ बन्ध होता है किन्तु आगे पीछे के शेष स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार यह क्रम आगे भी जानना चाहिए। तथा दो रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणु का एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, चार रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। उसी दो रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणु का आगे के पाँच आदि रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन आदि रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुओं का भी दो अधिक शक्त्यंशवाले परमाणुओं के साथ बन्ध जान लेना चाहिए। समान जातीय परमाणुओं में बन्ध का जो क्रम बतलाया है विजातीय परमाणुओं में भी बन्ध का वही क्रम जानना चाहिए। कहा भी है – 'स्निग्ध का दो अधिक शक्त्यंशवाले स्निग्ध के साथ बन्ध होता है। रूक्ष का दो अधिक शक्त्यंशवाले रूक्ष के साथ बन्ध होता है। तथा स्निग्ध का रूक्ष के साथ इसी नियम से बन्ध होता है। किन्तु जघन्य शक्त्यंशवाले का बन्ध सर्वथा वर्जनीय है।' सूत्र में 'तु' पद विशेषणपरक है जिससे बन्ध के प्रतिषेध का निवारण और बन्ध का विधान होता है।

अधिक गुणवाले के साथ बन्ध होता है ऐसा क्यों कहा, समगुणवाले के साथ बन्ध होता है ऐसा क्यों नहीं कहा ? अब इसी बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

अन्वयार्थ : बन्ध होते समय दो अधिक गुणवाला परिणमन करानेवाला होता है ॥३७॥

गुण-पर्यायवद् द्रव्यम् ॥३८॥

अन्वयार्थ : गुण और पर्यायवाला द्रव्य है ॥३८॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिसमें गुण और पर्याय दोनों हैं वह गुण-पर्यायवाला कहलाता है और वही द्रव्य है। यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग कैसे बनता है इस विषयमें पहले समाधान कर आये हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य का गुण और पर्यायों से कथंचित् भेद है इसलिए यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग बन जाता है।

शंका – गुण किन्हें कहते हैं और पर्याय किन्हें कहते हैं ?

समाधान – गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी। तथा इन दोनों से युक्त द्रव्य होता है। कहा भी है – 'द्रव्य में भेद करनेवाले धर्म को गुण और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। द्रव्य इन दोनों से युक्त होता है। तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है।' तात्पर्य यह है कि जिससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुदा होता है वह गुण है। इसी गुण के द्वारा उस द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि भेदक गुण न हो तो द्रव्यों में सांकर्य हो जाय। खुलासा इस प्रकार है –

जीव द्रव्य पुद्गलादिक द्रव्यों से ज्ञानादि गुणों के द्वारा भेद को प्राप्त होता है और पुद्गलादिक द्रव्य भी अपने रूपादि गुणों के द्वारा भेद को प्राप्त होते हैं। यदि ज्ञानादि गुणों के कारण विशेषता न मानी जाय तो सांकर्य प्राप्त होता है। इसलिए सामान्य की अपेक्षा जो अन्वयी ज्ञानादि हैं वे जीव के गुण हैं और रूपादिक पुद्गलादिक के गुण हैं। तथा इनके विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं। जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान, गन्ध, वर्ण, तीव्र और मन्द आदिक। तथा जो इनसे कथंचित् भिन्न है और समुदाय रूप है वह द्रव्य कहलाता है। यदि समुदाय को सर्वथा अभिन्न मान लिया जाय तो सबका अभाव प्राप्त होता है। खुलासा इस प्रकार है – परस्पर विलक्षण धर्मों का समुदाय होने पर यदि उसे एक और अभिन्न माना जाय तो समुदाय का और सबका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि वे धर्म परस्पर भिन्न हैं। जो यह रूप है उससे रसादिक भिन्न हैं। अब यदि इनका समुदाय अभिन्न माना जाता है तो रसादिक से भिन्न जो रूप है और उससे अभिन्न जो समुदाय है वह रसादिक से भिन्न कैसे नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा। और इस प्रकार समुदाय रूपमात्र प्राप्त होता है। परन्तु एक रूप गुण समुदाय हो नहीं सकता इसलिए समुदाय का अभाव प्राप्त होता है और समुदाय का अभाव हो जाने से उससे अभिन्न समुदायियों का भी अभाव होता है। इस प्रकार समुदाय और समुदायी सबका अभाव हो जाता है। जिस प्रकार रूप की अपेक्षा कथन किया उसी प्रकार रसादिक की अपेक्षा भी कथन करना चाहिए। इसलिए यदि समुदाय स्वीकार किया जाता है तो वह कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिए।

पूर्वोक्त द्रव्यों के लक्षण का निर्देश करने से यह प्राप्त हुआ कि जो उस लक्षण का विषय है वही द्रव्य है, अतः अभी तक जिस द्रव्य का कथन नहीं किया उसकी सूचना करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

कालश्च ॥३९॥

सोऽनन्तसमयः ॥४०॥

अन्वयार्थ : वह अनन्त समयवाला है ॥४०॥

सर्वार्थसिद्धि :

यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय हैं ऐसा मानकर काल को अनन्त समयवाला कहा है। अथवा मुख्य काल का निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा है। तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्यायों वर्तना गुण के निमित्त से होती हैं, इसलिए एक कालाणु को भी उपचार से अनन्त कहा है। परन्तु समय अत्यन्त सूक्ष्म कालांश है और उसके समुदाय की आवलि आदि जानना चाहिए।

‘गुण और पर्यायवाला द्रव्य है’ यह पहले कह आये हैं। अब गुण क्या है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

अन्वयार्थ : जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और गुणरहित हैं वे गुण हैं ॥४१॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनके रहने का आश्रय द्रव्य है वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं और जो गुणों से रहित हैं वे निर्गुण कहे जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों लक्षणों से युक्त गुण होते हैं। सूत्र में ‘निर्गुणाः’ यह विशेषण द्वयणुक आदि के निराकरण करने के लिए दिया है। वे भी अपने कारणभूत परमाणु द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और गुणवाले हैं, इसलिए ‘निर्गुणाः’ इस विशेषण से उनका निषेध किया गया है।

शंका – घटसंस्थान आदि जितनी पर्याय हैं वे सब द्रव्य के आश्रय से रहती हैं और निर्गुण होती हैं अतः गुण के उक्त लक्षण के अनुसार उन्हें भी गुणत्व प्राप्त होता है ?

समाधान – सूत्र में जो ‘द्रव्याश्रयाः’ विशेषण है उसका यह अभिप्राय है कि जो सदा द्रव्य के आश्रय से रहते हैं वे गुण हैं। इस प्रकार ‘सदा’ विशेषण लगाने से पर्यायों का निषेध हो जाता है अर्थात् गुण का लक्षण पर्यायों में नहीं जाता है; क्योंकि पर्याय कादाचित्क होती है।

परिणाम शब्द का अनेक बार उल्लेख किया; परन्तु उसका क्या तात्पर्य है ऐसा प्रश्न होने पर अगले सूत्र द्वारा इसी का उत्तर देते हैं –

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

अन्वयार्थ : उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है ॥४२॥

सर्वार्थसिद्धि :

अथवा गुण द्रव्य से अलग है यह किन्हीं का मत है। वह क्या आपके (जैन) मत में स्वीकार है ? नहीं, इसलिए कहते हैं कि संज्ञा आदि के निमित्त से प्राप्त होने वाले भेद के कारण गुण द्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं तो भी वे द्रव्य से भिन्न नहीं पाये जाते हैं और द्रव्य के परिणाम हैं इसलिए भिन्न नहीं भी हैं। यदि ऐसा है तो वह बात कहिए जिससे परिणाम का स्वरूप ज्ञात हो। बस इसी बात का निश्चय करने के लिए कहते हैं – धर्मादिक द्रव्य जिस रूप से होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते हैं। वह दो प्रकार का है - अनादि और सादि। उनमें-से धर्मादिक द्रव्य के जो गत्युपग्रहादिक होते हैं वे सामान्य की अपेक्षा अनादि और विशेष की अपेक्षा सादि हैं।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति में पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अधिकार-६ (आस्रवाधिकार)

काय-वाङ्मनः कर्म-योगः ॥१॥

अन्वयार्थ : काय, वचन और मन की क्रिया योग है ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

काय आदि शब्दों का व्याख्यान पहले कर आये हैं । कर्म और क्रिया ये एकार्थवाची नाम हैं । काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं -- यह इसका तात्पर्य है । आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द -- हलन चलन योग है । वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का है -- काययोग, वचनयोग और मनोयोग । खुलासा इस प्रकार है --
वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणा के आलम्बन से होने वाला आत्म प्रदेश परिस्पन्द **काययोग** कहलाता है ।

शरीर नाम-कर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओं का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्पक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचन-लब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द **वचनयोग** कहलाता है ।

वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनो-लब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्त-भूत मनो-वर्गणाओं का आलम्बन मिलने पर मन-रूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द **मनोयोग** कहलाता है । वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोग-केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द होता है वह भी योग है -- ऐसा जानना चाहिए ।

हम तो स्वीकार करते हैं कि तीन प्रकार की क्रिया योग है । अब यह बतलाइए कि आस्रव का क्या लक्षण है ? संसारी जीव के जो यह योग शब्द का वाच्य कहा है --

स आस्रवः ॥२॥

अन्वयार्थ : वही आस्रव है ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिस प्रकार तालाब में जल लाने का दरवाजा जल के आने का कारण होने से आस्रव कहलाता है उसी प्रकार आत्मा के साथ बंधने के लिए कर्म योग-रूपी नाली के द्वारा आते हैं, इसलिए योग आस्रव संज्ञा को प्राप्त होता है ।
कर्म दो प्रकार का है -- पुण्य और पाप, इसलिए क्या योग सामान्य-रूप से उसके आस्रव का कारण है या कोई विशेषता है ? इसी बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं --

राजवार्तिक :

'कायवाङ्मनस्कर्मस्रवः' इतना सूत्र बनाने से लघुता होती थी, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने में योग का कथन नहीं होता ।

शंका - 'कायवाङ्मनस्कर्मस्रवः' ऐसा सूत्र बनाने में अक्षर का सौष्ठव होता है, सुन्दर भी प्रतीत होता है अतः दो सूत्र न बनाकर ऐसा एक सूत्र ही बनाना चाहिये ।

उत्तर - 'कायवाङ्मनस्कर्मस्रवः' ऐसा लघु सूत्र बनाने से आगम प्रसिद्ध योग शब्द का अर्थ तो अव्याख्यात (अप्रसिद्ध) ही रह जाता ॥१॥

सर्व योग में आस्रव का प्रसंग आता है अतः 'कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रवः' ऐसा सूत्र भी नहीं बनाना चाहिये ।

शंका - 'कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रवः' ऐसा एक सूत्र बनाना चाहिये क्योंकि ऐसा एक सूत्र बनाने से तत् शब्द (सः) का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा और योग विभाग न हाने से अर्थात् एक योग होने से सूत्र भी लघु (छोटा) हो जाएगा तथा आगम-प्रसिद्ध योग शब्द भी प्रख्यात हो जाएगा ?

उत्तर – 'कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रवः' ऐसा सूत्र बनाने से यद्यपि 'सः' शब्द को ग्रहण नहीं करना पड़ता और एक योग होने से सूत्र छोटा भी बन जाता है तथा योग भी प्रख्यात् हो जाता है; परन्तु इसमें सभी योग में आस्रवत्व का प्रसंग प्राप्त होता है - केवलि-समुद्घात के समय में होने वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पूरण योग भी आस्रव हो जायेंगे।

प्रश्न – दण्डादि योग में आस्रवत्व मानने में क्या दोष है ?

उत्तर – यद्यपि केवलि-समुद्घात अवस्था में सूक्ष्म योग मानकर तन्निमित्तक अल्प-बन्ध माना जाता है परन्तु एक सूत्र बनाने में तो केवलि-समुद्घात में साधारण योगत्व और बहु-बन्ध का प्रसंग आने से विपरीतता आती है। वस्तुतः तो वर्गणा-निमित्तक आत्म-प्रदेश-परिस्पन्दन रूप मुख्य योग ही आस्रव कहा जाता है, परन्तु केवलि-समुद्घात अवस्था में होने वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पूर्ण योग वर्गणा अवलम्बन रूप नहीं है, अतः इससे आस्रव नहीं होता है अर्थात् दण्डादि-योग में आस्रव नहीं माना है।

प्रश्न – यदि वर्णालम्बन-रूप योग नहीं होने से दण्डादि व्यापार काल में अनास्रव होने से दण्डादि योग-निमित्तक बन्ध नहीं होना चाहिए परन्तु केवलि-समुद्घात अवस्था में बन्ध तो माना है ?

उत्तर – यद्यपि केवलि-समुद्घात वर्गणा अवलम्बन न होने से दण्डादि योग-निमित्तक बन्ध नहीं है तथापि काय-वर्गणा निमित्तक आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन है अतः सूक्ष्म काय-निमित्तक-बन्ध केवलि-समुद्घात अवस्था में भी बन्ध है ॥२॥

प्रश्न – एक सूत्र बनाने पर भी दण्डादि-योग आस्रव रूप प्रयोजन के अकरण होने से दण्डादि में आस्रव का प्रसंग नहीं आयेगा ?

उत्तर – योग विभाग के सामर्थ्य से ही अर्थात् भिन्न सूत्र की रचना से ही यह स्पष्ट अर्थ निकल आता है की काय, वचन, मनो-वर्णालम्बन के निमित्त जो आत्म-प्रदेश परिस्पन्द है वही योग और आस्रव है, अन्य नहीं।

प्रश्न – जैसे केवली के इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं परन्तु तत्पुर्वक व्यापार नहीं होने से इन्द्रिय-जन्य कर्म-बन्ध नहीं होता है उसी प्रकार योग-विभाग (पृथक-सूत्र) के सामान एक योग (एक सूत्र) बना लेने पर भी केवलि-समुद्घात के समय दण्डादि-योग आस्रव के कारण नहीं होंगे ? अर्थात् दण्ड-योग में आस्रव नहीं होगा।

उत्तर – पृथक सूत्र के सामर्थ्य से ही यह प्रतीत होता है की उपरिक्थित (वर्गणाओं का अवलम्बन-भूत) योग ही आस्रव है अन्य योग आस्रव नहीं। अर्थात् पृथक सूत्र के आधार पर ही यह जाना जा सकता है कि योग-सामान्य होने पर भी दण्डादि-योग आस्रव नहीं है, ऐसा भी योग है जो आस्रव-रूप नहीं होता, इसकी सुचना पृथक-सूत्र करता है। 'कायवाङ्मनस्कर्मस्रवः' ऐसा एक सूत्र करने पर दण्डादि-योग आस्रव के कारण नहीं है, इसकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होती अतः सर्व योगों के आस्रवत्व का प्रसंग आयेगा।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

अन्वयार्थ : शुभयोग पुण्य का और अशुभयोग पाप का आस्रव है ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है ?

समाधान – हिंसा, चोरी, और मैथुन आदिक अशुभ काय-योग है। असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचन-योग है। मारने का विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभ मनो-योग है। तथा इनसे विपरीत शुभ-काय योग, शुभ वचन-योग और शुभ मनो-योग है।

शंका – योग के शुभ और अशुभ ये भेद किस कारण से हैं ?

समाधान – जो योग शुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह अशुभ योग है। शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभ कर्म का कारण होने से शुभ और अशुभ योग होता है सो बात नहीं है; क्योंकि यदि इस प्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभ-योग ही नहीं हो सकता, क्योंकि शुभ-योग को भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का कारण माना है। इसलिए शुभ और अशुभ योग का जो लक्षण यहाँ पर किया है वही सही है। जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है, जैसे साता-वेदनीय आदि। तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है; जैसे असाता-वेदनीय आदि।

क्या यह आस्रव सब संसारी जीवों के समान फल को पैदा करता है या कोई विशेषता है ? अब इसी बात के बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

अन्वयार्थ : कषायसहित और कषायरहित आत्मा का योग क्रम से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म के आस्रवरूप है ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

स्वामी के भेद से आस्रव में भेद है । स्वामी दो प्रकार के हैं -- कषाय-सहित और कषाय-रहित । क्रोधादिक कषाय कहलाते हैं । कषाय के समान होने से कषाय कहलाता है । उपमा-रूप अर्थ क्या है ? जिस प्रकार नैयग्रोध आदि कषाय श्लेष का कारण है उसी प्रकार आत्मा का क्रोधादि-रूप कषाय भी कर्मों के श्लेष का कारण है इसलिए कषाय के समान यह कषाय है ऐसा कहते हैं । जिसके कषाय है वह सकषाय जीव है और जिसके कषाय नहीं है वह अकषाय जीव है । यहाँ इन दोनों पदों का पहले 'सकषायश्च अकषायश्चेति सकषायकषायौ' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके अनन्तर स्वामित्व दिखलाने के लिए षष्ठी का द्विवचन दिया है । साम्पराय संसार का पर्याय-वाची है । जो कर्म संसार का प्रयोजक है वह साम्परायिक कर्म है । ईर्या की व्युत्पत्ति 'ईरणं' होगी । योग का अर्थ गति है । जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्या-पथ कर्म है । यहाँ इन दोनों पदों का पहले 'साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्प्रायिकेर्यापथे' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके तदनन्तर सम्बन्ध दिखलाने के लिए षष्ठी का द्विवचन दिया है । सकषाय के साथ साम्परायिक शब्द का और अकषाय के साथ ईर्या-पथ शब्द का यथा-क्रम सम्बन्ध है । जिससे यह अर्थ हुआ कि मिथ्यादृष्टि आदि कषाय-सहित जीव के साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है । तथा उपशान्त कषाय आदि कषाय रहित जीव के ईर्या-पथ कर्म का आस्रव होता है । आदि में कहे गये आस्रव के भेद दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं --

इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पंच-चतुः-पंच-पंचविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अन्वयार्थ : पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद हैं जो क्रम से पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ इन्द्रिय आदि का पाँच आदि के साथ क्रम से सम्बन्ध जानना चाहिए । यथा इन्द्रियाँ पाँच हैं, कषाय चार हैं, अव्रत पाँच हैं और क्रिया पच्चीस हैं । इनमें-से स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों का कथन पहले कर आये हैं । क्रोधादि चार कषाय हैं और हिंसा आदि पाँच अव्रत आगे कहेंगे । पच्चीस क्रियाओं का वर्णन यहाँ करते हैं --

1. चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदिरूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली **सम्यक्त्व क्रिया** है ।
2. मिथ्यात्व के उदय से जो अन्य देवता के स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह **मिथ्यात्व क्रिया** है ।
3. शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदिरूप प्रवृत्ति **प्रयोगक्रिया** है ।
4. संयत का अविरति के सम्मुख होना **समादान क्रिया** है ।
5. ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया **ईर्यापथ क्रिया** है । ये पाँच क्रिया हैं ।
6. क्रोध के आवेश से **प्रादोषिकी क्रिया** होती है ।
7. दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना **कायिकी क्रिया** है ।
8. हिंसा के साधनों को ग्रहण करना **आधिकरणिकी क्रिया** है ।
9. जो दुःख की उत्पत्ति का कारण है वह **पारितापिकी क्रिया** है ।
10. आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करने वाली **प्राणातिपातिकी क्रिया** है । ये पाँच क्रिया हैं ।
11. रागवश स्नेहसिक्त होने के कारण प्रमादी का रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय **दर्शनक्रिया** है ।
12. प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध **स्पर्शन क्रिया** है ।
13. नये अधिकरणों को उत्पन्न करना **प्रात्ययिकी क्रिया** है ।
14. स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने, आने, उठने और बैठने के स्थान में भीतरी मल का त्याग करना **समन्तानुपात क्रिया** है ।
15. प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमि पर शरीर आदि का रखना **अनाभोग क्रिया** है । ये पाँच क्रिया हैं ।
16. जो क्रिया दूसरों द्वारा करने की हो उसे स्वयं कर लेना **स्वहस्त क्रिया** है ।
17. पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेष के लिए सम्मति देना **निसर्ग क्रिया** है ।
18. दूसरे ने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना **विदारणक्रिया** है ।
19. चारित्रमोहनीय के उदय से आवश्यक आदि के विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा निरूपण करना **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया** है ।
20. धूर्तता और आलस्य के कारण शास्त्र में उपदेशी गयी विधि करने का अनादर **अनाकांक्षक्रिया** है । ये पाँच क्रिया हैं ।
21. छेदना, भेदना और मारना आदि क्रिया में स्वयं तत्पर रहना और दूसरे के करने पर हर्षित होना **प्रारम्भ क्रिया** है ।

22. परिग्रह का नाश न हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह **पारिग्राहिकी क्रिया** है ।
23. ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में छल करना **मायाक्रिया** है ।
24. मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि के द्वारा दृढ़ करना कि 'तू ठीक करता है' **मिथ्या दर्शन क्रिया** है ।
25. संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से त्यागरूप परिणामों का न होना **अप्रत्याख्यान क्रिया** है । ये पाँच क्रिया हैं ।

ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती हैं । कार्य-कारण के भेद से अलग-अलग भेद को प्राप्त होकर ये इन्द्रियादिक साम्परायिक कर्म के आस्रव के द्वार हैं ।

शंका – तीनों योग सब आत्माओं के कार्य हैं, इसलिए वे सब संसारी जीवों के समान रूप से प्राप्त होते हैं इसलिए कर्मबन्ध के फल के अनुभव के प्रति समानता प्राप्त होनी चाहिए ?

समाधान – यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यद्यपि योग प्रत्येक आत्मा के होता है, परन्तु जीवों के परिणामों के अनन्त भेद हैं, इसलिए कर्मबन्ध के फल के अनुभव की विशेषता माननी पड़ती है ।

शंका – किस प्रकार ?

समाधान – अब अगले सूत्र द्वारा इसी बात का समाधान करते हैं --

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥

६ ॥

अन्वयार्थ : तीव्र-भाव, मन्द-भाव, ज्ञात-भाव, अज्ञात-भाव, अधिकरण-विशेष और वीर्य-विशेष के भेद से उसकी (आस्रव की) विशेषता होती है ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

- बाह्य और आभ्यन्तर हेतु की उदीरणा के कारण जो आवेगयुक्त परिणाम होता है वह **तीव्र भाव** है ।
- **मन्द भाव** इससे उलटा है ।
- इस प्राणी का मुझे हनन करना चाहिए इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना **ज्ञातभाव** है ।
- मद या प्रमाद के कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना **अज्ञात भाव** है ।
- जिसमें पदार्थ रखे जाते हैं वह **अधिकरण** है । यहाँ अधिकरण से द्रव्य का ग्रहण किया है ।
- द्रव्य की अपनी शक्तिविशेष **वीर्य** है ।

सूत्र में जो भाव शब्द आया है वह सब शब्दों के साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा – तीव्रभाव, मन्दभाव इत्यादि । इन सब कारणों से आस्रव में विशेषता आ जाती है, क्योंकि कारण के भेद से कार्य में भेद होता है ।

पूर्व सूत्र में 'अधिकरण' पद आया है पर उसका स्वरूप अज्ञात है, इसलिए वह कहना चाहिए ? अब उसके भेदों के कथन द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं --

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

अन्वयार्थ : अधिकरण जीव और अजीवरूप हैं ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

जीव और अजीव के लक्षण पहले कह आये हैं ।

शंका – यदि इनके लक्षण पहले कह आये हैं तो फिर से इनका उल्लेख किस लिए किया ?

समाधान – अधिकरण विशेष का ज्ञान कराने के लिए फिर से इनका उल्लेख किया है, जिससे जीव और अजीव अधिकरण हैं यह विशेष जताया जा सके ।

शंका – वह कौन है ?

समाधान – हिंसादि उपकरणभाव ।

शंका – मूल पदार्थ दो हैं इसलिए 'जीवाजीवौ' इस प्रकार सूत्रमें द्विवचन रखना न्यायप्राप्ति है ?

समाधान – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनकी पर्यायों को अधिकरण माना है । तात्पर्य यह है कि किसी एक पर्याय से

युक्त द्रव्य अधिकरण होता है, केवल द्रव्य नहीं, इसलिए सूत्र में बहुवचन रखा है। जीव और अजीव किसके अधिकरण हैं ? आस्रव के। इस प्रकार प्रयोजन के अनुसार यहाँ आस्रव पद का सम्बन्ध होता है। अब जीवाधिकरण के भेद दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भयोग कृत-कारितानुमत-कषाय- विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रि-श्चतुश्चैकशः ॥८॥

अन्वयार्थ : पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से तीन प्रकार का, योगों के भेद से तीन प्रकार का; कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषायों के भेद से चार प्रकार का होता हुआ परस्पर मिलाने से एक सौ आठ प्रकार का है ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्रमादी जीव का प्राणों की हिंसा आदि कार्य में प्रयत्नशील होना **संरम्भ** है।

साधनों का जुटाना **समारम्भ** है।

कार्य करने लगना **आरम्भ** है।

योग शब्द का व्याख्यान पहले कर आये हैं।

कर्ता की कार्य विषयक स्वतन्त्रता दिखलाने के लिए सूत्रमें **कृत** वचन रखा है।

कार्य में दूसरे प्रयोग की अपेक्षा दिखलाने के लिए **कारित** वचन रखा है।

तथा प्रयोजक के मानस परिणाम को दिखलाने के लिए **अनुमत** शब्द रखा है।

क्रोधादि कषायों के लक्षण कहे जा चुके हैं। जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थ से विशेषता को प्राप्त हो वह विशेष है। इसे प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए यथा संरम्भविशेष, समारम्भविशेष आदि। यहाँ 'भिद्यते' यह वाक्यशेष है जिससे यह अर्थ होता है कि पहला जीवाधिकरण इन विशेषताओं से भेद को प्राप्त होता है। सुच् प्रत्ययान्त ये चारों 'तीन' आदि शब्द क्रम से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। यथा - संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ ये तीन; योग तीन; कृत, कारित और अनुमत ये तीन और कषाय चार। इनके गणना की पुनरावृत्ति 'सुच्' प्रत्यय-द्वारा प्रकट की गयी है। 'एकशः' यह वीप्सा में निर्देश है। तात्पर्य यह है कि तीन आदि भेदों को प्रत्येक के प्रति लगा लेना चाहिए। जैसे क्रोध-कृत-काय-संरम्भ, मान-कृत-काय-संरम्भ, माया-कृत-काय-संरम्भ, लोभ-कृत-काय-संरम्भ, क्रोध-कारित-काय-संरम्भ, मान-कारित-काय-संरम्भ, माया-कारित-काय-संरम्भ, लोभ-कारित-काय-संरम्भ, क्रोधानुमत-काय-संरम्भ, मानानुमत-काय-संरम्भ, मायानुमत-काय-संरम्भ, लोभानुमत-काय-संरम्भ। इसप्रकार काय-संरम्भ बारह प्रकार का है। इसी प्रकार वचनयोग और मनोयोग की अपेक्षा संरम्भ बारह-बारह प्रकार का है। ये सब मिला कर छत्तीस भेद होते हैं। इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भ के भी छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। ये सब मिल कर जीवाधिकरण के 108 भेद होते हैं। 'च' शब्द अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनरूप कषायों के अवान्तर भेदों का समुच्चय करने के लिए दिया है।

अब दूसरे अजीवाधिकरण के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्विचतुर्द्वि-त्रिभेदाः परम् ॥९॥

अन्वयार्थ : पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रम से दो, चार, दो और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है ॥९॥

तत्प्रदोष-निह्व-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान- दर्शनावरणयोः ॥१०॥

अन्वयार्थ : ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्व, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है उसका गुणगान करने पर उस समय नहीं बोलनेवाले के जो भीतर पैशुन्यरूप परिणाम होता है

वह प्रदोष है।

किसी कारण से ऐसा नहीं है, मैं नहीं जानता ऐसा कहकर ज्ञान का अपलाप करना निहव है।

विज्ञान का अभ्यास किया है वह देने योग्य भी है तो जिस कारण से वह नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य है।

ज्ञान का विच्छेद करना अन्तराय है।

दूसरा कोई ज्ञान का प्रकाश कर रहा हो तब शरीर या वचन से उसका निषेध करना आसादन है।

प्रशंसनीय ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है।

शंका – उपघात का जो लक्षण किया है उससे वह आसादन ही ज्ञात होता है ?

समाधान – प्रशस्त ज्ञान की विनय न करना, उसकी अच्छाई की प्रशंसा न करना आदि आसादन है। परन्तु ज्ञान को अज्ञान समझकर ज्ञान के नाश का इरादा रखना उपघात है इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है। सूत्रमें 'तत्' पद ज्ञान और दर्शन का निर्देश करने के लिए दिया है।

शंका – ज्ञान और दर्शन अप्रकृत हैं, तथा उनका निर्देश भी नहीं किया है, फिर यहाँ 'तत्' शब्द के द्वारा उनका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान – प्रश्न की अपेक्षा अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्या आस्रव है ऐसा प्रश्न करने पर उसकी अपेक्षा 'तत्' शब्द ज्ञान और दर्शन का निर्देश करता है। इससे यह अभिप्राय निकला कि ज्ञान और दर्शनवालों के विषय में तथा उनके साधनों के विषय में प्रदोषादिक की योजना करनी चाहिए, क्योंकि ये उनके निमित्तसे होते हैं। ये प्रदोषादिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। एक कारण से भी अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं, इसलिए प्रदोषादिक के एक समान रहते हुए भी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों का आस्रव सिद्ध होता है। अथवा विषय के भेद से आस्रवमें भेद होता है। ज्ञान-सम्बन्धी प्रदोषादिक ज्ञानावरणके आस्रव हैं और दर्शनसम्बन्धी प्रदोषादिक दर्शनावरणके आस्रव हैं।

जिस प्रकार इन दोनों कर्मों का आस्रव अनेक प्रकार का है उसी प्रकार-

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय- स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अन्वयार्थ : अपने में, दूसरे में या दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असाता वेदनीय कर्म के आस्रव हैं ॥ ११ ॥

सर्वार्थसिद्धि :

पीड़ारूप आत्माका परिणाम दुःख है।

उपकार करने वाले का सम्बन्ध टूट जाने पर जो विकलता होती है वह शोक है।

अपवाद आदि के निमित्त से मन के खिन्न होने पर जो तीव्र अनुशय-संताप होता है वह ताप है।

परिताप के कारण जो आँसू गिरने के साथ विलाप आदि होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन है।

आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास का जुदा कर देना वध है।

संक्लेशरूप परिणामों के होने पर गुणों का स्मरण और प्रशंसा करते हुए अपने और दूसरे के उपकार की अभिलाषा से करुणाजनक रोना परिदेवन है।

शंका – शोकादिक दुःख के भेद हैं, इसलिए दुःख का ग्रहण करना पर्याप्त है ?

समाधान – यह कहना सही है तो भी यहाँ कुछ भेदों का कथन करके दुःख की जातियाँ दिखलायी हैं। जैसे गौ ऐसा कहने पर अवान्तर भेदों का ज्ञान नहीं होता, इसलिए खांडी, मुंडी, काली, सफेद आदि विशेषण दिये जाते हैं उसी प्रकार दुःखविषयक आस्रव असंख्यात लोकप्रमाण संभव हैं। परन्तु दुःख इतना कहने पर सब भेदों का ज्ञान नहीं होता अतएव कुछ भेदों का उल्लेख करके उनको पृथक्-पृथक् जान लिया जाता है। क्रोधादिक के आवेशवश ये दुःखादिक कभी अपने में होते हैं, कभी दूसरों में होते हैं और कभी दोनों में होते हैं। ये सब असाता वेदनीय के आस्रव के कारण जानने चाहिए।

शंका – यदि अपने में, पर में या दोनों में स्थित दुःखादिक असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं तो अरिहंत के मत को मानने वाले मनुष्य दुःख को पैदा करने वाले केशलोच, अनशन और आतपस्थान (आतापनयोग) आदि में क्यों विश्वास करते हैं और दूसरों को इनका उपदेश क्यों देते हैं ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है ; क्योंकि अन्तरंग में क्रोधादिक के आवेश से जो दुःखादिक पैदा होते हैं वे असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं इतना यहाँ विशेष कहा है। जैसे अत्यन्त दयालु किसी वैद्य के फोड़े की चीर-फाड़ और मरहमपट्टी करते समय निःशूल्य संयत को दुःख देने में निमित्त होने पर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पापबन्ध नहीं होता उसी प्रकार जो भिक्षु संसार-सम्बन्धी दुःखसे उद्विग्न है और जिसका मन उसके दूर करने के उपायों में लगा हुआ है उसके शास्त्रविहित कर्म में प्रवृत्ति करते समय संक्लेशरूप परिणामों के नहीं होने से पापबन्ध नहीं होता। कहा भी है - “ जिस प्रकार चिकित्सा के साधन न स्वयं दुःखरूप देखे जाते हैं और न सुखरूप, किन्तु जो चिकित्सा में लग रहा है उसे दुःख

भी होता है और सुख भी । उसी प्रकार मोक्ष-साधन के जो हेतु हैं वे स्वयं न दुःखरूप हैं और न सुखरूप किन्तु जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ है उसे दुःख भी होता है और सुख भी ।”
असातावेदनीय के आस्रव के कारण कहे, परन्तु सातावेदनीय के आस्रव के कारण कौन हैं ? इसी बात को बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं -

भूत-व्रत्यनुकम्पादान-सराग-संयमादि-योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्देवस्य ॥१२॥

अन्वयार्थ : भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का योग तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो कर्मोदय के कारण विविध गतियों में होते हैं वे **भूत** कहलाते हैं । भूत यह प्राणी का पर्यायवाची शब्द है । अहिंसादिक व्रतोंका वर्णन आगे करेंगे । जो उनसे युक्त हैं वे **व्रती** कहलाते हैं । वे दो प्रकारके हैं - पहले वे जो घर से निवृत्त होकर संयत हो गये हैं और दूसरे गृहस्थ संयतासंयत ।
अनुग्रह से दयार्द्र चित्तवाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है उसे अनुकम्पा कहते हैं । सब प्राणियों पर अनुकम्पा रखना **भूतानुकम्पा** है और व्रतियों पर अनुकम्पा रखना **व्रत्यनुकम्पा** है ।
दूसरे का उपकार हो इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना **दान** है ।
जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके अभी राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं वह सराग कहलाता है । प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं । सराग का संयम या रागसहित संयम **सरागसंयम** कहलाता है । सूत्र में सरागसंयम के आगे दिये गये आदि पद से संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप का ग्रहण होता है ।
योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं । पहले जो भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान और सरागसंयम 'आदि' कहे हैं इनका योग अर्थात् इनमें भले प्रकार मन लगाना भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग है ।
क्रोधादि दोषों का निराकरण करना **क्षान्ति** है ।
तथा लोभ के प्रकारों का त्याग करना **शौच** है ।
सूत्रमें आया हुआ 'इति' शब्द प्रकारवाची है । वे प्रकार कौन हैं ? अरहंत की पूजा करने में तत्परता तथा बाल और वृद्ध तपस्वियों की वैयावृत्य आदि करना वे प्रकार हैं । यद्यपि भूतपद के ग्रहण करने से व्रतियों का ग्रहण हो जाता है तो भी व्रतीविषयक अनुकम्पा की प्रधानता दिखलाने के लिए सूत्र में 'व्रती' पद को अलग से ग्रहण किया है । ये सब सातावेदनीय के आस्रव जानने चाहिए ।
अब इसके बाद मोहनीय के आस्रव के कारणों का कथन करना क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले उसके प्रथम भेद दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारणों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

केवलि-श्रुत-संघ-धर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अन्वयार्थ : केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे **केवली** कहलाते हैं ।
अतिशय बुद्धिवाले गणधरदेव उनके उपदेशों का स्मरण करके जो ग्रन्थों की रचना करते हैं वह **श्रुत** कहलाता है ।
रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समुदाय **संघ** कहलाता है ।
सर्वज्ञ-द्वारा प्रतिपादित आगम में उपदिष्ट अहिंसा ही **धर्म** है ।
चार निकायवाले **देवों** का कथन पहले कर आये हैं ।
गुणवाले बड़े पुरुषों में जो दोष नहीं है उनका उनमें उद्भावन करना **अवर्णवाद** है ।
इन केवली आदि के विषय में किया गया अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्रव का कारण है । यथा केवली कवलाहार से जीते हैं इत्यादि रूपसे अपवाद करना संघ का अवर्णवाद है । जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट धर्म में कोई सार नहीं, जो इसका सेवन करते हैं वे असुर होंगे इस प्रकार कथन करना धर्म का अवर्णवाद है । देव सुरा और मांस आदि का सेवन करते हैं इस प्रकार का कथन करना देवों का अवर्णवाद है ।
अब मोहनीय का दूसरा भेद जो चारित्र मोहनीय है उसके आस्रव के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

कषायोदयात्तीव्र-परिणामश्चारित्र-मोहस्य ॥१४॥

अन्वयार्थ : कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय का आस्रव है ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

कषायों का व्याख्यान पहले कर आये हैं । विपाक को उदय कहते हैं । कषायों के उदय से जो आत्मा का तीव्र परिणाम होता है वह चारित्रमोहनीय का आस्रव जानना चाहिए ।
स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिंग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं ।
सत्य धर्म का उपहास करना, दीन मनुष्य की दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित राग को बढ़ाने वाला हँसी मजाक करना, बहुत बकने और हँसने की आदत रखना आदि हास्यवेदनीय के आस्रव हैं ।
नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में लगे रहना, व्रत और शील के पालन करने में रुचि न रखना आदि रतिवेदनीय के आस्रव हैं ।
दूसरों में अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगों की संगति करना आदि अरतिवेदनीयके आस्रव हैं ।
स्वयं शोकातुर होना, दूसरों के शोक को बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्यों का अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीय के आस्रव हैं ।
भयरूप अपना परिणाम और दूसरे को भय पैदा करना आदि भयवेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।
सुखकर क्रिया और सुखकर आचार से घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीय के आस्रव हैं ।
असत्य बोलने की आदत, अतिसन्धानपरता, दूसरे के छिद्र ढूँढ़ना और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेदनीय के आस्रव हैं ।
क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्री में संतोष करना आदि पुरुषवेदनीय के आस्रव हैं ।
प्रचुर मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रियों का विनाश करना और परस्त्री से बलात्कार करना आदि नपुंसक वेदनीय के आस्रव हैं ।
मोहनीय के आस्रव के भेदों का कथन किया । इसके बाद आयुर्कर्म के आस्रव के कारणों का कथन क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले जिसका नियत काल तक फल मिलता है उस आयु के आस्रव के कारण दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

अन्वयार्थ : बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहपने का भाव नारकायु का आस्रव है ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्राणियों को दुख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना **आरम्भ** है ।
यह वस्तु मेरी है इस प्रकार का संकल्प रखना **परिग्रह** है ।
जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बह्वारम्भपरिग्रहत्व है । हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना नारकायु के आस्रव हैं ।
नारकायु का आस्रव कहा । अब तिर्यचायु का आस्रव कहना चाहिए, इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

अन्वयार्थ : माया तिर्यचायु का आस्रव है ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

माया नामक चारित्रमोहनीय के उदय से जो आत्मा में कुटिल भाव पैदा होता है वह माया है । इसका दूसरा नाम निकृति है । इसे तिर्यचायु का आस्रव जानना चाहिए । इसका विस्तार से खुलासा - धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, अतिसंधानप्रियता, तथा मरण के समय नील व कापोत लेश्या और आर्तध्यान का होना आदि तिर्यचायु के आस्रव हैं ।
तिर्यचायु के आस्रव कहे । अब मनुष्यायु का क्या आस्रव है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अल्पाारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अन्वयार्थ : अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहपने का भाव मनुष्यायु के आस्रव हैं ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

नरकायु का आस्रव पहले कह आये हैं । उससे विपरीत भाव मनुष्यायु का आस्रव है । संक्षेप में यह इस सूत्र का अभिप्राय है । उसका विस्तार से खुलासा - स्वभाव का विनम्र होना, भद्र प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेशरूप परिणति का नहीं होना आदि मनुष्यायु के आस्रव हैं ।
क्या मनुष्यायु का आस्रव इतना ही है या और भी है । इसी बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

स्वभाव-मार्दवं च ॥१८॥

अन्वयार्थ : स्वभाव की मृदुता भी मनुष्यायु का आस्रव है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

मृदु का भाव मार्दव है । स्वभाव से मार्दव स्वभाव मार्दव है । आशय यह है कि किसी के समझाये-बुझाये मृदुता अपने जीवन में उतरी हुई हो इसमें किसी के उपदेश की आवश्यकता न पड़े । यह भी मनुष्यायु का आस्रव है ।

शंका – इस सूत्र को अलग से क्यों बनाया ?

समाधान – स्वभाव की मृदुता देवायु का भी आस्रव है इस बात के बतलाने के लिए इस सूत्र को अलग से बनाया है ।
क्या ये दो ही मनुष्यायु के आस्रव हैं ? नहीं, किन्तु और भी हैं । इसी बात को बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं -

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अन्वयार्थ : शीलरहित और व्रतरहित होना सब आयुओं का आस्रव है ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में जो 'च' शब्द है वह अधिकार प्राप्त आस्रवों के समुच्चय करने के लिए है । इससे यह अर्थ निकलता है कि अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहरूप भाव तथा शील और व्रतरहित होना सब आयुओं के आस्रव हैं । शील और व्रतों का स्वरूप आगे कहनेवाले हैं । इनसे रहित जीव का जो भाव होता है उससे सब आयुओं का आस्रव होता है यह इस सूत्र का भाव है । यहाँ सब आयुओं का आस्रव इष्ट है यह दिखलाने के लिए सूत्र में 'सर्वेषाम्' पद को ग्रहण किया है ।

शंका – क्या शील और व्रतरहितपना देवायु का भी आस्रव है ?

समाधान – हाँ, भोगभूमियाँ प्राणियों की अपेक्षा शील और व्रतरहितपना देवायु का भी आस्रव है ।
अब चौथी आयु का क्या आस्रव है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

सरागसंयम-संयमा-संयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २०॥

अन्वयार्थ : सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के आस्रव हैं ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

सरागसंयम और संयमासंयम का व्याख्यान पहले कर आये हैं । चारक में रोक रखने पर या रस्सी आदि से बाँध रखने पर जो भूख प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है, भूमि पर सोना पड़ता है, मलमूत्र को रोकना पड़ता है और संताप आदि होता है यह सब अकाम है और इससे जो निर्जरा होती है वह **अकामनिर्जरा** है । मिथ्यात्व के कारण मोक्षमार्ग में उपयोगी न पड़नेवाले अनुपाय कायक्लेशबहुल माया से व्रतों का धारण करना **बालतप** है । ये सब देवायु के आस्रव के कारण जानने चाहिए ।

क्या देवायु का आस्रव इतना ही है या और भी है ? अब इसी बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व भी देवायु का आस्रव है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – किस कारण से ।

समाधान – अलग सूत्र बनाने से ।

शंका – यदि ऐसा है तो पूर्व सूत्र में जो विधान किया है वह सामान्यरूप से प्राप्त होता है और इससे सरागसंयम और संयमासंयम ये भवनवासी आदि की आयु के भी आस्रव हैं यह प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते, इसलिए उन दोनों का यहीं अन्तर्भाव होता है । अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायु के आस्रव हैं; क्योंकि ये सम्यक्त्व के होने पर ही होते हैं । आयु के बाद नाम के आस्रव का कथन क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले अशुभ नाम के आस्रव का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

अन्वयार्थ : योगवक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

तीन प्रकार के योग का व्याख्यान पहले कर आये हैं । इसकी कुटिलता योगवक्रता है । अन्यथा प्रवृत्ति करना विसंवाद है ।

शंका – इस तरह इनमें अर्थभेद नहीं प्राप्त होता; क्योंकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है ?

समाधान – यह कहना सही है तब भी स्वगत योगवक्रता कही जाती है और परगत विसंवादन । जो स्वर्ग और मोक्ष के योग्य समीचीन क्रियाओं का आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत मन, वचन और काय की प्रवृत्ति द्वारा रोकना कि ऐसा मत करो ऐसा करो विसंवादन है । इस प्रकार ये दोनों एक नहीं हैं किन्तु अलग-अलग हैं । ये दोनों अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण जानने चाहिए । सूत्र में आये हुए 'च' पद से मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्त का स्थिर न रहना, मापने और तौलने के बाँट घट-बढ़ रखना, दूसरों की निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना आदि आस्रवों का समुच्चय होता है । अब शुभ नामकर्म का आस्रव क्या है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं ।

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

अन्वयार्थ : उससे विपरीत अर्थात् योग की सरलता और अविसंवाद ये शुभनामकर्म के आस्रव हैं ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

काय, वचन और मन की सरलता तथा अविसंवाद ये उससे विपरीत हैं । उसी प्रकार पूर्व सूत्र की व्यवस्था करते हुए 'च' शब्द से जिनका समुच्चय किया गया है उनके विपरीत आस्रवों का ग्रहण करना चाहिए । जैसे - धार्मिक पुरुषों व स्थानों का दर्शन करना, आदर सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसार से डरना और प्रमाद का त्याग करना आदि । ये सब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं ।

शंका – क्या इतनी ही शुभ नामकर्म की आस्रवविधि हैं या और भी कोई विशेषता है ?

समाधान – जो यह अनन्त और अनुपम प्रभाववाला, अचिन्त्य विभूति विशेष का कारण और तीन लोक की विजय करने वाला तीर्थंकर नामकर्म है उसके आस्रव में विशेषता है, अतः अगले सूत्र द्वारा उसी का कथन करते हैं -

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता-शील-व्रतेष्वनतीचारोऽभीक्षण-
ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्य-

करणमहर्षिदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन-भक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्ग-

प्रभावना-प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

अन्वयार्थ : दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप, साधु-समाधि, वैयावृत्य करना, अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थकर नामकर्म के आस्रव हैं ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

- (1) जिन भगवान् अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्ग पर रुचि रखना **दर्शनविशुद्धि** है। इसका विशेष लक्षण पहले कह आये हैं। उसके आठ अंग हैं - निःशंकितत्व, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सितत्व, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।
 - (2) सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण द्वारा आदर सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना **विनयसम्पन्नता** है।
 - (3) अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करने के लिए क्रोधादिक का त्याग करना शील है। इन दोनों के पालन करने में निर्दोष प्रवृत्ति रखना **शीलव्रतानतिचार** है।
 - (4) जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर लगे रहना **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग** है।
 - (5) संसार के दुःखों से निरन्तर डरते रहना **संवेग** है।
 - (6) त्याग दान है। वह तीन प्रकार का है - आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। उसे शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक देना **यथाशक्ति त्याग** है।
 - (7) शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना **यथाशक्ति तप** है।
 - (8) जैसे भांडार में आग लग जाने पर बहुत उपकारी होने से आग को शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न के उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना-शान्त करना **साधुसमाधि** है।
 - (9) गुणी पुरुष के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उसका दुःख दूर करना **वैयावृत्य** है।
 - (10-13) अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना **अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति** और **प्रवचनभक्ति** है।
 - (14) छह आवश्यक क्रियाओं का यथा समय करना **आवश्यकपरिहाणि** है।
 - (15) ज्ञान, तप, दान और जिनपूजा इनके द्वारा धर्म का प्रकाश करना **मार्गप्रभावना** है।
 - (16) जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना **प्रवचनवत्सलत्व** है।
- ये सब सोलह कारण हैं। यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के कारण होते हैं और समुदायरूप से सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के कारण जानने चाहिए।
- नामकर्म के आस्रवों का कथन करने के बाद अब गोत्रकर्म के आस्रवों का कथन क्रमप्राप्त है। उसमें भी पहले नीच गोत्र के आस्रवों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषा-यनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता। = मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादिक में तथा उनके साधक गुरु आदिकों में अपनी योग्य रीति से सत्कार आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है।

परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद् गुणोच्छादनोद्भावन च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

अन्वयार्थ : परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सदगुणों का उच्छादन और असदगुणों का उद्भावन ये नीचगोत्र के आस्रव हैं ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

सच्चे या झूठे दोष को प्रकट करने की इच्छा **निन्दा** है। गुणों के प्रकट करने का भाव **प्रशंसा** है। पर और आत्मा शब्द के

साथ इनका क्रम से सम्बन्ध होता है। यथा **परनिन्दा** और **आत्मप्रशंसा** है। रोकनेवाले कारणों के रहने पर प्रकट नहीं करने की वृत्ति होना **उच्छादन** है और रोकनेवाले कारणों का अभाव होने पर प्रकट करने की वृत्ति होना **उद्भावन** है। यहाँ भी क्रम से सम्बन्ध होता है। यथा - सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावन। इन सब का नीच गोत्र के आस्रव के कारण जानना चाहिए।

अब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण क्या हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

अन्वयार्थ : उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्र के आस्रव हैं ॥२६॥

सर्वार्थसिद्धि :

इनके पहले नीच गोत्र के आस्रवों का उल्लेख कर आये हैं, अतः 'तत्' इस पद से उनका ग्रहण होता है। अन्य प्रकार से वृत्ति होना विपर्यय है। नीच गोत्र का जो आस्रव कहा है उससे विपर्यय तद्विपर्यय है।

शंका - वे विपरीत कारण कौन हैं ?

समाधान - आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का उच्छादन। जो गुणों में उत्कृष्ट हैं उनके विनय से नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है। ज्ञानादिक की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सेक है। ये उत्तर अर्थात् उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अब गोत्र के बाद क्रम प्राप्त अन्तराय कर्म का क्या आस्रव है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

विघ्नकरण-मन्तरायस्य ॥२७॥

अन्वयार्थ : दानादिक में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव है ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इस सूत्र की व्याख्या करते समय दानादिक का व्याख्यान कर आये हैं। उनका नाश करना विघ्न है। और इस विघ्न का करना अन्तराय कर्म का आस्रव जानना चाहिए।

शंका - तत्प्रदोष और निहव आदिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि कर्मों के प्रतिनियत आस्रव के कारण कहे तो क्या वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि प्रतिनियत कर्मों के आस्रव के कारण हैं या सामान्य से सभी कर्मों के आस्रव के कारण हैं ? यदि ज्ञानावरणादिक प्रतिनियत कर्मों के कारण हैं तो आगम से विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि आयु के सिवा शेष सात कर्मों का प्रति समय आस्रव होता है ऐसा आगम में कहा है, अतः इससे विरोध होता है। और यदि सामान्य से सब कर्मों के आस्रव के कारण हैं ऐसा माना जाता है तो इस प्रकार विशेष रूप से कथन करना युक्त नहीं ठहरता ?

समाधान - यद्यपि तत्प्रदोष आदि से ज्ञानावरणादि सब कर्म प्रकृतियों का प्रदेश बन्ध होता है ऐसा नियम नहीं है तो भी वे प्रतिनियत अनुभागबन्ध के हेतु हैं, इसलिए तत्प्रदोष, निहव आदि का अलग-अलग कथन किया है।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति में छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

अधिकार-७ (आस्रवाधिकार)

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

अन्वयार्थ : हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना व्रत है ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

अथ सप्तमोऽध्यायः

आस्रव पदार्थ का व्याख्यान करते समय उसके आरम्भ में 'शुभः पुण्यस्य' यह कहा है पर वह सामान्यरूपसे ही कहा है, अतः विशेषरूप से उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ क्या है ऐसा पूछने पर आगेका सूत्र कहते हैं -

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसादिक का जो स्वरूप आगे कहेंगे उनसे विरत होना व्रत कहलाता है । प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है । या 'यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है ।

शंका – हिंसा आदिक परिणाम विशेष ध्रुव अर्थात् सदा काल स्थिर नहीं रहते इसलिए उनका अपादान कारक में प्रयोग कैसे बन सकता है ?

समाधान – बुद्धिपूर्वक त्याग में ध्रुवपने की विवक्षा बन जाने से अपादान कारक का प्रयोग बन जाता है । जैसे 'धर्म से विरत होता है' यहाँ जो यह धर्म से विमुख बुद्धिवाला मनुष्य है वह विचार करता है कि 'धर्म दुष्कर है और उसका फल श्रद्धामात्रगम्य है' इस प्रकार वह बुद्धि से समझ कर धर्म से विरत हो जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी जो यह मनुष्य विचारपूर्वक काम करनेवाला है वह विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं वे पापके कारण हैं और जो पाप कार्य में प्रवृत्त होते हैं उन्हें इसी भव में राजा लोग दण्ड देते हैं और वे पापाचारी परलोक में दुःख उठाते हैं, इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर हिंसादिक से विरत हो जाता है । इसलिए बुद्धि से ध्रुवत्वपने की विवक्षा बन जाने से अपादान कारक का प्रयोग करना उचित है । विरति शब्द को प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा हिंसा से विरति, असत्य से विरति आदि । इन पाँच व्रतों में अहिंसा व्रत को प्रारम्भ में रखा है क्योंकि वह सब में मुख्य है । धान्य के खेत के लिए जैसे उसके चारों ओर काँटों का घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं । सब पापों से निवृत्त होनेरूप सामायिक की अपेक्षा एक व्रत है । वही व्रत छेदोपस्थापना की अपेक्षा पाँच प्रकार का है और उन्हीं का यहाँ कथन किया है ।

शंका – यह व्रत आस्रव का कारण है यह बात नहीं बनती, क्योंकि संवर के कारणों में इनका अन्तर्भाव होता है । आगे गुप्ति, समिति इत्यादि संवर के कारण कहने वाले हैं । वहाँ दस प्रकार के धर्मों में एक संयम नाम का धर्म बतलाया है उसमें व्रतों का अन्तर्भाव होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवर का कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदि का त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तु का ग्रहण आदि-रूप क्रिया देखी जाती है । दूसरे ये व्रत गुप्ति आदि रूप संवर के अंग हैं । जिस साधु ने व्रतों की मर्यादा कर ली है वह सुखपूर्वक संवर करता है, इसलिए व्रतों का अलग से उपदेश दिया है ।

शंका – रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ?

समाधान – नहीं, क्योंकि उसका भावनाओं में अन्तर्भाव हो जाता है । आगे अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कहेंगे । उनमें एक आलोकितपानभोजन नाम की भावना है उसमें रात्रिभोजनविरमण नामक व्रत का अन्तर्भाव हो जाता है । उस पाँच प्रकार के व्रत के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

देश सर्वतोऽणु-महती ॥२॥

अन्वयार्थ : हिंसादिक से एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

देश शब्द का अर्थ एकदेश है और सर्व शब्द का अर्थ सकल है । सूत्र में देश और सर्व शब्द का द्वन्द्व समास करके तसि प्रत्यय करके 'देशसर्वतः' पद बनाया है । इस सूत्र में विरति शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से होती है । यहाँ अणु और महत् शब्द का द्वन्द्व समास होकर 'अणुमहती' पद बना है । व्रत शब्द नपुंसक लिंग है, इसलिए 'अणुमहती' यह नपुंसक लिंगपरक निर्देश किया है । इनका सम्बन्ध क्रम से होता है । यथा - एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो प्रकार के हैं । प्रयत्नशील जो पुरुष उत्तम औषधि के समान इन व्रतों का सेवन करता है उसके दुःखोंका नाश होता है ।

इन व्रतों की किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए, अब इसी बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

तत्स्थैर्यार्थ भावनाः पञ्च-पञ्च ॥३॥

अन्वयार्थ : उन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ हैं ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

उन व्रतों को स्थिर करने के लिए एक एक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए । यदि ऐसा है तो प्रथम अहिंसा व्रत की भावनाएँ कौन-सी हैं ? अब इस बात को बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं -

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण-समित्यालोकित-पान-भोजनानि पञ्च ॥४॥

अन्वयार्थ : वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ हैं । अब दूसरे व्रत की भावनाएँ कौनसी हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणं च पञ्च ॥५॥

अन्वयार्थ : क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं । अनुवीचीभाषण का अर्थ निर्दोष भाषण है । अब तीसरे व्रत की कौनसी भावनाएँ हैं, यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

अनुवीचिभाषणं अनुलोमभाषणमित्यर्थः।
= अनुवीचिभाषण अर्थात् विचारपूर्वक बोलना

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्मावि-संवादाः पञ्च ॥६॥

अन्वयार्थ : शून्यागारवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

पर्वत की गुफा और वृक्ष का कोटर आदि शून्यागार हैं इनमें रहना **शून्यागारावास** है । दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना **विमोचितावास** है । दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना **परोपरोधाकरण** है । आचार शास्त्र में बतलायी हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना **भैक्ष्यशुद्धि** है ।

‘यह मेरा है यह तेरा है’ इस प्रकार सधर्मियों से विसंवाद नहीं करना **सधर्माविसंवाद** है । ये अदत्तादानविरमण व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ।

अब इस समय ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाओं का कथन करना चाहिए ; इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

स्त्रीरागकथा श्रवण-तन्मनोहरांग निरीक्षण पूर्व-रतानुस्मरण- वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥

अन्वयार्थ : स्त्रियों में राग को पैदा करने वाली कथा के सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

त्याग शब्द को प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा - स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसंस्कारत्याग ये ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं । अब पाँचवें व्रत की कौनसी भावनाएँ हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष वर्जनानि पञ्च ॥८॥

अन्वयार्थ : मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में क्रम से राग और द्वेष का त्याग करना ये अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट स्पर्श आदिक पाँच विषयों के प्राप्त होने पर राग और द्वेष का त्याग करना ये आर्किचन्य व्रत की पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए ।

जिस प्रकार इन व्रतों की दृढ़ता के लिए भावनाएँ प्रतीत होती हैं, इसलिए भावनाओं का उपदेश दिया है उसी प्रकार विद्वान् पुरुषों को व्रतों की दृढ़ता के लिए विरोधी भावों के विषय में क्या करना चाहिए ? यह बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं -

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अन्वयार्थ : हिंसादिक पाँच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावने योग्य है ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति अपाय है । अवद्य का अर्थ गर्ह्य है । अपाय और अवद्य इन दोनों के दर्शन की भावना करनी चाहिए ।

शंका – कहाँ ?

समाधान – इस लोक और परलोक में ।

शंका – किनमें ?

समाधान – हिंसादि पाँच दोषों में ।

शंका – कैसे ?

समाधान – हिंसा में यथा - हिंसक निरन्तर उद्वेजनीय है, वह सदा वैर को बाँधे रहता है । इस लोक में वध, बन्ध और क्लेश आदि को प्राप्त होता है तथा परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए हिंसा का त्याग श्रेयस्कर है । असत्यवादी का कोई श्रद्धान नहीं करता । वह इस लोक में जिह्वाछेद आदि दुःखों को प्राप्त होता है तथा असत्य बोलने से दुःखी हुए अतएव जिन्होंने वैर बाँध लिया है उनसे बहुत प्रकार की आपत्तियों को और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए असत्य वचन का त्याग श्रेयस्कर है । तथा परद्रव्य का अपहरण करने वाले चोर का सब तिरस्कार करते हैं । इस लोक में वह ताड़ना, मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान, नाक, ऊपर के ओठ का छेदना, भेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखों को और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए चोरी का त्याग श्रेयस्कर है । तथा जो अब्रह्मचारी है उसका चित्त मद से भ्रमता रहता है । जिस प्रकार वन का हाथी

हथिनी से जुदा कर दिया जाता है और विवश होकर उसे वध, बन्धन और क्लेश आदि दुःखों को भोगना पड़ता है ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारी की होती है। मोह से अभिभूत होने के कारण वह कार्य और अकार्य के विवेक से रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता। परस्त्री के आलिंगन और संसर्ग में ही इसको रति रहती है, इसलिए यह वैर को बढ़ाने वाले लिंग का छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्व का अपहरण किया जाना आदि दुःखों को और परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है तथा गर्हित भी होता है, इसलिए अब्रह्म का त्याग आत्महितकारी है। जिस प्रकार पक्षी मांस के टुकड़ों को प्राप्त करके उसको चाहने वाले दूसरे पक्षियों के द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी लोक में उसको चाहने वाले चोर आदि के द्वारा पराभूत होता है। तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाश से होनेवाले अनेक दोषों को प्राप्त होता है। जैसे ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती वैसे ही इसकी कितने ही परिग्रह से कभी भी तृप्ति नहीं होती। यह लोभातिरेक के कारण कार्य और अकार्य का विवेक नहीं करता, परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है। तथा यह लोभी है इस प्रकार से इसका तिरस्कार भी होता है, इसलिए परिग्रह का त्याग श्रेयस्कर है। इस प्रकार हिंसा आदि दोषों में अपाय और अवघ के दर्शन की भावना करनी चाहिए।

अब हिंसा आदि दोषों में दूसरी भावना का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

दुःखमेव वा ॥१०॥

अन्वयार्थ : अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिए ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

शंका – हिंसादिक दुःख कैसे हैं ?

समाधान – दुःख के कारण होने से। यथा-'अन्न ही प्राण हैं।' अन्न प्राणधारण का कारण है पर कारण में कार्य का उपचार करके जिस प्रकार अन्न को ही प्राण कहते हैं। या कारण का कारण होनेसे हिंसादिक दुःख हैं। यथा-'धन ही प्राण हैं।' यहाँ अन्नपान का कारण धन है और प्राण का कारण अन्नपान है, इसलिए जिस प्रकार धन को प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक असाता वेदनीय कर्म के कारण हैं और असाता वेदनीय दुःख का कारण है, इसलिए दुःख के कारण या दुःख के कारण के कारण हिंसादिक में दुःख का उपचार है। ये हिंसादिक दुःख ही हैं इस प्रकार अपनी और दूसरों की साक्षीपूर्वक भावना करनी चाहिए।

शंका – ये हिंसादिक सबके सब केवल दुःख ही हैं यह बात नहीं है, क्योंकि विषयों के सेवन में सुख उपलब्ध होता है ?

समाधान – विषयों के सेवन से जो सुखाभास होता है वह सुख नहीं है, किन्तु दाद को खुजलाने के समान केवल वेदना का प्रतिकारमात्र है।

और भी अन्य भावना करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक- क्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥

अन्वयार्थ : प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणा वृत्ति और अविनेयों में माध्यस्थ भावना करनी चाहिए ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

दूसरों को दुःख न हो ऐसी अभिलाषा रखना **मैत्री** है।

मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा भीतर भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना **प्रमोद** है।

दोनों पर दयाभाव रखना **कारुण्य** है।

रागद्वेषपूर्वक पक्षपात का न करना **माध्यस्थ** है।

बुरे कर्मों के फल से जो नाना योनियों में जन्मते और मरते हैं वे **सत्त्व** हैं। सत्त्व यह जीव का पर्यायवाची नाम है।

जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों में बढ़े चढ़े हैं वे **गुणाधिक** कहलाते हैं।

असातावेदनीय के उदय से जो दुःखी हैं वे **क्लिश्यमान** कहलाते हैं।

जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने और ग्रहण करने का गुण नहीं है वे **अविनेय** कहलाते हैं।

इन सत्त्व आदिक में क्रम से मैत्री आदि की भावना करनी चाहिए। जो सब जीवों में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों

में कारुण्य और अविनेयों में माध्यस्थ्य भाव की भावना करता है उसके अहिंसा आदि व्रत पूर्णता को प्राप्त होते हैं। अब फिर भी और भावना के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

जगत्काय-स्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

अन्वयार्थ : संवेग और वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव की भावना करनी चाहिए ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

जगत् का स्वभाव यथा- यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान है। इस अनादि संसार में जीव अनन्त काल तक नाना योनियों में दुःखों को पुनः पुनः भोगते हुए भ्रमण करते हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है। जीवन जल के बुलबुले के समान है। और भोग-सम्पदाएँ बिजली और इन्द्रधनुष के समान चंचल हैं- इत्यादि रूप से जगत् के स्वभाव का चिन्तन करने से संसार से संवेग-भय होता है। काय का स्वभाव यथा- यह शरीर अनित्य है, दुःख का कारण है, निःसार है और अशुचि है इत्यादि। इस प्रकार काय के स्वभाव का चिन्तन करने से विषयों से आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः जगत् और काय के स्वभाव की भावना करनी चाहिए।

यहाँ पर शंकाकार कहता है कि आपने यह तो बतलाया कि हिंसादिक से निवृत्त होना व्रत है। परन्तु वहाँ यह न जान सके कि हिंसादिक क्रियाविशेष क्या है ? इसलिए यहाँ कहते हैं। तथापि उन सबका एक साथ कथन करना अशक्य है, किन्तु उनका लक्षण क्रम से ही कहा जा सकता है, अतः प्रारम्भ में जिसका उल्लेख किया है उसी का स्वरूप बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अन्वयार्थ : प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्रमाद कषाय सहित अवस्था को कहते हैं और इस प्रमाद से युक्त जो आत्मा का परिणाम होता है वह प्रमत्त कहलाता है। तथा प्रमत्त का योग प्रमत्तयोग है। इसके सम्बन्ध से इन्द्रियादि दस प्राणों का यथासम्भव व्यपरोपण अर्थात् वियोग करना हिंसा कही जाती है। इससे प्राणियों को दुःख होता है, इसलिए वह अधर्म का कारण है। केवल प्राणों का वियोग करने से अधर्म नहीं होता है यह बतलाने के लिए सूत्र में 'प्रमत्तयोग से' यह पद दिया है। कहा भी है-

'यह प्राणी दूसरे को प्राणों से वियुक्त करता है तो भी उसे हिंसा नहीं लगती।' और भी कहा है-

'ईर्यासमिति से युक्त साधु के अपने पैर के उठाने पर चलने के स्थान में यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैर से दब जाय और उसके सम्बन्ध से मर जाय तो भी उस निमित्त से थोड़ा भी बन्ध आगम में नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टि से मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है वैसे यहाँ भी रागादि परिणाम को हिंसा कहा है।'

शंका - प्राणों का विनाश न होने पर भी केवल प्रमत्तयोग से ही हिंसा कही जाती है। कहा भी है -

'जीव मर जाय या जीता रहे तो भी यत्नाचार से रहित पुरुष के नियम से हिंसा होती है और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, हिंसा के हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता।'

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ भी भावरूप प्राणों का नाश है ही। कहा भी है-

'प्रमाद से युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है इसके बाद दूसरे प्राणियों का वध होवे या मत होवे।' हिंसा का लक्षण कहा। अब उसके बाद असत्य का लक्षण बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

अन्वयार्थ : असत् बोलना अनृत है ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

सत् शब्द प्रशंसावाची है। जो सत् नहीं वह असत् है। असत् का अर्थ अप्रशस्त है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना अनृत-असत्य कहलाता है। ऋत का अर्थ सत्य है और जो ऋत-सत्य नहीं है वह अनृत है।

शंका - अप्रशस्त किसे कहते हैं ?

समाधान - जिससे प्राणियों को पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं। भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थ को विषय करता हो या चाहे अविद्यमान पदार्थ को विषय करता हो। यह पहले ही कहा है कि शेष व्रत अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए हैं। इसलिए

जिससे हिंसा हो वह वचन अनृत है ऐसा निश्चय करना चाहिए।
असत्य के बाद जो स्तेय कहा है उसका क्या लक्षण है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थं यत् तत्सर्वं मनृतमुक्तं भवति। तेन विपरीतार्थस्यप्राणिपीडा करस्य चानुतत्वमुपपन्नं भवति

= 'असत्' कहनेसे जितने अप्रशस्त अर्थवाची शब्द हैं, वे सब अनृत कहे जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणीपीडाकारी हैं वे भी अनृत हैं।

भूतनिह्वेऽभूतोद्भावे च यदभिधानं तदेवानृतं स्यात्, भूतनिह्वे नास्त्यात्मा नास्ति परलोक इति। अभूतोद्भावे च श्यामाकतन्दुलमात्रमात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रः सर्वगतो निष्क्रिय इति च।

= विद्यमानका लोप तथा अविद्यमानके उद्भावन करनेवाले 'आत्मा नहीं है', 'परलोक नहीं है', 'श्यामतंदुलके बराबर आत्मा है' 'अंगूठेके पोर बराबर आत्मा है', 'आत्मा सर्वगत है', 'आत्मानिष्क्रिय है' इत्यादि वचन मिथ्या होनेसे असत्य हैं।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अन्वयार्थ : बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय है ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

आदान शब्द का अर्थ ग्रहण है। बिना दी हुई वस्तु का लेना अदत्तादान है और यही स्तेय-चोरी कहलाता है।

शंका – यदि स्तेय का पूर्वोक्त अर्थ किया जाता है तो कर्म और नोकर्म का ग्रहण करना भी स्तेय ठहरता है, क्योंकि ये किसी के द्वारा दिये नहीं जाते ? समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ देना और लेना सम्भव है वहीं स्तेय का व्यवहार होता है।

शंका – यह अर्थ किस शब्द से फलित होता है ?

समाधान – सूत्र में जो 'अदत्त' पद का ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि जहाँ देना लेना सम्भव है वहीं स्तेय का व्यवहार होता है।

शंका – स्तेय का उक्त अर्थ करने पर भी भिक्षु के ग्राम नगरादिक में भ्रमण करते समय गली, कूचा के दरवाजा आदि में प्रवेश करने पर बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है ; क्योंकि वे गली, कूचा के दरवाजा आदि सबके लिए खुले हैं। यह भिक्षु जिनमें किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजा आदि में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वे सबके लिए खुले नहीं हैं। अथवा, 'प्रमत्तयोगात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है जिससे यह अर्थ होता है कि प्रमत्त के योग से बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण करना स्तेय है। गली कूचा आदि में प्रवेश करने वाले भिक्षु के प्रमत्तयोग तो है नहीं, इसलिए वैसा करते हुए स्तेय का दोष नहीं लगता। इस सब कथन का यह अभिप्राय है कि बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है। अब चौथा जो अब्रह्म है उसका क्या लक्षण है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

मैथुनम-ब्रह्म ॥१६॥

अन्वयार्थ : मैथुन अब्रह्म है ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

चारित्रमोहनीय का उदय होने पर राग परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मैथुन कहलाता है और इसका कार्य मैथुन कहा जाता है। सब कार्य मैथुन नहीं कहलाता क्योंकि लोक में और शास्त्र में इसी अर्थ में मैथुन शब्द की प्रसिद्धि है। लोक में बाल-गोपाल आदि तक यह प्रसिद्ध है कि स्त्री-पुरुष की रागपरिणाम के निमित्तसे होने वाली चेष्टा मैथुन है। शास्त्र में भी 'घोड़ा और बैल की मैथुनेच्छा होने पर' इत्यादि वाक्यों में यही अर्थ लिया जाता है। दूसरे 'प्रमत्तयोगात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए रतिजन्य सुख के लिए स्त्री-पुरुष की मैथुनविषयक जो चेष्टा होती है वही मैथुनरूप से ग्रहण किया जाता है, सब नहीं। अहिंसादिक गुण जिसके पालन करने पर बढ़ते हैं वह ब्रह्म कहलाता है और जो इससे रहित है वह अब्रह्म है।

शंका – अब्रह्म क्या है ?

समाधान – मैथुन। मैथुन में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, क्योंकि जो मैथुन के सेवन में दक्ष है वह चर और अचर सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह को

स्वीकार करता है।

अब पाँचवाँ जो परिग्रह है उसका क्या लक्षण है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

अन्वयार्थ : मूर्च्छा परिग्रह है ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

अब मूर्च्छा का स्वरूप कहते हैं।

शंका – मूर्च्छा क्या है ?

समाधान – गाय भैंस, मणि और मोती आदि चेतन अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधि का संरक्षण अर्जन और संस्कार आदिरूप व्यापार ही मूर्च्छा है।

शंका – लोकमें वातादि प्रकोपविशेष का नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छा का ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ?

समाधान – यह कहना सत्य है तथापि मूर्च्छा धातु का सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्रूप विशेषों में ही रहते हैं ऐसा मान लेने पर यहाँ मूर्च्छा का विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रह का प्रकरण है।

शंका – मूर्च्छाका यह अर्थ लेने पर भी बाह्य वस्तु को परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता, क्योंकि मूर्च्छा इस शब्द से आभ्यन्तर परिग्रह का संग्रह होता है।

समाधान – यह कहना सही है; क्योंकि प्रधान होने से आभ्यन्तर का ही संग्रह किया है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रह के न रहने पर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प वाला पुरुष परिग्रहसहित ही होता है।

शंका – यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं ही है और यदि मूर्च्छा का कारण होने से 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामों के समान ज्ञानादिक में भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमादरहित है उसके मोह का अभाव होने से मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रहरहितपना सिद्ध होता है। दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्मा के स्वभाव हैं, इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता। परन्तु रागादिक तो कर्मों के उदय से होते हैं, अतः वे आत्मा का स्वभाव न होने से हेय हैं इसलिए उनमें होने वाला संकल्प परिग्रह है यह बात बन जाती है। सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदिरूप भाव होते हैं। और उसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादिक में जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार उक्त विधि से जो हिंसादि में दोषों का दर्शन करता है, जिसका चित्त अहिंसादि गुणों में लगा रहता है और जो अत्यन्त प्रयत्नशील है वह यदि अहिंसादि व्रतों को पाले तो किस संज्ञा को प्राप्त होता है इसी बात का खुलासा करने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं-

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो शल्यरहित है वह व्रती है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्द की व्युत्पत्ति है। शल्य का अर्थ है पीड़ा देनेवाली वस्तु। जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है जो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीडाकर भाव है वह शल्य शब्द से लिया गया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियों को बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मनसम्बन्धी बाधा का कारण होने से कर्मोदयजनित विकार में भी शल्य का उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं। वह शल्य तीन प्रकार की है- माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य। माया, निकृति और वंचना अर्थात् ठगनेकी वृत्ति यह माया शल्य है। भोगों की लालसा निदान शल्य है और अतत्त्वों का श्रद्धान मिथ्यादर्शन शल्य है। इन तीन शल्यों से जो रहित है वही निःशल्य व्रती कहा जाता है।

शंका- शल्य के न होने से निःशल्य होता है और व्रतों के धारण करने से व्रती होता है। शल्यरहित होने से व्रती नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ देवदत्त के हाथ में लाठी होने पर वह छत्री नहीं हो सकता ?

समाधान- व्रती होने के लिए दोनों विशेषणों से युक्त होना आवश्यक है, यदि किसी ने शल्यों का त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषों को छोड़ दिया तो वह व्रती नहीं हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्यों का त्याग करके व्रतों

को स्वीकार किया है। जैसे जिसके यहाँ बहुत घी दूध होता है वह गायवाला कहा जाता है। यदि उसके घी दूध नहीं होता और गायें हैं तो वह गायवाला नहीं कहलाता, उसी प्रकार जो सशल्य है व्रतों के होने पर भी वह व्रती नहीं हो सकता। किन्तु जो निःशल्य है वह व्रती है।

अब उसके भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अन्वयार्थ : उसके अगारी और अनागार ये दो भेद हैं ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

आश्रय चाहने वाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार है। अगार का अर्थ वेश्म अर्थात् घर है। जिसके घर है वह अगारी है। और जिसके घर नहीं है वह अनगार है इस तरह व्रती दो प्रकार का है-अगारी और अनगार।

शंका – अभी अगारी और अनगार का जो लक्षण कहा है उससे विपरीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार जो मुनि शून्य घर और देवकुल में निवास करते हैं वे अगारी हो जायेंगे और विषयतृष्णा का त्याग किये बिना जो किसी कारण से घर को छोड़कर वन में रहने लगे हैं वे अनगार हो जायेंगे ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यहाँ पर भावागार विवक्षित है। चारित्र मोहनीय का उदय होने पर जो परिणाम घर से निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वन में निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकार का परिणाम नहीं है वह घर में रहते हुए भी अनगार है।

शंका – अगारी व्रती नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पूर्ण व्रत नहीं है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि नैगम आदि नयों की अपेक्षा नगरावास के समान अगारी के भी व्रतीपना बन जाता है। जैसे कोई घर में या झोपड़ीमें रहता है तो भी 'मैं नगर में रहता हूँ' यह कहा जाता है उसी प्रकार जिसके पूरे व्रत नहीं है वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा व्रती कहा जाता है।

शंका – जो हिंसादिक में-से एक से निवृत्त है वह क्या अगार व्रती है ?

समाधान – ऐसा नहीं है।

शंका – तो क्या है ?

समाधान – जिसके एक देश से पाँचों प्रकार की विरति है वह अगारी है यह अर्थ यहाँ विवक्षित है।

अब इसी बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अन्वयार्थ : अणुव्रतों का धारी अगारी है ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है।

शंका – अगारी के व्रत अल्प कैसे होते हैं ?

समाधान – अगारी के पूरे हिंसादि दोषों का त्याग सम्भव नहीं है इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं।

शंका – तो यह किससे निवृत्त हुआ है ?

समाधान – यह त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त है; इसलिए उसके पहला **अहिंसा अणुव्रत** होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिक के वश से गृहविनाश और ग्रामविनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त है, इसलिए उसके दूसरा **सत्याणुव्रत** होता है। श्रावक राजा के भय आदि के कारण दूसरे को पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तु को लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तु के लेने से उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए उसके तीसरा **अचौर्याणुव्रत** होता है। गृहस्थ के स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का संग करने से रति हट जाती है, इसलिए उसके **परस्त्रीत्याग** नाम का चौथा अणुव्रत होता है। तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ **परिग्रहपरिमाण** अणुव्रत होता है।

गृहस्थ को क्या इतनी ही विशेषता है कि और भी विशेषता है, अब यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

दिग्देशानर्थदण्ड-विरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

अन्वयार्थ : वह दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत इन व्रतों से भी सम्पन्न होता है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

विरति शब्द प्रत्येक शब्द पर लागू होता है। यथा - दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति। ये तीन गुणव्रत हैं, क्योंकि व्रत शब्द का हर एक के साथ सम्बन्ध है। तथा सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत ये चार हैं। इस प्रकार इन व्रतों से जो सम्पन्न है वह गृही विरताविरत कहा जाता है। खुलासा इस प्रकार है -

जो पूर्वादि दिशाएँ हैं उनमें प्रसिद्ध चिह्नों के द्वारा मर्यादा करके नियम करना **दिग्विरतिव्रत** है। उस मर्यादा के बाहर त्रस और स्थावर हिंसा का त्याग हो जाने से उतने अंश में महाव्रत होता है। मर्यादा के बाहर लाभ होते हुए भी उसमें परिणाम न रहने के कारण लोभ का त्याग हो जाता है।

ग्रामादिक की निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जाने का त्याग कर देना **देशविरतिव्रत** है। यहाँ भी पहले के समान मर्यादा के बाहर महाव्रत होता है।

उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है वह अनर्थदण्ड है। इससे विरत होना **अनर्थदण्डविरतिव्रत** है।

अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का है- अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति --

दूसरों का जय, पराजय, मारना, बाँधना, अंगों का छेदना और धन का अपहरण आदि कैसे होवे इस प्रकार मन से विचार करना **अपध्यान** नाम का अनर्थदण्ड है।

तिर्यचों को क्लेश पहुँचाने वाले, वणिज का प्रसार करनेवाले और प्राणियों की हिंसा के कारणभूत आरम्भ आदि के विषय में पापबहुल वचन बोलना **पापोपदेश** नाम का अनर्थदण्ड है।

बिना प्रयोजन के वृक्षादि का छेदना, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पाप कार्य **प्रमादाचरित** नाम का अनर्थदण्ड है।

विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकड़ी आदि हिंसा के उपकरणों का प्रदान करना **हिंसाप्रदान** नाम का अनर्थदण्ड है।

हिंसा और राग आदि को बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षा देना **अशुभश्रुति** नाम का अनर्थदण्ड है।

'सम्' उपसर्ग का अर्थ एकरूप है। जैसे 'घी संगत है, तेल संगत है,' जब यह कहा जाता है तब संगत का अर्थ एकीभूत होता है। सामायिक में मूल शब्द समय है। इसके दो अवयव हैं सम् और अय। सम् अर्थ कहा ही है और अय का अर्थ गमन है। समुदायार्थ एकरूप हो जाना समय है और समय ही सामायिक है। अथवा समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह **सामायिक** है। इतने देश में और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गयी सामायिक में स्थित पुरुष के पहले के समान महाव्रत जानना चाहिए, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाता है।

शंका - यदि ऐसा है तो सामायिक में स्थित हुए पुरुष के सकलसंयम का प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि इसके संयम का घात करने वाले कर्मों का उदय पाया जाता है।

शंका- तो फिर इसके महाव्रत का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि जैसे राजकुल में चैत्र को सर्वगत उपचार से कहा जाता है उसी प्रकार इसके महाव्रत उपचार से जानना चाहिए।

प्रोषध का अर्थ पर्व है और पांचों इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के त्यागपूर्वक उसमें निवास करना उपवास है। अर्थात् चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। तथा प्रोषध के दिनों में जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपास कहते हैं। प्रोषधोपासी श्रावक को अपने शरीर के संस्कार के कारण स्नान, गन्ध, माला और आभरण आदि का त्याग करके किसी पवित्र स्थान में, साधुओं के रहने के स्थान में, चैत्यालय में या अपने प्रोषधोपास के लिए नियत किये गये घर में, धर्मकथा के सुनने, सुनाने और चिन्तन करने में मन को लगाकर उपवासपूर्वक निवास करना चाहिए और सब प्रकार का आरम्भ छोड़ देना चाहिए।

भोजन, पान, गन्ध और माला आदि उपभोग कहलाते हैं तथा ओढ़ना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं। इनका परिमाण करना **उपभोग-परिभोग-परिमाण** व्रत है। जिसका चित्त त्रसहिंसा से निवृत्त है उसे सदा के लिए मधु, मांस और मदिरा का त्याग कर देना चाहिए। जो बहुत जन्तुओं की उत्पत्ति के आधार हैं और जिन्हें अनन्तकाय कहते हैं ऐसे केतकी के फूल और अर्जुन के फूल आदि तथा अदरक और मूली आदि का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवन में फल कम है और घात बहुत जीवों का है। तथा यान, वाहन और आभरण आदिक में हमारे लिए इतना ही इष्ट है शेष सब अनिष्ट है इस प्रकार का विचार करके कुछ काल के लिए या जीवन भर के लिए

शक्त्यानुसार जो अपने लिए अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए । संयमका विनाश न हो इस विधि से जो चलता है वह अतिथि है या जिसके आने की कोई तिथि नहीं उसे अतिथि कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जिसके आने का कोई काल निश्चित नहीं है उसे अतिथि कहते हैं । इस अतिथि के लिए विभाग करना **अतिथिसंविभाग** है । वह चार प्रकार का है- भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहनेका स्थान । जो मोक्ष के लिए बद्धकक्ष है, संयम के पालन करने में तत्पर है और शुद्ध है उस अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए । सम्यग्दर्शन आदि के बढ़ाने वाले धर्मोपकरण देने चाहिए । योग्य औषध की योजना करनी चाहिए तथा परम धर्म में श्रद्धापूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए । सूत्र में जो 'च' शब्द है वह आगे कहे जाने वाले गृहस्थधर्म के संग्रह करने के लिए दिया है ।

वह और क्या होता है-

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

अन्वयार्थ : तथा वह मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला होता है ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय इन तीन बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है । उसी भव के मरण का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में मरण शब्द के साथ अन्त पद को ग्रहण किया है । मरण यही अन्त मरणान्त है और 'जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है' वह मारणान्तिकी कहलाती है । अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है । अर्थात् बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का, उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए, भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है । मरण के अन्त में होने वाली इस सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला गृहस्थ होता है यह इस सूत्र का तात्पर्य है ।

शंका – सहज तरीके से अर्थ का स्पष्टीकरण हो इसके लिए सूत्र में 'जोषिता' इसके स्थान में 'सेविता' कहना ठीक है ?

समाधान – नहीं; क्योंकि 'जोषिता' क्रिया के रखने से उससे अर्थ-विशेष ध्वनित हो जाता है । यहाँ केवल 'सेवन करना' अर्थ नहीं लिया गया है किन्तु प्रीति रूप अर्थ भी लिया गया है, क्योंकि प्रीति के न रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं करायी जाती । किन्तु प्रीति के रहने पर जीव स्वयं ही सल्लेखना करता है । तात्पर्य यह है कि 'प्रीतिपूर्वक सेवन करना' यह अर्थ 'जोषिता' क्रिया से निकल आता है 'सेविता' से नहीं, अतः सूत्र में 'जोषिता' क्रिया रखी है ।

शंका – चूं कि सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है, इसलिए यह आत्मघात हुआ ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है । 'प्रमत्तयोग' से प्राणों का वध करना हिंसा है यह पहले कहा जा चुका है । परन्तु इसके प्रमाद नहीं है, क्योंकि इसके रागादिक नहीं पाये जाते । राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघात का दोष प्राप्त होता है । परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं, इसलिए इसे आत्म-घात का दोष नहीं प्राप्त होता । कहा भी है -

" शास्त्र में यह उपदेश है कि रागादि का नहीं उत्पन्न होना अहिंसा है । तथा जिनदेव ने उनकी उत्पत्ति को हिंसा कहा है ॥ " दूसरे, मरण किसी को भी इष्ट नहीं है । जैसे नाना प्रकार की विक्रेय वस्तुओं के देन, लेन और संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं है । फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाश के कारण आ उपस्थित हों तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है । इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो जिससे विक्रेय वस्तुओं का नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार पुण्यस्थानीय व्रत और शील के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदि का पतन नहीं चाहता । यदा कदाचित् उनके विनाश के कारण उत्पन्न हो जाय तो जिससे अपने गुणों में बाधा नहीं पड़े इस प्रकार उनको दूर करने का प्रयत्न करता है । इतने पर भी यदि वे दूर न हों तो जिससे अपने गुणों का नाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है, इसलिए इसके आत्मघात नाम का दोष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है ।

यहाँ पर शंकाकार कहता है कि व्रती निःशल्य होता है ऐसा कहा है और वहां तीसरी शल्य मिथ्यादर्शन है । इसलिए सम्यग्दृष्टि व्रती को निःशल्य होना चाहिए यह उसका अभिप्राय है, तो अब यह बतलाइए कि वह सम्यग्दर्शन सापवाद होता है या निरपवाद होता है ? अब इसका समाधान करते हैं - किसी जीव के मोहनीय की अवस्था विशेष के कारण ये अपवाद होते हैं -

राजवार्तिक :

तत्र नित्यमरणं समयसमये स्वायुरादीनां निवृत्तिः । तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम् । = प्रतिक्षण आयु आदि प्राणों का बराबर क्षय होते रहना नित्यमरण है (इसको ही भ.आ. व भा. पा. में 'अवीचिमरण' के नाम से कहा गया है) । और नूतन शरीर पर्याय को धारण करने के लिए पूर्व पर्याय का नष्ट होना तद्भवमरण है ।

शंका-कांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरती- चाराः ॥२३॥

अन्वयार्थ : शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचार हैं ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

'दर्शनविशुद्धिः' इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते समय निःशंकितत्व आदि का व्याख्यान किया । ये शंकादिक उनके प्रतिपक्षभूत जानना चाहिए ।

शंका – प्रशंसा और संस्तव में क्या अन्तर है ?

समाधान – मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों का मन से उद्भावन करना प्रशंसा है और मिथ्यादृष्टि में जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं इन दोनों का सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है, इस प्रकार यह दोनों में अन्तर है।

शंका – सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, इसलिए उसके अतिचार भी आठ ही होने चाहिए।

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आगे आचार्य व्रतों और शीलों के पाँच पाँच अतिचार कहने वाले हैं, इसलिए अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव इन दो अतिचारों में शेष अतिचारों का अन्तर्भाव करके सम्यग्दृष्टि के पाँच ही अतिचार कहे हैं ।

सम्यग्दृष्टि के अतिचार कहे, क्या इसी प्रकार व्रत और शीलों के भी अतिचार होते हैं ? हाँ, यह कह कर अब उन अतिचारों की संख्या का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

राजवार्तिक :

अतिचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्।

= अतिक्रम भी अतिचार का ही दूसरा नाम है।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमतिचारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्।

= दर्शन मोह के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होना (सम्यग्दर्शन का) अतिचार है। अतिक्रम भी इसी का नाम है।

व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

अन्वयार्थ : व्रतों और शीलों में पाँच पाँच अतिचार हैं जो क्रम से इस प्रकार हैं ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

शील और व्रत इन शब्दों का कर्मधारय समास होकर व्रतशील पद बना है । उनमें अर्थात् व्रत-शीलों में ।

शंका – सूत्र में शील पद का ग्रहण करना निष्फल है, क्योंकि व्रत पद के ग्रहण करने से ही उसकी सिद्धि हो जाती है ?

समाधान – सूत्र में शील पद का ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि विशेष का ज्ञान कराने के लिए और व्रतों की रक्षा करने के लिए शील है, इसलिए यहाँ शील पद के ग्रहण करने से दिग्विरति आदि लिये जाते हैं ।

यहाँ गृहस्थ का प्रकरण है, इसलिए गृहस्थ के व्रतों और शीलों के आगे कहे जाने वाले क्रम से पाँच पाँच अतिचार जानने चाहिए जो इस प्रकार हैं । उसमें भी पहले प्रथम अहिंसा व्रत के अतिचार बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं –

बंधवध-छेदाति-भारारोपणान्नपान-निरोधाः ॥२५॥

अन्वयार्थ : बन्ध, वध, छेद, अतिभार का आरोपण और अन्नपान का निरोध ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

किसी को अपने इष्ट स्थान में जाने से रोकने के कारण को **बन्ध** कहते हैं।

डंडा, चाबुक और बेंत आदि से प्राणियों को मारना **वध** है। यहाँ वध का अर्थ प्राणों का वियोग करना नहीं लिया है, क्योंकि अतिचार के पहले ही हिंसा का त्याग कर दिया जाता है।

कान और नाक आदि अवयवों का भेदना **छेद** है।

उचित भार से अतिरिक्त भार का लादना **अतिभारोपण** है ।

गौ आदि के भूखप्यास में बाधाकर अन्नपान का रोकना **अन्नपाननिरोध** है।
ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार- साकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

अन्वयार्थ : मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥ २६॥

सर्वार्थसिद्धि :

अभ्युदय और मोक्ष की कारणभूत क्रियाओं में किसी दूसरे को विपरीत मार्ग से लगा देना या मिथ्या वचनों द्वारा दूसरों को ठगना **मिथ्योपदेश** है।

स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्त में किये गये आचरण विशेष का प्रकट कर देना **रहोभ्याख्यान** है।

दूसरे ने न तो कुछ कहा और न कुछ किया तो भी अन्य किसी की प्रेरणा से उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है इस प्रकार छल से लिखना **कूटलेखक्रिया** है।

धरोहर में चाँदी आदि को रखने वाला कोई उसकी संख्या भूलकर यदि उसे कमती लेने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना **न्यासापहार** है। अर्थवश, प्रकरणवश, शरीर के विकारवश या भ्रूक्षेप आदि के कारण दूसरे के अभिप्राय को जान कर डाह से उसका प्रकट कर देना **साकारमन्त्रभेद** है।

इस प्रकार ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए।

स्तेनप्रयोग-तदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रम- हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपक-व्यवहाराः ॥२७॥

अन्वयार्थ : स्तेनप्रयोग, स्तेन आहतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

किसी को चोरी के लिए स्वयं प्रेरित करना, या दूसरे के द्वारा प्रेरित कराना या प्रयुक्त हुए की अनुमोदना करना **स्तेनप्रयोग** है।

अपने द्वारा अप्रयुक्त असम्मत चोर के द्वारा लायी हुई वस्तु का ले लेना **तदाहतादान** है। यहाँ न्यायमार्ग को छोड़ कर अन्य प्रकार से वस्तु ली गयी है इसलिए अतिचार है।

विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है। राज्यों में किसी प्रकार का विरोध होने पर मर्यादा का न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। यदि वहाँ अल्प मूल्य में वस्तुयें मिल गयीं तो उन्हें महँगा बेचने का प्रयत्न करना **विरुद्धराज्यातिक्रम** है।

मानपद से प्रस्थ आदि मापने के बाट लिये जाते हैं और उन्मान पद से तराजू आदि तौलने के बाट लिये जाते हैं। कमती मापतौल से दूसरे को देना और बढ़ती माप-तौल से स्वयं लेना इत्यादि कुटिलता से लेन-देन करना **हीनाधिकमानोन्मान** है।

बनावटी चाँदी आदि से कपटपूर्वक व्यवहार करना **प्रतिरूपक व्यवहार** है।

इस प्रकार ये अदत्तादान अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

राजवार्तिक :

उचितान्याय्याद् अन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रम इत्युच्यते।

= उचित न्याय्य भाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना अतिक्रम है। (यह लक्षण अस्तेय के अतिचारों के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है।)

परविवाह करणेत्वरिका-परिगृहीतापरिगृहीता- गमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशः ॥२८॥

अन्वयार्थ : परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वारिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥२८॥

सर्वार्थसिद्धि :

कन्या का ग्रहण करना विवाह है। किसी अन्य का विवाह परविवाह है और इसका करना **परविवाह-करण** है। जिसका स्वभाव अन्य पुरुषों के पास जाना-आना है वह इत्वरी कहलाती है। इत्वरी अर्थात् अभिसारिका। इसमें भी जो अत्यन्त आचरत होती है वह इत्वरिका कहलाती है। यहाँ कुत्सित अर्थमें 'क' प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द बना है। जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। तथा जो वेश्या या व्यभिचारिणी होने से दूसरे पुरुषों के पास जाती-आती रहती है और जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है वह अपरिगृहीता कहलाती है। परिगृहीता इत्वरिका का गमन करना **इत्वरिकापरिगृहीतागमन** है और अपरिगृहीता इत्वरिका का गमन करना **इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन** है। यहाँ अङ्ग शब्द का अर्थ प्रजनन और योनि है। तथा इनके सिवा अन्यत्र क्रीडा करना **अनङ्गक्रीडा** है। कामविषयक बढ़ा हुआ परिणाम **कामतीव्राभिनिवेश** है। ये स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

राजवार्तिक :

अङ्गं प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजननविकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थः।
= लिंग तथा भग या योनि अङ्ग है। इससे दूसरे स्थान में क्रीडा व केलि सो अयोग्य अङ्गसे क्रीडा है अर्थात् काम सेवन के योग्य अङ्गों को छोड़कर अन्य अङ्गों में वा अन्य रीतिसे क्रीडा करना सो अनङ्गक्रीडा है।

क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धन-धान्य-दासीदास-कुप्य- प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

अन्वयार्थ : क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी और दास के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥२९॥

सर्वार्थसिद्धि :

धान्य पैदा करनेका आधारभूत स्थान **क्षेत्र** है। मकान **वास्तु** है। जिससे रुप्य आदि का व्यवहार होता है वह **हिरण्य** है। **सुवर्ण** का अर्थ स्पष्ट है। **धन** से गाय आदि लिये जाते हैं। **धान्य** से व्रीहि आदि लिये जाते हैं। नौकर स्त्री पुरुष मिलकर **दासी-दास** कहलाते हैं। रेशम, कपास, और कोसा के वस्त्र तथा चन्दन आदि **कुप्य** कहलाते हैं। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य इनके विषय में मेरा इतना ही परिग्रह है इससे अधिक नहीं ऐसा प्रमाण निश्चित करके लोभवश क्षेत्रवास्तु आदि के प्रमाण को बढ़ा लेना प्रमाणातिक्रम है। इस प्रकार ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

राजवार्तिक :

क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथा अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थ लाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीन् अमुत्र गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्यः इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः।

= क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधक तथा आरम्भादिकमें पाप संयुक्त वचन पापोपदेश कहलाता है। वह इस प्रकार कि-१. इस देशमें दास-दासी बहुत सुलभ हैं। उनको अमुक देशमें ले जाकर बेचने से महान् अर्थ लाभ होता है। इसे क्लेशवणिज्या कहते हैं। २. गाय, भैंस आदि पशु अमुक स्थानसे ले जाकर अन्यत्र देशमें व्यवहार करने से महान् अर्थ लाभ होता है, इसे तिर्यग्वणिज्या कहते हैं। ३. वधक व शिकारी लोगों को यह बताना कि हिरण, सूअर व पक्षी आदि अमुक देशमें

अधिक होते हैं, ऐसा वचन वधकोपदेश है। ४. खेती आदि करनेवालों से यह कहना कि पृथ्वी का अथवा जल, अग्नि, पवन, वनस्पति आदि का आरम्भ इस उपाय से करना चाहिए। ऐसा कथन आरम्भकोपदेश है। इस प्रकार के पाप संयुक्त वचन पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अन्वयार्थ : ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३०॥

सर्वार्थसिद्धि :

दिशा की जो मर्यादा निश्चित की हो उसका उल्लंघन करना अतिक्रम है। वह संक्षेप से तीन प्रकार का है - ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यगतिक्रम। इनमें से मर्यादा के बाहर पर्वतादिक पर चढ़ने से **ऊर्ध्वातिक्रम** होता है, कुआँ आदि में उतरने आदि से **अधोऽतिक्रम** होता है और बिल आदि में घुसने से **तिर्यगतिक्रम** होता है। लोभ के कारण मर्यादा की हुई दिशा के बढ़ाने का अभिप्राय रखना **क्षेत्रवृद्धि** है। यह व्यतिक्रम प्रमाद से, मोह से या व्यासंग से होता है। मर्यादा का स्मरण ना रखना **स्मृत्यन्तराधान** है। ये दिग्विरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

राजवार्तिक :

परिमितस्य दिग्वधेरतिलङ्घनमतिक्रम इत्युच्यते।
= दिशाओं की परिमित मर्यादा का उल्लंघन करना (दिग्व्रत का) अतिक्रम है।

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्दरूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अन्वयार्थ : आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३१॥

सर्वार्थसिद्धि :

अपने द्वारा संकल्पित देश में ठहरे हुए पुरुष को प्रयोजनवश किसी वस्तु को लाने की आज्ञा करना **आनयन** है। ऐसा करो इस प्रकार काम में लगाना **प्रेष्यप्रयोग** है। जो पुरुष किसी उद्योग में जुटे हैं उन्हें उद्देश्य कर खाँसना आदि **शब्दानुपात** है। उन्हीं पुरुषों को अपने शरीर को दिखलाना **रूपानुपात** है। ढेला आदि का फेंकना **पुद्गलक्षेप** है। इस प्रकार देशविरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

राजवार्तिक :

स्वयमनतिक्रमन् अन्येनातिक्रामयति ततोऽतिक्रम इति व्यपदिश्यते।
= स्वयं मर्यादा का उल्लंघन न करके दूसरे से करवाता है। अतः उनको (आनयन आदि को देशव्रत को) 'अतिक्रम' ऐसा कहते हैं।

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधि- करणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

अन्वयार्थ : कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३२॥

सर्वार्थसिद्धि :

रागभाव की तीव्रतावश हास्यमिश्रित असभ्य वचन बोलना **कन्दर्प** है।
परिहास और असभ्यवचन इन दोनों के साथ दूसरे के लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना **कौतुकच्य** है।
धीठता को लिये हुए निःसार कुछ भी बहुत बकवास करना **मौखर्य** है।
प्रयोजन का विचार किये बिना मर्यादा के बाहर अधिक काम करना **असमीक्ष्याधिकरण** है।
उपभोग परिभोग के लिए जितनी वस्तु की आवश्यकता है वह अर्थ है उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** है।
इस प्रकार ये अनर्थदण्डविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

राजवार्तिक :

असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम् ॥४॥ अधिरुपरिभावे वर्तते, करोति चापूर्वप्रादुर्भावे प्रयोजनमसमीक्ष्य
आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम्। तत्त्वेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात् ॥५॥ तदधिकरणं त्रेधा व्यवतिष्ठते। कुतः कायवाङ्मनो
विषयभेदात्। तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्, वागगतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किंचनवक्तृत्वम्,
कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्।
अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम्।
= प्रयोजनके बिना ही आधिक्य रूपसे प्रवर्तन अधिकरण कहलाता है। मन, वचन और काय के भेदसे वह तीन प्रकार का
है। निरर्थक काव्य आदि का चिन्तन मानस अधिकरण है। निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास वाचनिक
अधिकरण है। बिना प्रयोजन बैठे या चलते हुए सचित्त या अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन, भेदन, मर्दन, कुट्टन या क्षेपण
आदि करना तथा अग्नि, विष, क्षार आदि देना कायिक असमीक्ष्याधिकरण है।

योग दुःप्रणिधानानादर-स्मृत्यनु-पस्थानानि ॥३३॥

अन्वयार्थ : काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान और मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये
सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३३॥

सर्वार्थसिद्धि :

तीन प्रकार के योग का व्याख्यान किया जा चुका है। उसका बुरी तरह से प्रयोग करना **योगदुष्प्रणिधान** है जो तीन
प्रकारका है— कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और मनोदुष्प्रणिधान।
उत्साह का न होना अनुत्साह है और वही **अनादर** है।
तथा एकाग्रता का न होना **स्मृत्यनुपस्थान** है।
इस प्रकार ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणा- नादरस्मृत्यनुप-स्थानानि ॥३४॥

अन्वयार्थ : अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित
संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३४॥

सर्वार्थसिद्धि :

जीव है या नहीं हैं इस प्रकार आँख से देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है और कोमल उपकरण से जो प्रयोजन साधा जाता है
वह प्रमार्जित कहलाता है। निषेधयुक्त इन दोनों पदों का उत्सर्ग आदि अगले तीन पदों से सम्बन्ध होता है। यथा-
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग आदि।
बिना देखी और बिना प्रमार्जित भूमि में मल-मूत्र का त्याग करना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग** हैं।
अरहंत और आचार्य की पूजा के उपकरण, गन्ध, माला और धूप आदि को तथा अपने ओढ़ने आदि के वस्त्रादि पदार्थों को
बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए ले लेना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान** है।
बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए प्रावरण आदि संस्तर का बिछाना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण** है।
भूख से पीड़ित होने के कारण आवश्यक कार्यों में अनुत्साहित होना **अनादर** है।
स्मृत्यनुपस्थान का व्याख्यान पहले किया ही है।
इस प्रकार ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।

सचित्त-संबंधसम्मिश्रा-भिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥

अन्वयार्थ : सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३५॥

सर्वार्थसिद्धि :

जो चित्त सहित है **सचित्त** कहलाता है। सचित्त से चेतना सहित द्रव्य लिया जाता है। इससे सम्बन्ध को प्राप्त हुआ द्रव्य **सम्बन्धाहार** है। और इससे मिश्रित द्रव्य **सम्मिश्र** है।

शंका- यह गृहस्थ सचित्तादिक में प्रवृत्ति किस कारण से करता है ?

समाधान- प्रमाद और सम्मोह के कारण ।

द्रव, वृष्य, और **अभिषव** इनका एक अर्थ है ।

जो ठीक तरह से नहीं पका है वह **दुःपक्व** है ।

ये पाँचों शब्द आहार के विशेषण हैं या इनसे आहार पाँच प्रकार का हो जाता है। यथा- सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये सब भोगोपभोगपरिसंख्यान व्रत के पाँच अतिचार हैं।

सचित्त-निक्षेपापिधानपरव्यपदेश-मात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

अन्वयार्थ : सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥३६॥

सर्वार्थसिद्धि :

सचित्त कमलपत्र आदि में रखना **सचित्तनिक्षेप** है।

अपिधान का अर्थ ढाँकना है। इस शब्द को भी सचित्त शब्द से जोड़ लेना चाहिए, जिससे सचित्त कमलपत्र आदि से ढाँकना यह अर्थ फलित होता है।

इस दान की वस्तु का दाता अन्य है यह कहकर देना **परव्यपदेश** है।

दान करते हुए भी आदर का न होना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना **मात्सर्य** है।

भिक्षाकाल के सिवा दूसरा काल अकाल है और उसमें भोजन कराना **कालातिक्रम** है।

ये सब अतिथिसंविभाग शीलव्रत के पाँच अतिचार हैं ।

राजवार्तिक :

अकाले भोजनं कालातिक्रमः।५। अनगाराणाम् अयोग्यकाले भोजनं कालातिक्रम इति कथ्यते।

= साधुओं को भिक्षा काल को टालकर अयोग्य काल में भोजन देने का भाव करना अतिथि संविभाग व्रत में काल का अतिक्रम कहलाता है।

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥३७॥

अन्वयार्थ : जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं ॥३७॥

सर्वार्थसिद्धि :

आशंसा का अर्थ चाहना है। जीने की चाह करना **जीविताशंसा** है और मरने की चाह करना **मरणाशंसा** है।

पहले मित्रों के साथ पांसुक्रीडन आदि नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ की रही उनका स्मरण करना **मित्रानुराग** है।

अनुभव में आये हुए विविध सुखों का पुनः पुनः स्मरण करना **सुखानुबन्ध** है।

भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है वह **निदान** है।

ये सब सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं ।

तीर्थकर पद के कारणभूत कर्म के आस्रव का कथन करते समय शक्तिपूर्वक त्याग और तप कहा; पुनः शीलों का कथन करते समय अतिथिसंविभाव्रत कहा परन्तु दान का लक्षण अभी तक ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए दान का स्वरूप बतलाने के लिए आगे का सूत्र है –

अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

अन्वयार्थ : अनुग्रह के लिए अपनी वस्तुका त्याग करना दान हैं ॥३८॥

सर्वार्थसिद्धि :

स्वयं अपना और दूसरे का उपकार करना **अनुग्रह** है।

दान देने से पुण्य का संचय होता है यह अपना उपकार है तथा जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि होती है, यह पर का उपकार है।

सूत्र में आये हुए स्वशब्द का अर्थ धन है। तात्पर्य यह है कि अनुग्रह के लिए जो धन का अतिसर्ग अर्थात् त्याग किया जाता है। वह दान है ऐसा जानना चाहिए।

दान का स्वरूप कहा तब भी उसका फल एक-सा होता है या उसमें कुछ विशेषता है, यह बतलाने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं-

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अन्वयार्थ : विधि, देय वस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से उसकी विशेषता है ॥३९॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्रतिग्रह आदि करने का जो क्रम है वह विधि है। विशेषता गुण से आती है। इस विशेष शब्द को विधि आदि प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा- विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष।

प्रतिग्रह आदिक में आदर और अनादर होने से जो भेद होता है वह **विधिविशेष** है।

जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है वह **द्रव्यविशेष** है।

अनसूया और विषाद आदि का न होना **दाता की विशेषता** है।

तथा मोक्षके कारणभूत गुणों से युक्त रहना **पात्र की विशेषता** है।

जैसे पृथिवी आदि में विशेषता होने से उससे उत्पन्न हुए बीज में विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदिक की विशेषता से दान से प्राप्त होने वाले पुण्य फल में विशेषता आ जाती है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

अधिकार-८ (बंधाधिकार)

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ॥१॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु हैं ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

आस्रव पदार्थ व्याख्यान किया। अब उसके बाद कहे गये बन्ध पदार्थ का व्याख्यान करना चाहिए उसका व्याख्यान करते हुए पहले बन्ध के कारणों का निर्देश करते हैं, क्योंकि बन्ध तत्पूर्वक होता है-

मिथ्यादर्शन आदि का व्याख्यान पहले किया जा चुका है।

शंका – इनका व्याख्यान पहले कहाँ किया है।

समाधान – 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्र में सम्यग्दर्शन का व्याख्यान किया है। मिथ्यादर्शन इसका उल्टा है,

अतः इससे उसका भी व्याख्यान हो जाता है । या आस्रव का कथन करते समय पच्चीस क्रियाओं में मिथ्यादर्शन क्रिया के समय उसका व्याख्यान किया है । विरति का व्याख्यान पहले कर आये हैं । उसकी उलटी अविरति लेनी चाहिए । प्रमाद का अन्तर्भाव आज्ञाव्यापादनक्रिया और अनाकांक्षाक्रिया इन दोनों में हो जाता है । अच्छे कार्यों के करने में आदरभाव न होना प्रमाद है । कषाय क्रोधादिक हैं जो अन्ततानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से अनेक प्रकार की हैं । इनका भी पहले कथन कर आये हैं ।

शंका – कहाँ पर ?

समाधान – 'इन्द्रियकषाया' इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते समय । तथा कायादि के भेद से तीन प्रकार के योग का आख्यान भी पहले कर आये हैं ।

शंका – कहाँ पर ?

समाधान – 'कायवाड मनः कर्म योगः' इस सूत्र में ।

मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है- नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक । इनमें से जो परोपदेश बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है । तथा परोपदेश के निमित्त से होने वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार का है- क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक । अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का है- एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन ।

यही है, इसी प्रकार का है इस प्रकार धर्म और धर्मों में एकान्तरूप अभिप्राय रखना **एकान्त मिथ्यादर्शन** है । जैसे यह सब जग परब्रह्मरूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही है या नित्य ही है ।

सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना **विपर्यय मिथ्यादर्शन** है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर क्या मोक्षमार्ग हैं या नहीं इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करना **संशय मिथ्यादर्शन** है । सब देवता और सब मतों को एक समान मानना **वैनयिक मिथ्यादर्शन** है ।

हिताहित की परीक्षा से रहित होना **अज्ञानिक मिथ्यादर्शन** है ।

कहा भी है- क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सडसठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद है ।

छहकाय के जीवों की दया न करने से और छह इन्द्रियों के विषय भेद से अविरति बारह प्रकार की है । सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये पच्चीस कषाय हैं । यद्यपि कषायों से नोकषायों में थोड़ा भेद है पर वह यहाँ विवक्षित नहीं हैं, इसलिये सबको कषाय कहा है । चार मनोयोग, चार वचनयोग और पाँच काययोग ये योग के तेरह भेद हैं । प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक ऋद्धिधारी मुनि के आहारककाययोग और और आहारक मिश्रकाययोग भी सम्भव हैं इस प्रकार योग पन्द्रह भी होते हैं । शुद्धयष्टक और उत्तमक्षमा आदि विषयक भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का है । इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचों मिलकर पृथक्-पृथक् बन्ध के हेतु हैं । स्पष्टीकरण इस प्रकार है - मिथ्यादृष्टि जीव के पाँचों ही मिलकर बंध के हेतु हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार बन्ध के हेतु हैं । संयतासंयत के विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं । प्रमत्तसंयत के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्ध के हेतु हैं । अप्रमत्तसंयत आदि चार के योग और कषाय ये दो बन्ध के हेतु हैं । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इनके एक योग ही बन्ध का हेतु है । अयोगकेवली के बन्ध का हेतु नहीं है ।

बन्ध के हेतु कहे । अब बन्ध का कथन करना चाहिये इसलिये आगे का सूत्र कहते हैं—

राजवार्तिक :

प्रश्न – बन्ध के हेतुओं का (कारणों का) विस्वारपूर्वक वर्णन किया है, उसमें हमारी कोई शंका नहीं है, परन्तु हमको यह संशय हो रहा है कि जब अमूर्तिक आत्मा के हाथ-पैर आदि नहीं हैं और पर-पदार्थों के ग्रहण करने की शक्ति का अभाव है तब वह अमूर्तिक आत्मा मूर्त कर्मों को ग्रहण कैसे कर सकता है ?

उत्तर – "पहले आत्मा और पश्चात कर्मबन्ध" इस प्रकार कर्मबंध-संतति के पूर्वापरी भाव की अनवधारणा है । अर्थात् हम ऐसा नहीं मानते हैं कि पूर्व में आत्मा निष्कम था, पश्चात कर्मों का बंध हुआ है या पूर्व में कर्म बंध हैं, पश्चात आत्मा है । इस प्रकार कर्मबंध में सादि व्यवस्था नहीं है । आत्मा के ऐकान्तिक अमूर्तत्व का निराकरण किया है, जिससे आत्मा को ऐकान्तिक अमूर्त मानने में यह प्रसंग दिया जाय, किन्तु अनादि कार्माण शरीर से सम्बन्ध होने के कारण गरम लोहे का गोला जैसे पानी का खींचता है उसीप्रकार कषाय-सन्तप्त आत्मा कर्मों को ग्रहण करता है ।

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥२॥

अन्वयार्थ : कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

कषाय के साथ रहता है इसलिये सकषाय कहलाता है और सकषाय का भाव सकषायत्व है । इससे अर्थात् सकषाय होने से । यह हेतुनिर्देश है । जिस प्रकार जठराग्नि के अनुरूप आहार का ग्रहण होता है । उसी प्रकार तीव्र, मन्द और मध्यम

कषायशय के अनुरूप ही स्थिति और अनुभाग होता है। इस प्रकार इस विशेषता का ज्ञान कराने के लिये सूत्र में 'सकषायत्वात्' इस पद द्वारा पुनः हेतु का निर्देश किया है। अमूर्ति और बिना हाथवाला आत्मा कर्मों को कैसे ग्रहण करता है इस प्रश्न का उत्तर देने के अभिप्राय से सूत्र में 'जीव' पद कहा है। जीव शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- जीवनाज्जीवः - जो जीता है अर्थात् जो प्राणों को धारण करता है, जिसके आयु का सद्भाव है, आयु का अभाव नहीं है वह जीव है। सूत्र में 'कर्मयोग्यान्' इस प्रकार लघु निर्देश करने से काम चल जाता फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृथक् विभक्ति का उच्चारण वाक्यान्तर का ज्ञान कराने के लिये किया है। वह वाक्यान्तर क्या है ? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' यह एक वाक्य है। इसका यह अभिप्राय है कि 'कर्मणः' यह हेतुपरक निर्देश है जिसका अर्थ है कि कर्म के कारण जीव कषायसहित होता है। कर्मरहित जीव के कषाय का लेप नहीं होता। इससे जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है। और इससे अमूर्त जीव मूर्त के साथ कैसे बँधता है इस प्रश्न का निराकरण हो जाता है। अन्यथा बन्ध को सादि मानने पर आत्यन्तिक शुद्धि को धारण करनेवाले सिद्ध जीव के समान संसारी जीव के बन्ध का अभाव प्राप्त होता है। 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' यह दूसरा वाक्य है, क्योंकि अर्थ के अनुसार विभक्ति बदल जाती है इसलिये पहले जो हेत्वर्थ में विभक्ति थी वह अब 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार षष्ठी अर्थ को प्राप्त होती है। सूत्र में 'पुद्गल' पद कर्म के साथ तादात्म्य दिखलाने लिए दिया है। इससे अदृष्ट आत्मा का गुण है इस बात का निराकरण हो जाता है, क्योंकि उसे आत्मा का गुण मानने पर वह संसार का कारण नहीं बन सकता। सूत्र में 'आदत्ते' पद हेतुहेतुमद्भाव का ख्यापन करने के लिये दिया है। इससे मिथ्यादर्शन आदि के अभिनिवेशवश गीले किये गये आत्मा के सब अवस्थाओं में योग विशेष से उन सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभाव को प्राप्त होने योग्य पुद्गलों का उपश्लेष होना बन्ध है यह कहा गया है। जिस प्रकार पात्रविशेष में प्रक्षिप्त हुए विविध रस वाले बीज, फूल और फलों का मदिरारूप से परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मा में स्थित हुए पुद्गलों का भी योग और कषाय के निमित्त से कर्मरूप से परिणमन जानना चाहिए। सूत्र में 'सः' पद अन्य का निराकरण करने के लिए दिया है कि यह बन्ध है अन्य नहीं। इससे गुणगुणी बन्ध का निराकरण हो जाता है। यहाँ 'बन्ध' शब्द का कर्मादि साधन में व्याख्यान कर लेना चाहिए।

यह बन्ध क्या एक है या इसके भेद हैं यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

प्रकृति स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

अन्वयार्थ : उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार नीम की क्या प्रकृति है ? कडुआपन। गुड की क्या प्रकृति है ? मीठापन। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की क्या प्रकृति है ? अर्थ का ज्ञान न होना। दर्शनावरण कर्म की क्या प्रकृति है ? अर्थ का आलोकन नहीं होना। सुख-दुःख का संवेदन कराना साता और असाता वेदनीय की प्रकृति है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना दर्शन मोह की प्रकृति है। असंयमभाव चारित्रमोह की प्रकृति है। भवधारण आयु कर्म की प्रकृति है। नारक आदि नामकरण नामकर्म की प्रकृति है। उच्च और नीच स्थान का संशब्दन गोत्र कर्म की प्रकृति है। तथा दानादि में विघ्न करना अंतराय कर्म की प्रकृति है। इस प्रकार का कार्य किया जाता है अर्थात् जिसमें होता है वह प्रकृति है।

जिसका जो स्वभाव है उससे च्युत न होना स्थिति है जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध का माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों का अर्थ का ज्ञान न होने देना आदि स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

इन कर्मों के रस विशेष का नाम अनुभव है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध का अलग-अलग तीव्र मन्द आदि रूप से रसविशेष होता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलों का अलग अलग स्वगत सामर्थ्य विशेष अनुभव है। तथा इयत्ताका अवधारण करना प्रदेश है। अर्थात् कर्मरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों के परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। 'विधि' शब्द प्रकारवाची है। ये प्रकृति आदिक चार उस बन्ध के प्रकार हैं। इनमें से योग के निमित्त से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषाय के निमित्त से स्थितिबन्ध और अनुभवबन्ध होता है। योग और कषाय में जैसा प्रकर्षाप्रकर्ष भेद होता है उसके अनुसार बन्ध भी नाना प्रकार का होता है। कहा भी है- 'यह जीव योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध को तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध को करता है। किन्तु जो जीव योग और कषायरूप से परिणित नहीं हैं और जिनके योग और कषायका उच्छेद हो गया है उनके कर्मबन्ध की स्थिति का कारण नहीं पाया जाता।'।

अब प्रकृतिबन्ध के भेद दिखलाने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं-

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरणवेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः

॥४॥

अन्वयार्थ : पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है ॥ ४ ॥

सर्वार्थसिद्धि :

आदि का प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का जानना चाहिए । जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह **आवरण** कहलाता है । वह प्रत्येक के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है यथा- ज्ञानावरण और दर्शनावरण । जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है वह **वेदनीय** कर्म है । जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह **मोहनीय** कर्म है । जिसके द्वारा नारक आदि भव को जाता है वह **आयुर्कर्म** है । जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह **नामकर्म** है । जिसके द्वारा जीव उच्च नीच गूयते अर्थात् कहा जाता है वह **गोत्र** कर्म है । जो दाता और देय आदि का अन्तर करता है अर्थात् बीच में आता है वह **गोत्र** कर्म है । एक बार खाये गये अन्न का जिस प्रकार रस, रूधिर आदि रूप से अनेक प्रकार का परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणाम के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं ।
मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का कहा । अब उत्तर प्रकृतिबन्ध का कथन करते हैं –

पञ्च-नव-द्वयष्टाविंशति-चतुर्-द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्च-भेदा- यथाक्रमम् ॥५॥

अन्वयार्थ : आठ मूल प्रकृतियों के अनुक्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच भेद हैं ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – यहाँ द्वितीय पद का ग्रहण करना चाहिए, जिससे मालूम पड़े कि द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्ध इतने प्रकार का है ?

समाधान – नहीं करना चाहिए, क्योंकि पारिशेष्य न्याय से उसकी सिद्धि हो जाती है । आदि का मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का कह आये है, इसलिये पारिशेष्य न्याय से ये उत्तर प्रकृतिबन्ध के भेद समझने चाहिए । भेद शब्द पाँच आदि शब्दों के साथ क्रम से सम्बन्ध को प्राप्त होता है । यथा - पाँच भेदवाला ज्ञानावरण, नौ भेदवाला दर्शनावरण, दो भेदवाला वेदनीय, अट्ठाईस भेद वाला मोहनीय, चार भेदवाला आयु, ब्यालीस भेद वाला नाम, दो भेदवाला गोत्र और पाँच भेदवाला अन्तराय ।

यदि ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है, तो उसका ज्ञान कराना है, अतः आगे का सूत्र कहते हैं-

मतिश्रुतावधि-मनःपर्यय केवलानाम् ॥६॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनको आवरण करने वाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

मति आदि ज्ञानों का व्याख्यान कर आये हैं । उनका आवरण करने से आवरणों में भेद होता है, इसलिये ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ जानना चाहिए ।

शंका – अभव्य जीव के मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नहीं होती । यदि होती है तो उसके अभव्यपना नहीं बनता । यदि नहीं होती है तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मों की कल्पना करना व्यर्थ है ?

समाधान – आदेश वचन होने से कोई दोष नहीं है । अभव्य के द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उसके उसका अभाव है ।

शंका – यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनों के मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है ?

समाधान – शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है ।

शंका – तो किस आधार से यह विकल्प कहा गया है ?

समाधान – व्यक्ति की सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है । जिसके कनक पाषाण और इतर

पाषाण की तरह सम्यग्दर्शनादि रूप से व्यक्ति होगी वह भव्य है और जिसके नहीं होगी व अभव्य है ।
ज्ञानावरण कर्म के उत्तर प्रकृति विकल्प कहे। अब दर्शनावरण कर्म के कहने चाहिए, इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते। कथं तर्हि।२५। सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत्।९। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यतद्विपरीतोऽभव्यः इति चोच्यते। = भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं है। प्रश्न-तो किस आधार से यह विकल्प कहा गया है ? उत्तर-शक्ति को प्रगट होने की योग्यता और अयोग्यता की अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्णपर्याय के प्रगट होने की योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण। उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला भव्य तथा अन्य अभव्य है।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला- स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

अन्वयार्थ : चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राद्रिक ऐसे नौ दर्शनावरण है ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल का दर्शनावरण की अपेक्षा भेदनिर्देश किया है, यथा – चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण । मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना **निद्रा** है । इसकी उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होना **निद्रानिद्रा** है । जो शोक, श्रम और मद आदि के कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणी के भी नेत्र, गोत्र की विक्रिया की सूचक है ऐसी क्रिया आत्मा को चलायमान करती है वह **प्रचला** है । तथा उसकी पुनःपुनः आवृत्ति होना **प्रचलाप्रचला** है । जिसके निमित्त से स्वप्न में वीर्यविशेष का आविर्भाव होता है वह **स्त्यानगृद्धि** है । 'स्त्यायति' धातु के अनेक अर्थ हैं । उनमें से यहाँ स्वप्न अर्थ लिया है और 'गृद्धि' दीप्यते जो स्वप्न में प्रदीप्त होती है वह 'स्त्यानगृद्धि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – 'स्त्याने स्वप्ने' गृद्धयति धातु का दीप्ति अर्थ लिया गया है । अर्थात् जिसके उदय से रौद्र बहु कर्म करता है व स्त्यानगृद्धि है । यहाँ निद्रादि पदों के साथ दर्शनावरण पद का समानाधिकरण रूप से सम्बन्ध होता है यथा – निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण आदि ।
तृतीय प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों को बतलाने के लिये कहते हैं –

सदसद्वेद्ये ॥८॥

अन्वयार्थ : सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय हैं ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिसके उदय से देवादि गतियों में शरीर और मनसम्बन्धी सुख की प्राप्ति होती है वह सद्वेद्य है । प्रशस्त वेद्य का नाम सद्वेद्य है । जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख मिलते हैं वह असद्वेद्य है । अप्रशस्त वेद्य का नाम असद्वेद्य है ।
अब चौथी मूल प्रकृति के उत्तर प्रकृति विकल्प दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

**दर्शनचारित्र-मोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्वि-नव-
षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ
हास्यरत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुत्रपुंसक-वेदा**

अनन्तानुबन्ध-प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन- विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः ॥९॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषाय वेदनीय और कषायवेदनीय ये दो चारित्र-मोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषायवेदनीय हैं। तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से सोलह कषायवेदनीय हैं ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

दर्शन आदिक चार हैं और तीन आदिक भी चार हैं। वहाँ इनका यथाक्रम से सम्बन्ध होता है। यथा - दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का है, चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है, अकषायवेदनीय नौ प्रकार का है और कषायवेदनीय सोलह प्रकार का है।

उनमें से दर्शनमोहनीय के तीन भेद ये हैं - सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय। वह बन्ध की अपेक्षा एक होकर सत्कर्म की अपेक्षा तीन प्रकार का है। इन तीनों में से जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक, हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह **मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय** है। वहीं मिथ्यात्व जब शुभ परिणामों के कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीनरूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है तब वह **सम्यक्त्व** है। इसका वेदन करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होने पर तदुभय कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम **सम्यग्मिथ्यात्व** है। इसके उदय से अर्धशुद्ध मदशक्ति वाले कोदों और ओदन के उपयोग से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है।

चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है- अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय। यहाँ ईषद् अर्थात् किञ्चित् अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग होने से किञ्चित् कषाय को अकषाय कहा है। हास्य आदि के भेद से अकषायवेदनीय के नौ भेद हैं। जिसके उदय से हँसी आती है वह **हास्य** है। जिसके उदय से देश आदि में उत्सुकता होती है वह **रति** है। **अरति** इससे विपरीत है। जिसके उदय से शोक होता है वह **शोक** है। जिसके उदय से उद्वेग होता है वह **भय** है। जिसके उदय से आत्म-दोषों का संवरण और परदोषों का आविष्करण होता है वह **जुगुप्सा** है। जिसके उदय से स्त्रीसम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह **स्त्रीवेद** है। जिसके उदय से पुरुषसम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह **पुंवेद** है और जिसके उदय से नपुंसकसम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह **नपुंसकवेद** है।

अनन्तानुबन्धी आदि के विकल्प से कषायवेदनीय के सोलह भेद हैं। यथा- क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय हैं। इनकी चार अवस्थाएँ हैं - अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है तथा जो कषाय उसके अर्थात् अनन्त के अनुबन्धी हैं वे **अनन्तानुबन्धी** क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनके उदय से जिसका दूसरा नाम संयमासंयम है ऐसी देशविरति को यह जीव स्वल्प भी करने में समर्थ नहीं होता है वे देशप्रत्याख्यान को आवृत करने वाले **अप्रत्याख्यान** क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनके उदय से संयम नामवाली परिपूर्ण विरति को यह जीव करने में समर्थ नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यान को आवृत करने वाले **प्रत्याख्यान** क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। 'सं' एकीभाव अर्थ में रहता है। संयम के साथ अवस्थान होने में एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भाव में संयम चमकता रहता है वे **संज्वलन** क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। ये सब मिलकर सोलह कषाय होते हैं।

मोहनीय के अनन्तर उद्देशभाक् आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों का विशेष ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

प्रश्न - बादरायण, वसु, जैमिनी आदि तो वेद विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं, वे अज्ञानी कैसे हो सकते हैं?

उत्तर - इनने प्राणी वध को धर्म माना है (परन्तु) प्राणी वध तो पाप का ही साधन हो सकता है, धर्म का नहीं। (इनकी यह मान्यता ही अज्ञान है।)

नारकतैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥१०॥

अन्वयार्थ : नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु हैं ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

नारक आदि गतियों में भव के सम्बन्ध से आयुकर्म का नामकरण किया जाता है। यथा - नरकों में होने वाली **नारक** आयु है, तिर्यग्योनि वालों में होने वाली **तिर्यग्योन** आयु है, मनुष्यों में होने वाली **मानुष** आयु है और देवों में होने वाली **देवायु** है। तीव्र शीत और उष्ण वेदना वाले नरकों में जिसके निमित्त से दीर्घ जीवन होता है वह नारक आयु है। इसी प्रकार शेष आयुओं में भी जानना चाहिए।

चार प्रकार के आयु का व्याख्यान किया। इसके अनन्तर जो नामकर्म कहा गया है उसकी उत्तर प्रकृतियों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्गनिर्माण-बंधन-संघात-संस्थान- संहनन-स्पर्श-रस-गंध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात- परघातातपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येक-शरीर-त्रस- सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय यशः कीर्ति- सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

अन्वयार्थ : गति, जाति, शरीर, अंगोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयशःकीर्ति और यशःकीर्ति एवं तीर्थकरत्व ये ब्यालीस नामकर्म के भेद हैं ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है वह **गति** है। वह चार प्रकार की है - नरकगति, तिर्यगगति, मनुष्यगति और देवगति। जिसका निमित्त पाकर आत्मा का नारक भाव होता है वह नरकगति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष गतियों में भी योजना करनी चाहिए।

उन नरकादि गतियों में जिस अव्यभिचारी सादृश्य से एकपने रूप अर्थ की प्राप्ति होती है वह **जाति** है। और इसका निमित्त जाति नामकर्म है। वह पाँच प्रकार का है - एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म, त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष जातियों में भी योजना करनी चाहिए।

जिसके उदयसे आत्मा के शरीर की रचना होती है वह **शरीर** नामकर्म है। वह पाँच प्रकार का है - औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म। इनका विशेष व्याख्यान पहले कर आये हैं।

जिसके उदय से अंगोपाङ्ग का भेद होता है वह **अंगोपाङ्ग** नामकर्म है। वह तीन प्रकार का है- औदारिक शरीर अंगोपाङ्ग नामकर्म, वैक्रियिक शरीर अंगोपाङ्ग नामकर्म और आहारक शरीर अंगोपाङ्ग नामकर्म।

जिसके निमित्त से परिनिष्पत्ति अर्थात् रचना होती है, वह **निर्माण** नामकर्म है। वह दो प्रकार का है- स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। वह जाति नामकर्म के उदय का अवलम्बन लेकर चक्षु आदि अवयवों के स्थान और प्रमाण की रचना करता है। निर्माण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'निर्मयतेऽनेनेति निर्माणम्', जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्माण कहलाता है।

शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए पुद्गलों का अन्योन्य प्रदेश संश्लेष जिसके निमित्तसे होता है वह **बन्धन** नामकर्म है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशों के अनुप्रवेश द्वारा एकरूपता आती है वह **संघात** नामकर्म है।

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है वह **संस्थान** नामकर्म है। वह छह प्रकार का है- समचतुरस्त्र संस्थान नामकर्म, त्र्यगोणपरिमण्डल संस्थान नामकर्म, स्वाति संस्थान नामकर्म, कुब्जकसंस्थान नामकर्म, वामनसंस्थान नामकर्म और हुण्डसंस्थान नामकर्म।

जिसके उदयसे अस्थियों का बंधन विशेष होता है वह **संहनन** नामकर्म है। वह छह प्रकार का है - वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म, वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, नाराचसंहनन नामकर्म, अर्धनाराचसंहनन नामकर्म, कीलिकासंहनन नामकर्म, और असम्प्रातासृपाटिकासंहनन नामकर्म।

जिसके उदय से स्पर्श की उत्पत्ति होती है वह **स्पर्श** नामकर्म है। वह आठ प्रकार का है- कर्कश नामकर्म, मृदु नामकर्म, गुरु नामकर्म, लघु नामकर्म, स्निग्ध नामकर्म, रुक्ष नामकर्म, शीत नामकर्म और उष्ण नामकर्म।

जिसके उदय से रस में भेद होता है वह **रस** नामकर्म है। वह पाँच प्रकार का है – तिक्त नामकर्म, कटु नामकर्म, कषाय नामकर्म, आम्ल नामकर्म, और मधुर नामकर्म।

जिसके उदय से गंध की उत्पत्ति होती है वह **गंध** नामकर्म है। वह दो प्रकार का है – सुरभिगन्ध नामकर्म और असुरभिगन्ध नामकर्म।

जिसके निमित्त से वर्ण में विभाग होता है वह **वर्ण** नामकर्म है। वह पाँच प्रकार का है--- कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रक्तवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और शुक्लवर्ण नामकर्म।

जिसके उदय से पूर्व शरीर के आकार का विनाश नहीं होता है वह **आनुपूर्व्य** नामकर्म है। वह चार प्रकार का है— नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म।

जिसके उदय से लोहे के पिण्ड के समान गुरु होने से न तो नीचे गिरता है और न अर्कतूल के समान लघु होने से ऊपर जाता है वह **अगुरुलघु** नामकर्म है। जिसके उदय से स्वयंकृत उद्बन्धन और मरुस्थल में गिरना आदि निमित्तक उपघात होता है वह **उपघात** नामकर्म है।

जिसके उदय से परशस्त्रादिक का निमित्त पाकर व्याघात होता है वह **परघात** नामकर्म है।

जिसके उदय से शरीर में आतप की रचना होती है वह **आतप** नामकर्म है। वह सूर्यबिम्ब में होता है।

जिसके निमित्त से शरीर में उद्योत होता है वह **उद्योत** नामकर्म है। वह चन्द्रबिम्ब और जुगून आदि में होता है।

जिसके निमित्त से उच्छ्वास होता है वह **उच्छ्वास** नामकर्म है।

विहायस् का अर्थ आकाश है। उसमें गति का निर्वर्तक कर्म **विहायोगति** नामकर्म है। प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार का है।

शरीर नामकर्म के उदय से रचा जानेवाला जो शरीर जिसके निमित्त से एक आत्मा के उपभोग का कारण होता है वह **प्रत्येकशरीर** नामकर्म है।

बहुत आत्माओं के उपभोग का हेतुरूप से साधारण शरीर जिसके निमित्तसे होता है वह **साधारणशरीर** नामकर्म है।

जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक में जन्म होता है वह **त्रस** नामकर्म है।

जिसके निमित्त से एकेन्द्रियों में उत्पत्ति होती है वह **स्थावर** नामकर्म है।

जिसके उदय से अन्यजन प्रीतिकर अवस्था होती है वह **सुभग** नामकर्म है।

जिसके उदय से रुपादि गुणों से युक्त होकर भी अप्रीतिकर अवस्था होती है वह **दुर्भग** नामकर्म है।

जिसके निमित्त से मनोज्ञ स्वर की रचना होती है वह **सुस्वर** नामकर्म है। इससे विपरीत **दुःस्वर** नामकर्म है।

जिसके उदय से रमणीय होता है वह **शुभ** नामकर्म है। इससे विपरीत **अशुभ** नामकर्म है।

सूक्ष्म शरीर का निर्वर्तक कर्म **सूक्ष्म** नामकर्म है। अन्य बाधाकर शरीर का निर्वर्तक कर्म **बादर** नामकर्म है।

जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तियों की रचना होती है वह **पर्याप्ति** नामकर्म है। वह छह प्रकार का है – आहारपर्याप्ति नामकर्म, शरीरपर्याप्ति नामकर्म, इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म, प्राणापानपर्याप्ति नामकर्म, भाषापर्याप्ति नामकर्म और मनःपर्याप्ति नामकर्म।

जो छह प्रकार की पर्याप्तियों के अभाव का हेतु है वह **अपर्याप्ति** नामकर्म है।

स्थिरभाव का निर्वर्तक कर्म **स्थिर** नामकर्म है। इससे विपरीत **अस्थिर** नामकर्म है।

प्रभायुक्तशरीर का कारण **आदेय** नामकर्म है। निष्प्रभ शरीर का कारण **अनादेय** नामकर्म है।

पुण्य गुणों की प्रसिद्धि का कारण **यशःकीर्ति** नामकर्म है। इससे विपरीत फलवाला **अयशःकीर्ति** नामकर्म है।

आर्हन्त्य का कारण **तीर्थकर** नामकर्म है।

नामकर्म के उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे। इसके बाद कहने योग्य गोत्रकर्म के प्रकृतिविकल्पों का व्याख्यान करते हैं -

राजवार्तिक :

प्रश्न – धर्म अधर्मादि अजीव द्रव्यों में अगुरुलघुपना कैसे घटित होता है?

उत्तर – अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुण के सम्बन्ध से उनमें उसकी सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न – मुक्त जीवों में (अगुरुलघु) कैसे घटित होता है, क्योंकि वहाँ तो नामकर्म का अभाव है।

उत्तर – अनादि कर्म नोकर्म के बन्धन से बद्ध जीवों में कर्मोदय कृत अगुरुलघु गुण होता है। उसके अत्यन्ताभाव हो जाने पर मुक्त जीवों के स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है।

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अन्वयार्थ : उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

गोत्रकर्म दो प्रकार का है - उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जिसके उदय से लोकपूजित कुलों में जन्म होता है वह उच्चगोत्र है।

जिसके उदय से गर्हित कुलों में जन्म होता है वह नीचगोत्र है।
आठवीं कर्मप्रकृति की उत्तर प्रकृतियों का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥१३॥

अन्वयार्थ : दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनके पाँच अन्तराय हैं ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ अन्तराय की अपेक्षा भेदनिर्देश किया है। यथा- दान का अन्तराय, लाभ का अन्तराय इत्यादि। इन्हें दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से यह संज्ञा मिली है। जिनके उदय से देने की इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ भी नहीं प्राप्त करता हैं, भोगने की इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग सकता है, उपभोग करने की इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं ले सकता है और उत्साहित होने की इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है इस प्रकार ये पाँच अन्तराय के भेद हैं।

प्रकृतिबन्ध के भेद कहे। इस समय स्थितिबन्ध के भेद कहने चाहिए। वह स्थिति दो प्रकार की है - उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति। उनमें जिन कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

आदितस्तिसृणा-मंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

अन्वयार्थ : आदि की तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चार की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

बीच में या अन्त में तीन का ग्रहण न होवे इसलिए सूत्र में 'आदितः' पद कहा है। अन्तरायकर्म का पाठ प्रारम्भ के तीन कर्मों के पाठ से व्यवहित है उसका ग्रहण करने के लिए, 'अन्तरायस्य' वचन दिया है। सागरोपम का परिमाण पहले कह आये हैं। कोटियों की कोटि कोटाकोटि कहलाती है। पर शब्द उत्कृष्ट वाची है। उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम होती हैं।

शंका - यह उत्कृष्ट स्थिति किसे होती है ?

समाधान - मिथ्यादृष्टि, संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक जीव को प्राप्त होती है। अन्य जीवों के आगम से देखकर ज्ञान कर लेना चाहिए।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

सप्तति-मोहनीयस्य ॥१५॥

अन्वयार्थ : मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है ॥१५॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में 'सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः' पद की अनुवृत्ति होती है। यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के जानना चाहिए। इतर जीवों के आगम के अनुसार ज्ञान कर लेना चाहिए।

नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

विंशतिर्नाम-गोत्रयोः ॥१६॥

अन्वयार्थ : नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' पद की अनुवृत्ति होती है। यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के जानना चाहिए। इतर जीवों के आगम के अनुसार जान लेना चाहिए। अब आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्या है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अन्वयार्थ : आयु की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में पुनः 'सागरोपम' पद का ग्रहण कोटाकोटी पद की निवृत्ति के लिए दिया है। यहाँ 'परा स्थितिः' पद की अनुवृत्ति होती है। यह भी पूर्वोक्त जीव के होती है। शेष जीवों के आगम से जान लेना चाहिए।

विशेषार्थ - यहाँ टीका में आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी मिथ्यादृष्टि कहा है। सो यह इस अभिप्राय से कहा है कि मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी नरकायु बन्ध के योग्य उत्कृष्ट संक्लेश परिणमों के होने पर नरकायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य गुणस्थानवाले के आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता। देवायु का तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सकल संयम के धारी सम्यग्दृष्टि के ही होता है। पर टीकाकार ने यहाँ उसके कहने की विवक्षा नहीं की।

उत्कृष्ट स्थिति कही। अब जघन्य स्थिति कहनी चाहिए। उसमें समान जघन्य स्थितिवाली पाँच प्रकृतियों को स्थगित करके थोड़े में कहने के अभिप्राय से तीन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का ज्ञान कराने के लिए दो सूत्र कहते हैं-

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अन्वयार्थ : वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

अपरा अर्थात् जघन्य। यह वेदनीय की बारह मुहूर्त है।

नाम-गोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अन्वयार्थ : नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ 'मुहूर्ता' पद की अनुवृत्ति होती है और 'अपरा स्थितिः' पद की भी। अब स्थगित की गयीं प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

अन्वयार्थ : बाकी के पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

शेष पाँच प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में, मोहनीय की जघन्य स्थिति अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थान में और आयु की जघन्य स्थिति संख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यचों और मनुष्यों में प्राप्त होती है।

दोनों प्रकारकी स्थिति कही। अब ज्ञानावरणादिक के अनुभव का क्या स्वरूप है इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं -

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

अन्वयार्थ : विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभव है ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

विशिष्ट या नाना प्रकार के पाकका नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायों के तीव्र, मन्द आदिरूप भावास्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावलक्षण निमित्तभेद से उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकार का पाक विपाक है। इसी को अनुभव कहते हैं। शुभ परिणामों के प्रकर्षभाव के कारण शुभ प्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभव होता है और अशुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभव होता है। तथा अशुभ परिणामों के प्रकर्षभाव के कारण अशुभ प्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभव होता है और शुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभव होता है। इस प्रकार कारणवश से प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है - स्वमुख और परमुख से। सब मूल प्रकृतियों का अनुभव स्वमुख से ही प्रवृत्त होता है। आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के सिवा तुल्यजातीय उत्तरप्रकृतियों का अनुभव परमुख से भी प्रवृत्त होता है। नरकायु के मुख से तिर्यचायु या मनुष्यायु का विपाक नहीं होता। और दर्शनमोह चारित्रमोहरूप से और चारित्रमोह दर्शनमोहरूप से विपाक को नहीं प्राप्त होता।

शंका – पहले संचित हुए नाना प्रकार के कर्मों का विपाक अनुभव है यह हम स्वीकार करते हैं किन्तु यह नहीं जानते कि क्या यह प्रसंख्यात होता है या अप्रसंख्यात होता है ?

समाधान – हम कहते हैं कि यह प्रसंख्यात अनुभव में आता है।

शंका – किस कारण से ?

समाधान – यतः -

स यथानाम् ॥२२॥

अन्वयार्थ : वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

ज्ञानावरण का फल ज्ञान का अभाव करना है। दर्शनावरण का भी फल दर्शनशक्ति का उपरोध करना है इत्यादि रूप से सब कर्मों की सार्थक संज्ञा का निर्देश किया है अतएव अपने अवान्तर भेदसहित उनमें किसका क्या अनुभव है इसका ज्ञान हो जाता है।

यदि विपाक का नाम अनुभव है ऐसा स्वीकार करते हो तो अनुभूत होने पर वह कर्म आभरण के समान अवस्थित रहता है या फल भोग लेने के बाद वह झर जाता है ? इस बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अन्वयार्थ : इसके बाद निर्जरा होती है ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिस प्रकार भात आदि का मल निवृत्त होकर निजीर्ण हो जाता है उसी प्रकार आत्मा को भला-बुरा फल देकर पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने से स्थिति न रहने के कारण कर्म की निवृत्ति का होना निर्जरा है। वह दो प्रकार की है - विपाकजा और अविपाकजा। उसमें अनेक जाति विशेषरूपी भँवर युक्त चार गतिरूपी संसार महासमुद्र में चिरकाल तक परिभ्रमण करने वाले इस जीव के क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलिरूपी सोते में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्म का फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। तथा आम और पनस को औपक्रमिक क्रियाविशेष के द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते हैं उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावलि के बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदीरणा द्वारा उदयावलि में प्रविष्ट कराके अनुभवा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। सूत्रमें 'च' शब्द अन्य निमित्त का समुच्चय करने के लिए दिया है। 'तपसा निर्जरा च' यह आगे कहेंगे, इसलिए 'च' शब्द के देने का यह प्रयोजन है कि पूर्वोक्त प्रकार से निर्जरा होती है और अन्य प्रकार से भी।

शंका – यहाँ निर्जरा का उल्लेख किसलिए किया है, क्यों कि उद्देश्य के अनुसार उसका संवर के बाद उल्लेख करना ठीक होता ?

समाधान – थोड़े में बोध कराने के लिए यहाँ निर्जरा का उल्लेख किया है। संवर के बाद पाठ देने पर 'विपाकोऽनुभवः' इसका फिरसे अनुवाद करना पड़ता।

अनुभवबन्ध का कथन किया। अब प्रदेशबन्ध का कथन करना है। उसका कथन करते समय इतनी बातें निर्देश करने योग्य हैं - प्रदेशबन्ध का हेतु क्या है, वह कब होता है, उसका निमित्त क्या है, उसका स्वभाव क्या है, वह किसमें होता है और उसका परिणामन क्या है। इस प्रकार क्रम से इन प्रश्नों को लक्ष्य में रखकर आगे का सूत्र कहते हैं -

नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योग-विशेषात्-सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२४॥

अन्वयार्थ : कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रतिसमय योगविशेष से सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशों में (सम्बन्ध को प्राप्त) होते हैं ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

नामप्रत्ययाः - नाम के कारणभूत कर्मपरमाणु नामप्रत्यय कहलाते हैं। 'नाम' इस पद द्वारा सब कर्मप्रकृतियाँ कही जाती हैं। जिसकी पुष्टि 'स यथानाम' इस सूत्रवचन से होती है। इस पद द्वारा हेतु का कथन किया गया है।
सर्वतः - प्रदेशबन्ध सब भवों में होता है। 'सर्वेषु भवेषु इति सर्वतः' यह इसकी व्युत्पत्ति है। सर्व शब्द से 'दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि' इस सूत्र द्वारा तसि प्रत्यय करने पर सर्वतः पद बनता है। इस पद द्वारा काल का ग्रहण किया गया है। एक-एक जीव के व्यतीत हुए अनन्तानन्त भव होते हैं और आगामी संख्यात, असंख्यात व अनन्तानन्त भव होते हैं।
योगविशेषात् - योगविशेषरूप निमित्त से कर्मरूप पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं। इस पद द्वारा निमित्तविशेष का निर्देश किया गया है। कर्मरूप से ग्रहण योग्य पुद्गलों का स्वभाव दिखलाने के लिए सूक्ष्म आदि पद का ग्रहण किया है। ग्रहणयोग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते। क्षेत्रान्तर का निराकरण करने के लिए 'एकक्षेत्रावगाह' वचन दिया है। क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए 'स्थिताः' वचन दिया है। ग्रहणयोग्य पुद्गल स्थित होते हैं गमन करते हुए नहीं। आधारनिर्देश करने के लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' वचन दिया है। एक प्रदेश आदि में कर्मप्रदेश नहीं रहते। फिर कहाँ रहते हैं ? ऊपर, नीचे, तिरछे सब आत्मप्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित होते हैं। दूसरे परिमाण का वारण करने के लिए अनन्तानन्तप्रदेश वचन दिया है। ये न संख्यात होते हैं, न असंख्यात होते हैं और न अनन्त होते हैं। अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण संख्यावाले, घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र की अवगाहनावाले, एक, दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात समय की स्थितिवाले तथा पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाले वे आठ प्रकार की कर्मप्रकृतियों के योग्य कर्मस्कन्ध योगविशेष से आत्माद्वारा आत्मसात् किये जाते हैं। इस प्रकार संक्षेप में प्रदेशबन्ध जानना चाहिए।
बन्ध पदार्थ के अनन्तर पुण्य और पाप की गणना की है और उसका बन्ध में अन्तर्भाव किया है, इसलिए यहाँ यह बतलाना चाहिए कि पुण्यबन्ध क्या है और पापबन्ध क्या है। उसमें सर्वप्रथम पुण्य प्रकृतियों की परिगणना करने के लिए यह सूत्र आरम्भ करते हैं -

सद्वेद्यशुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

अन्वयार्थ : साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

शुभ का अर्थ प्रशस्त है। यह आगे के प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है। यथा - शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र। शुभ आयु तीन है - तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु। शुभ नाम के सैंतीस भेद हैं। यथा - मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध और प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये दो, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थकर। एक उच्च गोत्र शुभ है और सातावेदनीय ये बयालीस प्रकृतियाँ पुण्यसंज्ञक हैं।

अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

अन्वयार्थ : इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पापरूप हैं ॥२६॥

इस पुण्यसंज्ञावाले कर्मप्रकृतिसमूह से जो भिन्न कर्मसमूह है वह पापरूप कहा जाता है। वह बयासी प्रकार का है। यथा – ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ, मोहनीय की छब्बीस प्रकृतियाँ, अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ, नरकगति, तिर्यचगति, चार जाति, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गन्ध और अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी ये दो, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशः-कीर्ति ये नामकर्म की चौतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस प्रकार विस्तार के साथ बन्ध पदार्थ का व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगम से अनुमेय है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिसंज्ञक तत्त्वार्थवृत्ति में आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

अथ नवमोऽध्यायः

अधिकार-९ (संवर- निर्जराधिकार)

आस्रव-निरोधः संवरः ॥१॥

अन्वयार्थ : आस्रव का निरोध संवर है ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

नूतन कर्म के ग्रहण में हेतु रूप आस्रव का व्याख्यान किया। उसका निरोध होना संवर है। वह दो प्रकार का है – भाव संवर और द्रव्य संवर। संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना **भावसंवर** है और इसका (संसार की निमित्तभूत क्रिया का) निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना **द्रव्यसंवर** है।

अब जिस कर्म का आस्रव होता है उसका मिथ्यादर्शन के अभाव में शेष रहे सासादन सम्यग्दृष्टि आदि में संवर होता है। वह कर्म कौन है ? मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर यह सोलह प्रकृतिरूप कर्म हैं।

असंयमके तीन भेद हैं - अनन्तानुबन्धी का उदय, अप्रत्याख्यानावरण का उदय और प्रत्याख्यानावरण का उदय। इसलिए इसके निमित्त से जिस कर्म का आस्रव होता है उसका इसके अभाव में संवर जानना चाहिए। यथा – अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, स्त्रीवेद, तिर्याचायु, तिर्यचगति, मध्यके चार संस्थान, मध्यके चार संहनन, तिर्यचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों का एकेन्द्रिय से लेकर सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाले असंयम के अभावमें आगे इनका संवर होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ; मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम का अभाव होने पर आगे इनका संवर होता है। सम्यग्मिथ्यात्व गुण के होने पर आयुर्कर्म का बन्ध नहीं होता यहाँ इतनी विशेष बात है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय से होने वाले असंयम से आस्रव को प्राप्त होने वाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार

प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं, अतः प्रत्याख्यानवरण कषायके उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाले कर्म का उसके अभाव में संवर होता है। जो कर्म प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होता है उसका प्रमत्तसंयत गुणस्थान के आगे प्रमाद न रहने के कारण संवर जानना चाहिए। वह कर्म कौन है ? असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिरूप प्रकृतियों के भेद से वह कर्म छह प्रकार का है। देवायु के बन्ध का आरम्भ प्रमाद हेतुक भी होता है और उसके नजदीक का अप्रमाद हेतुक भी, अतः इसका अभाव होने पर आगे उसका संवर जानना चाहिए। जिस कर्म का मात्र कषाय के निमित्त से आस्रव होता है प्रमादादिक के निमित्त से नहीं उसका कषाय का अभाव होने पर संवर जानना चाहिए। प्रमादादिक के अभाव में होने वाला वह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्यरूप से तीन गुणस्थानों में अवस्थित है। उनमें से अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारम्भिक संख्येय भाग में निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं। इससे आगे संख्येय भाग में देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर ये तीस प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं। तथा इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं। ये तीव्र कषाय से आस्रव को प्राप्त होने वाले प्रकृतियाँ हैं, इसलिए तीव्र कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने से विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। अनिवृत्ति बादर साम्पराय के प्रथम समय से लेकर उसके संख्यात भागों में पुंवेद और क्रोध संज्वलन का बन्ध होता है। इससे आगे शेष रहे संख्यात भागों में मान संज्वलन और माया संज्वलन ये दो प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं और उसी के अन्तिम समय में लोभ संज्वलन बन्ध को प्राप्त होती है। इन प्रकृतियोंका मध्यम कषाय के निमित्त से आस्रव होता है, अतएव मध्यम कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने पर विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। मन्द कषाय के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाले पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का सूक्ष्मसाम्पराय जीव बन्ध करता है, अतः मन्द कषाय का अभाव होने से आगे इनका संवर होता है। केवल योग के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली साता वेदनीय का उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली जीवों के बन्ध होता है। योग का अभाव हो जाने से अयोगकेवली के उसका संवर होता है।

संवर का कथन किया। अब उसके हेतुओं का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ॥२॥

अन्वयार्थ : वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से होता है ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह **गुप्ति** है। प्राणिपीड़ा का परिहार करने के लिए भले प्रकार आना-जाना, उठाना-धरना, ग्रहण करना व मोचन करना **समिति** है। जो इष्ट स्थान में धरता है वह **धर्म** है। शरीरादिक के स्वभाव का बार बार चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है। क्षुधादि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परिषह है और परिषह का जीतना **परिषहजय** है। **चारित्र** शब्द का प्रथम सूत्र में व्याख्यान कर आये हैं। ये गुप्ति आदिक संवररूप क्रिया के अत्यंत सहकारी हैं, अतएव सूत्र में इनका करण रूप से निर्देश किया है। संवर का अधिकार है तथापि गुप्ति आदिक के साथ साक्षात् सम्बन्ध दिखलाने के लिए इस सूत्र में उसका 'सः' इस पद के द्वारा निर्देश किया है।

शंका – इसका क्या प्रयोजन है ?

समाधान – अवधारण करना इसका प्रयोजन है। यथा – वह संवर गुप्ति आदिक द्वारा ही हो सकता है, अन्य उपायसे नहीं हो सकता। इस कथन से तीर्थ यात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना, उपहार स्वरूप सिर को अर्पण करना और देवता की आराधना करना आदि का निराकरण हो जाता है, क्योंकि राग, द्वेष और मोह के निमित्त से ग्रहण किये गये कर्म का अन्यथा अभाव नहीं किया जा सकता।

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अन्वयार्थ : तप से निर्जरा होती है और संवर भी होता है ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

तप का धर्म में अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है यह

बतलाने के लिए उसका अलग से कथन किया है।

शंका – तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति के हेतुरूप से स्वीकार किया गया है, इसलिए वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनों का हेतु है ऐसा होने में क्या विरोध है।

गुप्ति का संवर के हेतुओं के प्रारम्भ में निर्देश किया है, अतः उसके स्वरूप का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं

राजवार्तिक :

नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत; न; आभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यग्रहसितवत्।४। ... लेश्यादीनामपिव्ययोदयाभावात्त्रित्यत्वे सति नरकादप्रच्यवः स्यादिति। तन्न; किं कारणम् । ... अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्दः प्रयुक्तः। ... एतेषां नारकाणां स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ताः, भावलेश्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहर्तपरिवर्तिन्यः।

प्रश्न – लेश्या आदि को उदय का अभाव न होने से, अर्थात् नित्य होने से नरक से अच्युतिका तथा लेश्या की अनिवृत्ति का प्रसंग आ जावेगा।

उत्तर – ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ नित्य शब्द बहुधा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे - देवदत्त नित्य हँसता है, अर्थात् निमित्त मिलने पर देवदत्त जरूर हँसता है, उसी तरह नारकी भी कर्मोदय से निमित्त मिलने पर अवश्य ही अशुभतर लेश्या वाले होते हैं, यहाँ नित्य शब्द का अर्थ शाश्वत व कूटस्थ नहीं है। ... नारकियों में अपनी आयु के प्रमाण काल पर्यन्त (कृष्णादि तीन) द्रव्यलेश्या कही गयी है। भाव लेश्या तो छहों होती हैं और वे अन्तर्मुहर्त में बदलती रहती हैं।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अन्वयार्थ : योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्र में योग का व्याख्यान कर आये हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का बन्द होना निग्रह है। विषय-सुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त संक्लेश को नहीं उत्पन्न होने देने रूप योग निग्रह से कायादि योगों का निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म आस्रव नहीं होता है, इसलिए संवर की प्रसिद्धि जान लेना चाहिए। वह गुप्ति तीन प्रकार की है - कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति।

अब गुप्ति के पालन करने में अशक्त मुनि के निर्दोष प्रवृत्ति की प्रसिद्धि के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

ईर्याभाषैषणा-दाननिक्षेपोत्सर्गः समितयः ॥५॥

अन्वयार्थ : ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ 'सम्यक्' इस पद की अनुवृत्ति होती है। उससे ईर्यादिक विशेष्यपने को प्राप्त होते हैं - सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यतगुत्सर्ग। इस प्रकार कही गयी ये पाँच समितियाँ जीवस्थानादि विधि को जानने वाले मुनि के प्राणियों की पीड़ा को दूर करने के उपाय जानने चाहिए। इस प्रकार से प्रवृत्ति करने वाले के असंयमरूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका संवर होता है।

तीसरा संवर का हेतु धर्म है। उसके भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयमतपस्त्यागा-किञ्चन्य- ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

अन्वयार्थ : उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म है ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – यह किसलिए कहा है ?

समाधान – संवर का प्रथम कारण प्रवृत्ति का निग्रह करने के लिए कहा है। जो वैसा करनेमें असमर्थ है उन्हें प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिए दूसरा कारण कहा है। किन्तु यह दश प्रकार के धर्म का कथन समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद का परिहार करने के लिये कहा है।

शरीर की स्थिति के कारण की खोज करने के लिए पर कुलों में जाते हुए भिक्षु को दुष्टा जन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते पीटते हैं और शरीरको तोड़ते-मरोड़ते हैं तो भी उनके कलुषता का उत्पन्न न होना **क्षमा** है।

जाति आदि मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना **मार्दव** है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

योगों का वक्र न होना **आर्जव** है।

प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना **शौच** है।

अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना **सत्य** है।

शंका – इसका भाषासमिति में अन्तर्भाव होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्यों कि समिति के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकारके मनुष्यों में भाषा व्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होने से अनर्थदण्ड का दोष लगता है यह वचनसमिति का अभिप्राय है। किन्तु सत्य धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि सज्जन पुरुष, दीक्षित या उनके भक्तों में साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान चारित्र के शिक्षण आदि के निमित्त से बहुविध कर्तव्यों की सूचना देता है और यह सब धर्म की अभिवृद्धि के अभिप्राय से करता है, इसलिए सत्य धर्म का भाषासमिति में अन्तर्भाव नहीं होता।

समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के उनका परिपालन करने के लिए जो प्राणियों का और इन्द्रियों का परिहार होता है वह **संयम** है।

कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह **तप** है। वह आगे कहा जानेवाला बारह प्रकारका जानना चाहिए।

संयत के योग्य ज्ञानादि का दान करना **त्याग** है।

जो शरीरादिक उपात्त हैं उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आर्किचन्य है। जिसका कुछ नहीं है वह अर्किचन है और उसका भाव या कर्म **आर्किचन्य** है।

अनुभूत स्त्री का स्मरण न करनेसे, स्त्री-विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से सटकर सोने व बैठनेका त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना **ब्रह्मचर्य** है। दिखाई देनेवाले प्रयोजन का निषेध करने के लिए क्षमादि के पहले उत्तम विशेषण दिया है। इस प्रकार जीवन में उतारे गये और स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषोंके सन्द्भाव में यह लाभ और यह हानि है इस तरह की भावना से प्राप्त हुए ये धर्मसंज्ञा वाले उत्तम क्षमादिक संवर के कारण होते हैं।

क्षमादि विशेष और उनके उलटे कारणों का अवलम्बन आदि करने से क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती है यह पहले कह आये हैं। उसमें किस कारणसे यह जीव क्षमादिक का अवलम्बन लेता है, अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करता है इसका कथन करते हैं। यतः तपाये हुए लोहे के गोले के समान क्षमादिरूप से परिणत हुए आत्महहितैषी को करने योग्य ---

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्य-त्वाशुच्यास्रवसंवर-निर्जरा-लोक- बोधिदुर्लभ-धर्म-स्वाख्यातत्त्वानु-चिन्तन-मनुप्रेक्षा: ॥७॥

अन्वयार्थ : अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

ये समुदाय रूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई पदार्थ ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस भव्य के उन शरीरादि में आसक्ति का अभाव होने से भोगकर छोड़े हुए गन्ध और माला आदि के समान वियोग काल में भी सन्ताप नहीं होता है।

जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और मांस के लोभी बलवान व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृग शावक के लिए कुछ भी शरण नहीं होता इसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दुःखों के मध्य में परिभ्रमण करने वाले जीव का कुछ भी शरण नहीं है।

परिपुष्ट हुआ शरीर ही भोजन के प्रति सहायक है, दुःखों के प्राप्त होने पर नहीं। यत्न से संचित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दुःख को समानरूप से बाँट लिया है ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दुःखरूपी महासमुद्र में तरने का उपाय हो सकता है। मृत्यु से ले जाने वाले इस जीव के सहस्रनयन आदि भी शरण नहीं हैं, इसलिए संसार विपत्तिरूप स्थान में धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नहीं है इस प्रकारकी भावना करना **अशरणानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार विचार करने वाले इस जीव के 'मैं सदा अशरण हूँ' इस तरह अतिशय उद्विग्न होने के कारण संसार के कारणभूत पदार्थों में ममता नहीं रहती और वह भगवान् अरहंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में ही प्रयत्नशील होता है।

कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। उसका पहले पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप से व्याख्यान कर आये हैं। अनेक योनि और कुल कोटिलाख से व्याप्त इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्र से प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना रूप धारण करता है उस प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए संसार के दुःख के भय से उद्विग्न हुए इसके संसार से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसार का नाश करने के लिए प्रयत्न करता है।

'जन्म, जरा और मरण की आवृत्तिरूप महादुःख का अनुभवन करने के लिए अकेला मैं ही हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखों को दूर नहीं करता। बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला सदाकाल सहायक है।' इस प्रकार चिन्तन करना **एकत्वानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए निःसंगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है।

शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना **अन्यत्वानुप्रेक्षा** है - यथा बन्ध के प्रति अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं' अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रियिक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य? इस प्रकार मनको समाधान युक्त करने वाले शरीरादिक में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्य का प्रकर्ष होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों का योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है। त्वचामात्र से आच्छादित है। अति दुर्गन्धा रस को बहाने वाला झरना है। अंगार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थ को भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, धूपका मालिश और सुगन्धिमाला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर कर सकना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीव की आत्यन्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविकरूप से चिन्तन करना **अशुचि अनुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसके शरीर से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधि को तरने के लिए चिन्तन को लगाता है।

आस्रव, संवर और निर्जरा का कथन पहले कर आये हैं तथापि उनके गुण और दोषों का विचार करनेके लिए यहाँ उनका फिरसे उपन्यास किया गया है। यथा - आस्रव इस लोक और परलोक में दुःखदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप हैं। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वनगज, कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदि को दुःखरूप समुद्र में अवगाहन कराती हैं। कषाय आदिक भी इस लोक में वध, बन्धी अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते हैं, तथा परलोक में नाना प्रकार के दुःख से प्रज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तन करना **आस्रवानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के क्षमादिक में कल्याणरूप बुद्धि का त्याग नहीं होता है, तथा कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रव के दोष नहीं होते हैं।

जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढँके रहने पर निरुपद्रवरूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढँके रहने पर निरुपद्रवरूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढँके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना **संवरानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के संवर में निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

वेदना विपाक का नाम निर्जरा है यह पहले कह आये हैं। वह दो प्रकारके है - अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है। तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोष का चिन्तन करना **निर्जरानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसकी कर्मनिर्जरा के लिए प्रवृत्ति होती है।

लोकसंस्थान आदि की विधि पहले कह आये हैं। अर्थात् चारों ओर से अनन्तर अलोकाकाश के बहुमध्य देश में स्थित लोक के संस्थान आदि की विधि पहले कह आये हैं। उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना **लोकानुप्रेक्षा** है। इस प्रकार विचार करने वाले इसके तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनंतगुणे जीव हैं । इस प्रकार स्थावर जीवों से सब लोक निरन्तर भरा हुआ है । अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ होता है । उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता गुण का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना दुर्लभ है । उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यचों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार चौपथ पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अति कठिन है । और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप से उत्पन्न होना कठिन होता है । कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है । इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्मकी प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्म प्राप्त होना व्यर्थ है । इस प्रकार अतिकठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषयसुख में रमण होना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है । कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है । इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा** है । इस प्रकार विचार करने वाले इस जीव के बोधि को प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं होता ।

जिनेन्द्रदेव ने यह जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है । इसकी प्राप्ति नहीं होनेसे दुष्कर्म विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हैं । परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकारके अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना **धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा** है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के धर्मानुरागवश उसकी प्राप्ति के लिए सदा यत्न होता है ।

इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं का सान्निध्य मिलने पर उत्तमक्षमादि के धारण करने से महान संवर होता है । अनुप्रेक्षा दोनों का निमित्त है इसलिए 'अनुप्रेक्षा' वचन मध्य में दिया है । अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादि का ठीक तरह से पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है ।

वे परीषह कौन-कौन हैं और वे किसलिए सहन किये जाते हैं, यह बतलाने के लिए यह सूत्र कहते हैं -

राजवार्तिक :

मिथ्यादर्शन के उदय से उत्पन्न होनेवाला अज्ञान तीन प्रकार का है।

उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारः तद्विपरीतोऽनाहारः । तत्राहारः शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदयाभावाच्च भवति ।

अनाहारः शरीरनामत्रयोदयाभावत् विग्रहगतिनामोदयाच्च भवति ।

= उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका आहार है। उससे विपरीत अनाहार है। शरीर नामकर्मके उदय और विग्रहगति नामकर्मके उदयाभावसे आहार होता है। शरीर नामकर्मके उदयाभाव और विग्रहगति नामकर्मके उदयसे अनाहार होता है।

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थ परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अन्वयार्थ : मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

संवर का प्रकरण होने से वह मार्ग का विशेषण है, इसलिए सूत्र में आये हुए 'मार्ग' पद से संवर मार्ग का ग्रहण करना चाहिए। उससे च्युत न होने के लिए और निर्जरा के लिए सहन करने योग्य परीषह होते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि को सहन करने वाले, जिनदेव के द्वारा कहे हुए मार्ग से नहीं च्युत होने वाले, मार्ग के सतत अभ्यासरूप परिचय के द्वारा कर्मागम द्वार को संवृत करने वाले तथा औपक्रमिक कर्मफल को अनुभव करने वाले क्रम से कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

अब उन परीषहों के स्वरूप और संख्या का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

**क्षुत्पिपासा-शीतोष्णदंश-मशक-नाग्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-
शय्याक्रोशवधयाचनालाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-**

सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥

अन्वयार्थ : क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नाम वाले परीषह हैं ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

क्षुधादिक वेदना विशेष बाईस हैं। मोक्षार्थी पुरुष को इनको सहन करना चाहिए। यथा –

जो भिक्षु निर्दोष आहार का शोध करता है, जो भिक्षा के नहीं मिलने पर या अल्प मात्रा में मिलने पर क्षुधावेदना को नहीं प्राप्त होता, अकाल में या अदेश में जिसे भिक्षा लेने की इच्छा नहीं होती, आवश्यकों की हानि को जो थोड़ा भी सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यानभावना में तत्पर रहता है, जिसने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहार को लेता है, अत्यन्त गरम भांड में गिरी हुई जल की कतिपय बूंदों के समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधावेदना की उदीरणा होने पर भी जो भिक्षा लाभ की अपेक्षा उसके अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है उसका क्षुधाजन्य बाधा का चिन्तन नहीं करना **क्षुधापरीषहजय** है।

जिसने जल से स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करने का त्याग कर दिया है, जिसका पक्षी के समान आसन और आवास नियत नहीं है, जो अति खारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष प्रकृति विरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्त ज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों को मथने वाली पिपासा का प्रतीकार करने में आदर भाव नहीं रखता और जो पिपासारूप अग्निशिखा को सन्तोष रूपी नूतन मिट्टी के घड़े में भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधिरूपी जल से शान्त कर रहा है उसके **पिपासाजय** प्रशंसा के योग्य है।

जिसने आवरण का त्याग कर दिया है, पक्षी के समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ के गिरने पर और शीतल हवा का झोंका आने पर उसका प्रतीकार करने की इच्छा से जो निवृत्ति है, पहले अनुभव किये गये शीत के प्रतीकार के हेतुभूत वस्तुओं का जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञानभावनारूपी गर्भागार में निवास करता है उसके **शीतवेदनाजय** प्रशंसा के योग्य है।

निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्म कालीन सूर्य की किरणों से सूख कर पत्तों के गिर जाने से छाया रहित वृक्षों से युक्त ऐसे वन के मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि आभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकार के बहुत-से अनुभूत हेतुओं को जानता हुआ भी उनका चिन्तन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियों की पीडा के परिहार में चित्त लगा हुआ है उस साधु के चारित्र के रक्षणरूप **उष्णपरीषहजय** कही जाती है।

सूत्र में 'दंशमशक' पद का ग्रहण उपलक्षण है। जैसे 'कौओं से घी की रक्षा करनी चाहिये' यहाँ 'काक' पद का ग्रहण उपघात जितने जीव हैं उनका उपलक्षण है, इसलिये 'दंशमशक' पद से दंशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छु आदि का ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गयी बाधा को बिना प्रतीकार किये सहन करता है, मन वचन और काय से उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता है और निर्वाण की प्राप्तिमात्र संकल्प ही जिसका ओढ़ना है उसके उनकी वेदना को सह लेना **दंशमशक परीषहजय** कहा जाता है।

बालक के स्वरूप के समान जो निष्कलंक जातरूप को धारण करने रूप है, जिसका याचना करने से प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषों से रहित है, जो निष्परिग्रहरूप होने से निर्वाण प्राप्ति का एक-अनन्य साधन है और जो दिन-रात अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करता है उसके **निर्दोष अचेलव्रत** धारण जानना चाहिये।

जो संयत इन्द्रियों के इष्ट विषय सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक है, जो गीत, नृत्य और वादित्र आदि से रहित शून्यघर, देवकुल, तरूकोटर और शिलागुफा आदि में स्वाध्याय, ध्यान और भावना में लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषयभोग के स्मरण, विषयभोग सम्बन्धी कथा के श्रवण और कामशर प्रवेश के लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियों के ऊपर सदाकाल सदय है उसके **अरतिपरीषहजय** जानना चाहिये।

एकान्त ऐसे बगीचा और भवन आदि स्थानों नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापान से प्रमत्त हुई स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुए के समान जिसने इन्द्रिय और हृदय के विकार को रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरों से देखना, हँसना, मदभरी धीमी चाल से चलना, और कामबाण मारना आदि को विफल कर दिया है उसके **स्त्रीबाधा परीषहजय** जानना चाहिये।

जिसने दीर्घकाल तक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य को धारण किया है, जिसने बन्ध-मोक्ष पदार्थों के स्वरूप को जान लिया है, संयम के आयतन शरीर को भोजन देने के लिए जो देशान्तर का अतिथि बना है, गुरु के द्वारा जिसे स्वीकृति मिली है, जो वायु के समान निःसंगता को स्वीकार करता है, बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग आदि जन्य बाधा के कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और काल के प्रमाण से रहित तथा संयम विरोधी मार्ग गमन का जिसने परिहार कर दिया है, जिसने खड़ाऊँ आदि का त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण कंकड़ और काँटे आदि के बिंधने से चरणों में खेद के उत्पन्न होने पर भी पहले योग्य यान और वाहन आदि से गमन करने का जो स्मरण नहीं करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकों का परिपूर्ण परिपालन करता है उसके **चर्यापरीषहजय** जानना चाहिए।

जिनमें पहले रहने का अभ्यास नहीं किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्य घर गिरिगुफा और गह्वर आदि में जो निवास करता है, आदित्य के प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञान से परीक्षित प्रदेश में जिसने नियम क्रिया की है, जो नियतकाल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्याघ्र आदि की नानाप्रकार की भीषण ध्वनि के सुनने से जिसे किसी प्रकार का भय नहीं होता, चार

प्रकार के उपसर्ग के सहन करने से जो मोक्षमार्ग से च्युत नहीं हुआ है तथा वीरासन और उत्कटिका आदि आसन के लगाने से जिसका शरीर चलायमान नहीं हुआ है उसके निषद्याकृत बाधा का सहन करना **निषद्यापरीषहजय** निश्चित होता है। स्वाध्याय, ध्यान और अध्वश्रम के कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुर मात्रा में कंकड़ और खपरो के टुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशों में एक मुहूर्त प्रमाण निद्रा का अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्व भाग से या दण्डायित आदि रूप से शयन करता है, करवट लेने से प्राणियों को होने वाली बाधा का निवारण करने के लिए जो गिरे हुए लकड़ी के कुन्दे के समान या मुर्दा के समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञानभावना में लगा हुआ है, व्यंतरादि के द्वारा किये गये नाना प्रकार के उपसर्गों से भी जिसका शरीर चलायमान नहीं होता और जो अनियतकालिक तत्कृत बाधा को सहन करता है उसके **शय्यापरीषहजय** कहा जाता है।

मिथ्यादर्शन के उद्रेक से कहे गये जो क्रोधाग्नि की शिखा को बढ़ाते हैं ऐसे क्रोधरूप, कठोर, अवज्ञाकर, निन्दा रूप और असभ्य वचनों को सुनते हुए भी जिसका उनके विषय में चित्त नहीं जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतीकार करने में समर्थ है फिर भी यह सब पापकर्म का विपाक है इस तरह जो चिन्तन करता है, जो उन शब्दों को सुनकर तपश्चरण की भावना में तत्पर रहता है और जो कषायविष के लेशमात्र को भी अपने हृदयमें अवकाश नहीं देता उसके **आक्रोशपरीषहसहन** निश्चित होता है।

तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रों के द्वारा ताड़न और पीड़न आदि से जिसका शरीर तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है तथापि मारने वालों पर जो लेशमात्र भी मन में विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्म का फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जल के बुलबुले के समान विशरण-स्वभाव है, दुःख के कारण को ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह बसूला से छीलने और चन्दन से लेप करने में समदर्शी होता है, इसलिये उसके **वधपरीषहजय** माना जाता है।

जो बाह्य और आभ्यन्तर तप के अनुष्ठान करने में तत्पर है, जिसने तप की भावना के कारण अपने शरीर को सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्य के ताप के कारण सार व छाया रहित वृक्ष के समान त्वचा, अस्थि और शिराजाल मात्र से युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणी का वियोग होने पर भी आहार, वसति और दवाई आदि की दीन शब्द कहकर, मुख की विवर्णता दिखाकर व संज्ञा आदि के द्वारा याचना नहीं करता तथा भिक्षा के समय भी जिसकी मूर्ति बिजली की चमक के समान दुरूपलक्ष्य रहती है ऐसे साधु के **याचना परीषहजय** जानना चाहिये।

वायु के समान निःसंग होने से जो अनेक देशोंमें विचरण करता है, जिसने दिन में एक काल के भोजन को स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषासमिति का पालन करता है, एक बार अपने शरीर को दिखलाना मात्र जिसका सिद्धान्त, है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, बहुत दिन तक या बहुत घरों में भिक्षा के नहीं प्राप्त होने पर भी जिसका चित्त संक्लेश से रहित है, दाताविशेष की परीक्षा करने में जो निरुत्सुक है तथा लाभ से भी अलाभ मेरे लिए परम तप है इस प्रकार जो सन्तुल्य है उसके **अलाभ परीषहजय** जानना चाहिये।

यह सब प्रकार के अशुचि पदार्थों का आश्रय है, यह अनित्य है और परित्राण से रहित है इस प्रकार इस शरीर में संकल्प रहित होने से जो विगतसंस्कार हैं, गुणरूपी रत्नों के पात्र के संचय, वर्धन, संरक्षण और संधारण का कारण होने से जिसने शरीर की स्थितिविधान को भले प्रकार स्वीकार किया है, धुर को आँगन लगाने के समान या व्रण पर लेप करने के समान जो बहुत उपकार वाले आहार को स्वीकार करता है, विरूद्ध आहार-पान के सेवनरूप विषमता से जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर भी जो उनके आधीन नहीं हुआ है तथा तपोविशेष से जल्लौषधि की प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियों का सम्बन्ध होने पर भी शरीर से निस्पृह होने के कारण जो उनके प्रतीकार की अपेक्षा नहीं करता उसके **रोगपरीषहसहन** जानना चाहिये।

जो कोई विंधेनरूप दुःख का कारण है उसका 'तृण' पद का ग्रहण उपलक्षण है। इसलिये सूखा तिनका, कठोर कंकड़, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदि के विंधेन से पैरों में वेदना के होने पर उसमें जिसका चित्त उष्युक्त नहीं है तथा चर्या, शय्या और निषद्या में प्राणिपीडा का परिहार करने के लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमादरहित है उसके **तृणस्पर्शादि बाधापरीषहजय** जानना चाहिये।

अपकायिक जीवों की पीडाका परिहार करने के लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्य की किरणों के ताप से उत्पन्न हुए पसीना में जिसके पवन के द्वारा लाया गया धूलिसंचय चिपक गया है, सिध्म, खाज और दाद के होने से खुजली के होने पर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थ से घिसनेरूप क्रिया से रहित है, स्वगत मल का उपचय और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जल के प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंक को दूर करने के लिए निरन्तर उद्यतमति है उसके **मलपीडासन** कहा गया है।

सत्कार का अर्थ पूजा-प्रशंसा है। तथा क्रिया-आरम्भ आदिक में आगे करना या आमन्त्रण देना पुरस्कार है। इस विषय में यह मेरा अनादर करता है। चिरकाल से मैंने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, मैं महातपस्वी हूँ, स्वसमय और परसमय का निर्णयज्ञ हूँ, मैंने बहुत बार परवादियों को जीता है तो भी कोई मुझे प्रणाम और भक्ति नहीं करता और उत्साह से आसन नहीं देता, मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्तिवाले होते हैं, कुछ नहीं जाननेवाले को भी सर्वज्ञ समझ कर आदर सत्कार करके अपने समय की प्रभावना करते हैं, व्यन्तरादिक पहले अत्यन्त, उग्र तप करने वालों की प्रत्यग्र पूजा रचते थे यह यदि मिथ्या श्रुति नहीं है तो इस समय वे हमारे समान तपस्वियों की क्यों नहीं करते हैं इस प्रकार खोटे अभिप्राय से जिसका चित्त रहित है उसके **सत्कार पुरस्कारपरीषहजय** जानना चाहिये।

मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के उद्योत के समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते हैं इस प्रकार विज्ञानमद

का निरास होना **प्रज्ञापरीषहजय** जानना चाहिये।

यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता है, पशु के समान है इत्यादि तिरस्कार के वचनों को मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तप का अनुष्ठान किया है, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञान का अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ है इस प्रकार विचार नहीं करने वाले के **अज्ञानपरीषजय** जानना चाहिये।

परम वैराग्य की भावना से मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थों के रहस्य को जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन, साधु और धर्म का उपासक हूँ, चिरकाल से मैं प्रव्रजित हूँ तो भी मेरे अभी ज्ञानातिशय नहीं उत्पन्न हुआ है। महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वालों के प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए यह प्रलापमात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतों का पालन करना निरर्थक है इत्यादि बातों का दर्शनविशुद्धि के योग से मन में नहीं विचार करने वाले के **अदर्शनपरीषहसहन** जानना चाहिये।

इस प्रकार जो संकल्प के बिना उपस्थित हुए परीषहों को सहन करता है और जिसका चित्त संक्लेश रहित है उसके रागादि परिणामों के आस्रव का निरोध होने से महान संवर होता है।

संसाररूपी महाअटवी को उल्लंघन करने के लिए उद्यत हुए पुरुषों को क्या ये सब परीषह प्राप्त होती हैं या कोई विशेषता है इसलिये यहाँ कहते हैं- जिनके लक्षण कह आये हैं ऐसे ये क्षुधादिक परीषह अलग-अलग चारित्र के प्रति विकल्प से होते हैं। उसमें भी इन दोनों में नियम से जानने योग्य-

राजवार्तिक :

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, त्रणस्पर्श, मल, सत्कार - पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह हैं ॥९॥

क्षुधादि बाईस परीषह होती हैं। बाह्य और अभ्यन्तर द्रव्यों के परिणामन रूप शारीरिक और मानसिक पीड़ा को कारणभूत क्षुधादि बाईस परीषह हैं। मोक्षप्राप्ति के इच्छुक विद्वान् संयतों को इन परीषहों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसे -

प्रकृष्ट क्षुधारूपी अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी जल से शान्त करना, क्षुधाजय कहलाता है। जिसने शरीर के सब संस्कारों का त्याग कर दिया है, जो शरीर मात्र उपकरण में संतुष्ट है, तप और संयम के नाशक कारणों का परिहार करने वाला है, कृत, कारित, अनुमोदित, संकल्पित, उद्दिष्ट, संक्लिष्ट, खरीद कर लाया हुआ, परिवर्तन करके लाया हुआ (अपनी वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी लाकर साधु को देना प्रत्यात्त कहलाता है), पूर्व कर्म (आहार लेने के पूर्व दाता को स्तुति करना), पश्चात् कर्म (आहारान्तर दाता की स्तुति करना), इन दस प्रकार के एषणा दाषों को टाल कर आहार करने वाला है। देशकाल, जनपद की व्यवस्था को जानने वाला है, ऐसे संयत को भी अनशन, मार्ग का श्रम, रोग, तप, स्वाध्याय का श्रम, कालातिक्रम, अवमौदर्य और असाता वेदनीय कर्म के उदय आदि कारणों से नाना आहार रूपी ईंधन के डालने पर जठराग्नि को प्रज्वलित करने वाली और वायु के झकोरों से चंचल अग्नि की शिखा के समान चारों तरफ शरीर और इन्द्रियों को क्षोभ उत्पन्न करने वाली क्षुधा उत्पन्न होती है। उसका प्रतीकार अकाल (भोजनकाल के सिवाय काल) में संयम के विरोधी द्रव्य के द्वारा न तो स्वयं करते हैं, न दूसरे से कराते हैं, न मन में यह विचार करते हैं कि - 'यह वेदना दुस्तर है, समय बहुत है, बहुत बड़े-बड़े दिन होते हैं' आदि। क्षुधा के कारण वे ज्ञानी साधु किसी प्रकार के विषाद को प्राप्त नहीं करके शरीर में अस्थि (हड्डी), सिरा-जाल, चमड़ा मात्र रह जाने पर भी आवश्यक क्रियाओं को बराबर नियम से करते हैं तथा कारागार के बन्धन में पड़े हुए भूख से छटपटाते हुए मनुष्यों को और पिंजरे में बन्द पशु-पक्षियों को क्षुधा से पीडित एवं परतन्त्र देखकर उनकी दशा का विचार करके संयमरूपी कुम्भ में भरे हुए धैर्यरूपी जल में क्षुधारूपी अग्नि को शमन करते हैं तथा उस भयंकर क्षुधा की पीड़ा को नहीं गिनते हुए क्षुधा को जीतते हैं। इसे **क्षुधा परीषहजय** कहते हैं ॥१॥

तृषा (प्यास) की उदीरणा के कारण मिलने पर भी प्यास के वशीभूत नहीं होना, उसके प्रतीकार को नहीं चाहना पिपासा सहन है। स्नान अवगाहन (तालाब आदि में डुबकी लगाना आदि) के त्यागी, पक्षियों के समान अनियत आसन और स्थान वाले, अतिलवण, स्निग्ध, रूक्ष, प्रकृतिविरुद्ध आहार, गरमी, पित्त ज्वर और उपवास आदि में उत्पन्न शरीर और इन्द्रियों को मथने वाली पिपासा को कुछ न समझकर उसके प्रतीकार की इच्छा नहीं करने वाले, जेठ महीने के सूर्य का तीव्र ताप और जंगल में जलाशय के निकट रहने पर भी जलकायिक जीवों की हिंसा का परिहार करने की इच्छा से उन जलाशयों के जल से प्यास बुझाने की इच्छा नहीं करने वाले, पानी सींचने के अभाव में मुरझाई हुई लता के समान म्लानता को प्राप्त हुए शरीर की परवाह न करके तप का परिपालन करने वाले, भिक्षाकाल के समय भी संकेत आदि के द्वारा योग्य जल को भी नहीं चाहने वाले परम संयमी साधु धैर्य रूपी कुम्भ में भरे हुए, शील में सुगन्धित प्रज्ञा रूपी जल से तृष्णा रूपी अग्नि की ज्वाला को बुझाते हैं, शान्त करते हैं और संयम में तत्पर रहते हैं, वे **पिपासा परीषहजयी** होते हैं ॥२॥

प्रश्न - क्षुधा और पिपासा को पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि दोनों का एक ही अर्थ है।

उत्तर - सामर्थ्यभेद में (लक्षणभेद से) क्षुधा पिपासा एक नहीं है, क्योंकि क्षुधा का सामर्थ्य भिन्न है और पिपासा का सामर्थ्य भिन्न है अतः दोनों एक नहीं है।

प्रश्न - भूख और प्यास में अभ्यवहार (भोजन करना) सामान्य है अतः क्षुधा, तृषा परीषह एक ही है, पृथक्-पृथक् नहीं?

उत्तर – भूख और प्यास पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि उन दोनों का अधिकरण भिन्न-भिन्न है, क्षुधा के प्रतीकार का अधिकरण (साधन) है और पिपासा का अधिकरण भिन्न है अतः अभ्यवहार सामान्य होते हुए भी पृथक्-पृथक् है ।

शीत के कारणों के सन्निधान में शीत के प्रतिकार की अभिलाषा नहीं करना, संयम का परिपालन करना शीत परीषहजय कहलाता है । निर्वस्त्र पक्षियों के समान अनियत आवास वाले और शरीर मात्र आधार वाले साधुजन शिशिर, वसन्त और वर्षा के समय में वृक्षमूल, मार्ग तथा गुफा आदि निवास में गिरे हुए बर्फ, तुषार आदि के कणों से व्याप्त शीतलपवन से तीव्र शरीर के कांपने पर भी उस शीत की प्रतिक्रिया करने में समर्थ अग्नि आदि द्रव्यान्तर की अभिलाषा नहीं करते हैं; किन्तु नरक सम्बन्धी दुःसह शीतजन्य तीव्र वेदना का स्मरण करके चित्त का समाधान करते हैं । शीत के प्रतिकार की चिकीर्षा में परमार्थ के लोप के भय के कारण विद्या, मंत्र, ओषध, पत्ते, वल्कल, तृण और चर्म आदि के सम्बन्ध से व्यावृत्त मन वाले (अभिलाषा नहीं करने वाले) साधुजन शरीर को पराया समझते हुए पूर्व में धूप में सुवासित, दीपकों से प्रज्वलित श्रेष्ठ अंगनाओं के नवयौवन, उष्ण घन स्तन, नितम्ब और भुजान्तर के द्वारा शीत की तर्जना करने वाले, गर्भगारों में किये हुए निवास को तथा अनुभूत सुरत-सुख के रस के ज्ञान के द्वारा असार समझकर स्मरण नहीं करते हुए किसी प्रकार का विवाद नहीं करते हुए साधुगण धैर्य रूपी वस्त्र को धारण करके संयम का परिपालन करते हुए शीत को सहन करते हैं, उसे **शीत परीषहजय** कहते हैं ॥३॥

चारित्र्य की रक्षा करने के लिये दाह का प्रतीकार करने की इच्छा का अभाव होना उष्ण परिषह सहन है । ज्येष्ठ मास के प्रखर सूर्य की किरणों के समूह से अंगार की तरह संतापित शरीर वाले; प्यास, अनशन, पित्तरोग, घाम, श्रम आदि से उत्पन्न उष्णता से सन्तप्त, स्वदेह (अपने शरीर) में असह्य गर्मी की वेदना से पसीना, शोष-दाह आदि से पीड़ित होने पर भी जलभवन, जलावगाहन, चन्दन आदि का अनुलेपन, जलसिंचन, आद्रभूमि, नीलकमल, केले के पत्र से उत्क्षिप्त शीतल वायु जलतूलिका (जल के फव्वारे), चन्दन, चन्द्रकिरण, कमल की माला और मुक्ताहार आदि पूर्व में अनुभूत शीतल उपचारों के प्रति तिरस्कार भाव रखने वाले, संयमीजन उस भयंकर महागर्मी में विचार करते हैं - 'मैंने बहुत बार नर्कों में परवश होकर अत्यन्त दुःसह उष्ण वेदना सही है, यह तप मेरे कर्मक्षय का कारण है, इसे स्वतन्त्र भाव से सहन करना चाहिये' इत्यादि पुनीत विचारों में उष्णविविरोधिनी क्रिया के प्रति अनादर करते हुए (उष्णता के प्रतीकार की इच्छा नहीं करते हुए) चारित्र्य का रक्षण करना **उष्ण परीषहजय** है ॥४॥

दंशमशक की बाधा सहन करना, उसका प्रतीकार नहीं करना दंशमशक परीषहजय कहलाता है । त्याग किया है शरीर के आच्छादक वस्त्रादि का जिन्होंने, किसी भी पदार्थ में जिनका मन आसक्त नहीं है, परकृत आवास गिरिगुफा आदि स्थानों में वास करने वाले, रात-दिन आतितीव्र वेदना के उत्पादक डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, कीड़ा, जूँआ, खटमल, चींटी और बिच्छू आदि के तीक्ष्णपात से काटे जाने पर भी दुःखित मन नहीं होने वाले, स्वकर्म के पाक का चिन्तन करने वाले, विद्या, मंत्र और औषधि आदि के द्वारा उस दंशमशक की बाधा के प्रतीकार की इच्छा न रखने वाले, शरीर के नाश पर्यन्त निश्चित दृढ़ात्मा बने रहने वाले साधुगण प्रबल प्रमर्दन के प्रति प्रवर्तमान रिपुजन प्रेरित विविध प्रकार के शस्त्रों के प्रतिघात से अपराङ्मुख निर्विघ्न विजय को प्राप्त करने वाले मदान्ध हाथी के समान कर्मसेना को जीतने में तत्पर रहते हैं, उसे **दंशमशक परीषहजयी** वा दंशमशकबाधा अप्रतीकारी कहते हैं ॥५॥

प्रश्न – सूत्र में दंशमशक को ही बाधा कारण ग्रहण किया है, अतः दंशमशक ही परीषह है, अन्य जन्तुकृत नहीं ?

उत्तर – दंशमशक शब्द डंसने वाले जन्तुओं के उपलक्षण के लिये है । जैसे 'दही संरक्षण' में 'काक' शब्द दही खाने वाले प्राणियों का उपलक्षक होता है, अतः दशन- तापकारी सर्व जन्तुओं का दंशमशक से ग्रहण होता है । यदि उपलक्षण नहीं होता तो दंशमशक में से किसी एक शब्द का ग्रहण होता, अतः दंशमशक में से किसी एक का नाम लेने से उसी जन्तु के स्वरूप का बोध होने से दूसरा शब्द उपलक्षण के लिए दिया गया है ।

जातरूप (जन्म-अवस्था के समान निराभरण निर्वस्त्र निर्विकार रूप) धारण करना नाग्य है । गुप्ति, समिति की अविरोधी परिग्रह निवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्यभूत अप्रार्थिक मोक्ष के साधन चारित्र्य का अनुष्ठान करना यथाजात रूप है । अविकारी (शरीर), संस्कारों से रहित, स्वाभाविक, मिथ्यादृष्टियों के द्वारा द्वेषकृत होने पर भी परम माङ्गल्य ऐसी यथाजातरूप नाग्य अवस्था के धारक, स्त्रीरूप का नित्य अशुचि, वीभत्स और शव-कंकाल के समान देखने वाले, वैराग्य भावनाओं से मनोविकार को जीतने वाले और सामान्य मनुष्यत्व के द्वारा असंभावित ऐसे विशिष्ट मानवरूपधारी साधुगणों के नाग्य दोषों (लिंगविकार, मनोविकार आदि दोषों) का स्पर्श नहीं होने से नाग्य परीषह के जय की सिद्धि होती है । अर्थात् नग्न हाने पर भी पुरुषविकार प्रकट न होने से **नाग्य परीषहजय** कहलाता है । जातरूप का धारण करना उत्तम है और मोक्षप्राप्ति का कारण कहा जाता है । अन्य तापसीगण मनोविकारों तथा मन विकारपूर्वक होने वाले अंगविकारों को रोकने में असमर्थ हैं अतः उस अङ्गविकृति को ढंकने के लिए कौपीन, फलक, चीवर आदि आवरणों को ग्रहण करते हैं । वे तापस केवल अंग का ही संवरण कर सकते हैं, कर्म का नहीं ॥६॥

संयम में रति करना अरति परीषहजय कहलाता है । क्षुधा आदि की बाधा सताने पर संयम की रक्षा में, इन्द्रियों का बड़ी कठिनता से जीतने में, व्रतों के भले प्रकार पालन करने के भार की गुरुता प्राप्त होने पर, सदैव प्रमादरहित परिणामों की सम्हाल करने में, भिन्न-भिन्न देशभाषाओं के नहीं जानने पर विरुद्ध और चपल प्राणियों से भरे भयानक मार्गों में अथवा राज्य के कर्मचारियों आदि से भयानक परिस्थिति में नियत रूप में एकाकी विहार करने आदि से जो अरति (खेद) उत्पन्न होती है उसे वे धैर्यविशेष से निवारण करते हैं । संयमविषयक रति (अनुराग) भावना के बल से विषयसुख रति को

(विषयानुराग को) विषमिश्रित आहार के सेवन के समान विपाक में कटु मानने वाले उन परम संयमिजन के रति परीषह बाधा का अभाव होने से **अरति परीषहजय** होता है; ऐसा जानना चाहिये ॥७॥

प्रश्न – क्षुधादि सर्व ही परीषह अरति के हेतु हैं अतः अरति परीषह को पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ।

उत्तर – यद्यपि क्षुधा आदि सभी परीषह अरति उत्पन्न करती हैं तथापि श्रुधा आदि के न होने पर भी मोहकर्म के उदय से होने वाली संयम की अरति का संग्रह करने के लिये 'अरति' का पृथक् ग्रहण किया है; क्योंकि मोह के उदय से आकुलित चित्त वाले प्राणी के क्षुधादि के अभाव में ही संयम के प्रति अरति उत्पन्न होती है

वराङ्गनाओं के रूप देखना, उनका स्पर्श करना आदि के भावों की निवृत्ति को स्त्री परिषह- जय कहते हैं । एकान्त, उद्यान, भवन आदि प्रदेशों में राग द्वेष विशिष्ट यौवन का घमण्ड करने वाली, अपने सुन्दर रूप का गर्व करने वाली, विभ्रम और उन्माद को पैदा करने वाले मद्यादि का पान करने वाली स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाने पर भी, उन वनिताओं के नेत्र, मुख एवं भ्रूविकार, श्रृंगार, आकार, विहार, हाव-भाव, विलास, हास, लीला, कटाक्ष-विक्षेप, सुकुमार-स्निग्ध-मृदु-पीन- उन्नत-स्तनकलश, नितान्तक्षीण उदर, पृथु जघन, रूप, गुण, आभरण, सुवास, वस्त्र, माल्य आदि के प्रति पूर्ण निग्रह के भाव होने से जो उनके दर्शन, स्पर्शन आदि की अभिलाषाओं से पूर्णतः रहित हैं तथा स्निग्ध, मृदु, विशद, सुकुमार शब्द और तंत्री वीणा आदि से मिश्रित अतिमधुर गीत आदि के सुनने में निरुत्सुक हैं; तथा स्त्रीसम्बन्धी अनर्थों को संसार रूपी समुद्र के व्यसनपाताल भयंकर दुःख, रौद्र भंवर आदि रूप विचार करने वाले हैं ऐसे परम संयमिजनों के **स्त्री परीषहजय** होता है । अन्य मिथ्यादृष्टियों के द्वारा कल्पित ब्रह्मादि देव तिलोत्तमा देवगणिका के रूप को देखकर विकार को प्राप्त हो गये थे, वे स्त्रीपरीषह रूपी पंक (कीचड़) से ऊपर नहीं उठ सके, अपने आत्मा का उद्धार करने में समर्थ नहीं हो सके ॥८॥

गमन के दोषों का निग्रह करना चर्या परीषहजय कहलाता है । दीर्घकाल तक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने वाले, बन्ध, मोक्षतत्त्व के मर्म को जानने वाले, कषायों का निग्रह करने में तत्पर भावनाओं से सुभावित चित्त वाले, गुरु की आज्ञापूर्वक संयम आयतनों की भक्ति के लिये देशान्तर में गमन करने वाले और नाना जनपद (अनेक देशों के) व्यवहारों के ज्ञाता साधुओं को ग्राम में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रि ही अधिक-से-अधिक रहना चाहिये । वहाँ एक व पांच दिन रहकर भी वायु के समान निसंग रहना चाहिये । ऐसा विचार करने वाले वा देशकाल प्रमाणोपेतमार्ग के अनुभव से क्लेश को सहन करने में समर्थ भयंकर अटवी प्रदेशों में सिंह के समान निर्भय होने से सहायक की अपेक्षा न करके परिभ्रमण करने वाले साधुजन मार्ग में कठोर कंकड आदि से पैरों के कट जाने पर और छिल जाने पर भी खेद का अनुभव नहीं करते हैं, वा इन साधुओं को खेद का अनुभव नहीं होता है । पूर्व में अनुभव किए हुए उचित यान-वाहन आदि का स्मरण नहीं करते हैं तथा सम्यक् प्रकार से गमन के दोषों का परिहार करते हैं, उन साधुओं के **चर्या परीषह-जय** होता है अर्थात् ऐसे साधु चर्या परीषहजयी होते हैं ॥९॥

संकल्पित आसन से विचलित नहीं होना निषद्या परीषहजय होता है । श्मशान, उद्यान, शून्यगृह, गिरिगुहा, गह्वर आदि अनभ्यस्त (नये-नये) स्थानों में संयमविधिज्ञ, धैर्यशाली और उत्साह- सम्पन्न साधु जिस आसन से बैठते हैं, उपसर्ग, रोग-विकारादि के आने पर भी उस आसन से विचलित नहीं होते हैं और न मन्त्र-विद्या आदि से उपसर्गादि का प्रतीकार ही करना चाहते हैं वा उपसर्ग आदि को दूर करने के लिये मन्त्रविद्या आदि की अपेक्षा ही करते हैं । क्षुद्रजन्तुयुक्त विषम देश में भी काष्ठ या पत्थर के समान निश्चल आसन से बैठते हैं, उस समय वे पूर्वानुभूत मृदु शय्या आदि बिछोनों के सुख का स्मरण भी नहीं करते हैं, वे तो प्राणीपीडा के परिहार में तत्पर हैं, निशदिन ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं अर्थात् जिनकी बुद्धी ज्ञान-ध्यान की भावना के आधीन है । वीरासन, उत्कटिकासन आदि जिस आसन से बैठते हैं, उस संकल्पित आसन में दूसरे आसन की पलटना नहीं करते, हिलना आदि आसन-दोषों हो जीतते हैं, उन परम संयमीजनों को **निषद्या परीषहजय** होता है अर्थात् वे ही साधु निषद्या परीषह के विजयी होते हैं ॥१०॥

आगम में कथित शयन से चलित नहीं होना, आगमानुसार शयन करना शयन परीषहजय , कहलाता है । स्वाध्याय, ध्यान और मार्ग-गमन के परिश्रम आदि से परिखेदित, खर, विषम, रेतीली, ककरीली, पथरीली, शीत तथा उष्णता से युक्त भूमिप्रदेशों में एक मुहूर्त तक एक करवट में सीधे डण्डे की भांति शयन करने वाले, बाधाविशेष के उत्पन्न होने पर भी संयम की रक्षा करने के लिये हलन-चलन न करके निश्चल रहने वाले, व्यन्तर आदि के द्वारा उपद्रव करने पर भी भागने या उसके प्रतीकार की इच्छा नहीं रखने वाले, मरण के भय में भी निशंक रहकर गिरी हुई लकड़ी के समान, निश्चल मरे हुए के समान पड़े रहने वाले (मृतक प्रापावित् निश्चल), 'यह स्थान सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि दुष्ट जीवों से भरा हुआ है, यहाँ से शीघ्र ही निकल जाना श्रेयस्कर है, कब यह रात्रि समाप्त होगी' इस प्रकार के संकल्प-विकल्पों को नहीं करने वाले, सुखस्थान के मिलने पर भी हर्ष से उन्मत्त नहीं होने वाले, पूर्व में अनुभूत नवनीत के समान मृदु शय्या का स्मरण न करके आगमोक्त विधि से शयन करने वाले तथा आगमोक्तविधि में न्यून नहीं होने वाले साधुजनों के **शय्या परीषहजय** होता है अर्थात् उक्त विधि से शयन करने वाले ही संयमीजन शयन परीषह-विजयी होते हैं ॥११॥

अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश परीषहजय है । तीव्र मोहाविष्ट, मिथ्यादृष्टि- आर्य, मलेच्छ, खल (दुष्ट) पापाचारी, मत्त (पागल), उददृष्ट (घमण्डी), शंकित आदि दुष्टजनों के द्वारा प्रयुक्त मा शब्द, धिक्कार शब्द, तिरस्कार अवज्ञा के सूचक कठोर, कर्कश, कानों को बधिर करने वाले, हृदयभेदी, हृदय में शूल के उत्पादक, क्रोधरूपी अग्नि की ज्वालाओं को बढ़ाने

वाले और अप्रिय गाली आदि वचनों को सुनकर भी स्थिरचित्त रहने वाले, भस्म करने का सामर्थ्य होते हुए भी परमार्थ (तत्त्वविचार) में अवगाहित चित्तवाले, शब्द मात्र को श्रवण कर कटु शब्दों के अर्थ के विचार में पराङ्मुख, "यह मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म का उदय ही है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है", इत्यादि पुण्य भावनाओं के चिन्तन रूप उपायों के द्वारा सुभावित साधु का अनिष्ट वचनों का सहन करना **आक्रोश परीषहजय** है, ऐसा समझना चाहिये ॥१२॥

मारने वालों के प्रति भी क्रोध नहीं करना वध परीषहजय है । ग्राम, उद्यान, अटवी, नगर आदि में रात-दिन एकाकी, निरावरण शरीर वाले, चारों तरफ घूमने वाले, चोर, कुतवाल, मलेच्छ, भील, कटोर, बधिर, पूर्व अपकारी, शत्रु और द्वेषाविष्ट मिथ्यादृष्टि तपस्वी आदि के द्वारा क्रोधपूर्वक ताडन, आकर्षण, बन्धन, शस्त्राभिघात आदि के द्वारा मारने पर भी बैर नहीं करने वाले, 'यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है, यह कुशलता है कि शरीर ही इस पुरुष के द्वारा नष्ट किया जा रहा है, मेरे व्रत, शील-भावना आदि तो नष्ट नहीं किये जा रहे हैं' इत्यादि शुभ भावनाओं को भाने वाले, जलने पर भी सुवास के फैलाने वाले चन्दन के समान शुभ परिणाम वाले, इसके मारण-ताडन से तो मेरे कर्मों की निर्जरा ही हो रही है, ऐसा विचार करने वाले, दृढमति और क्षमा रूपी औषधि के बल से मारने वाले में भी मित्रभाव रखने वाले या क्रोध नहीं करने वाले संयमी के **वध परीषहजय** कहा जाता है ॥१३॥

प्राण जाने पर भी आहारादि की याचना नहीं करना, दीनता से निवृत्त होना याचना परीषहजय है । भूख, मार्ग के परिश्रम आदि के द्वारा शुष्क वृक्ष के समान जिसके सारे अवयव सूख गये हैं, (शरीर लकड़ी के समान हो गया है), जिसके अस्थि और स्नायु का समूह ऊपर चमक उठा है, नेत्र भीतर धँस गये हैं, ओठ शुष्क हो गये हैं, कपाल गड्ढे से युक्त सफेद हो गये हैं; चर्म के समान जिनके अंगोपाङ्ग संकुचित हो गये हैं, जंघा, पैर, कमर, बाहु आदि जिनके अत्यन्त शिथिल हो गये हैं, ऐसे देशकाल की अवस्था का विचार कर ही आहार के लिए निकलने वाले, मौनी, परम स्वाभिमानी, शरीर दिखाना मात्र व्यापार वाले, महाशक्तिशाली, प्रज्ञा से ओत-प्रोत मानसिक परिणति वाले, परम तपस्वीगण प्राण जाने की अवस्था हो जाने पर भी दीनता, मुख की विवर्णता, शरीर का संकेत, हीन वचन का प्रयोग आदि के द्वारा आहार, वसति, औषध आदि की याचना नहीं करते हैं, जैसे - जौहरी (रत्नों का व्यापारी) मणि को दिखाता है, उसी प्रकार स्व शरीर को दिखाना ही पर्याप्त है । जो अदीन हैं, वन्दना करने वाले के लिये ही जिनके हाथ ऊपर उठते हैं, अर्थात् वन्दना करने वाली को आशीर्वाद देने के लिए ही जिनके हाथ विकसित होते हैं, याचना के लिये नहीं, ऐसे साधुगण ही याचना परीषहजयी होते हैं वा ऐसे महामना साधु के **याचना परीषहजय** होता है । अधुना (इस समय) कालदोष से दीन, अनाथ, पाखण्डियों से व्याप्त इस जगत् में मोक्षमार्ग को नहीं जानने वाले अनात्मज्ञों के द्वारा याचना की जाती है । (याचना- परोषहजयी के संवर होता है, याचना करने वाले के नहीं) ॥१४॥

अलाभ में भी लाभ के समान संतुष्ट होने वाले तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है । वायु के समान अनेक देशों में विहार करने वाले, अपनी शक्ति को प्रकाशित नहीं करने वाले, दिन में एक बार भोजन करने वाले, स्व शरीर दर्शन मात्र से भिक्षा स्वीकार करने वाले, 'देहि या देओ' इस प्रकार के असभ्य वचनों का प्रयोग नहीं करने वाले, शरीर की प्रतिक्रिया के (शरीर के ममत्व के) त्यागी, 'यह आज है और यह कल' इत्यादि संकल्पों से रहित, एक ग्राम में भिक्षा की प्राप्ति न होने पर ग्रामान्तर में आहार का अन्वेषण करने के लिये जाने में अनुत्सुक, पाणिपात्र में भोजन करने वाले और बहुत से घरों में बहुत दिनों तक भ्रमण करने पर भिक्षा के नहीं मिलने पर भी संक्लेश परिणाम नहीं करने वाले, रंचमात्र भी चित्त को मलिन नहीं करने वाले परम तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है, वे साधु यह न सोचते हैं और न कहते हैं कि 'यहां दाता नहीं है, वहां बड़े-बड़े दानी उदार दाता हैं', वे परम योगी लाभ से भी अलाभ में परम तप मानते हैं, इस प्रकार लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक सन्तुष्ट होने वाले के **अलाभ परीषहजय** है, ऐसा जानना चाहिये ॥१५॥

नाना व्याधियों के प्रतीकार की इच्छा नहीं करने वाले के रोग परीषहजय होता है । दुःख का कारण, अशुचि का भाजन, जीर्ण वस्त्र के समान छोड़ने योग्य, वात-पित्त-कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोग और वेदनाओं से जकड़े हुए इस शरीर को दूसरे के समान मानने वाले, इस शरीर से उपेक्षाभाव को धारण करने के कारण सर्व प्रकार की विचिकित्सा से चित्त को हटाकर शरीर की यात्रा की प्रसिद्धि के लिये व्रण (घाव) के लेपन के समान शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध आहार लेने वाले, तप के प्रभाव से जल्लौषधि-प्राप्ति आदि अनेक तपविशेष ऋद्धियों के प्राप्त होने पर भी शरीर से अत्यन्त निस्पृह होने से रोग के प्रतीकार की इच्छा नहीं करने वाले 'यह पूर्वोपार्जित पापकर्म का फल है, इसे भोगकर उन्मूलन हो जाना ही अच्छा है', इत्यादि विचारों के द्वारा राग की वेदना को सहन करने वाले परम योगी के **रोग परीषहजय** होता है ॥१६॥

तृणादि के निमित्त से वेदना के होने पर भी मन का निश्चल रहना उसमें दुःख नहीं मानना तृण परीषहजय है । यथाभिनिवृत्त अधिकरणों (जहां कहीं जैसी ऊंची-नीची पृथ्वी मिल गई उस) पर सोने वाले, शुष्कभूमि, तृण, पत्र, कण्टक, काष्ठ, फलक और शिलातल आदि किसी भी प्रासुक असंस्कृत आधार पर व्याधि, मार्गश्रम, शीत, उष्ण आदि कारणों से उत्पन्न क्लम (श्रम थकावट) को दूर करने के लिये शय्या वा आसन लगाने वाले तृणादि के द्वारा शरीर में बाधा होने तथा खुजली आदि विकार उत्पन्न होने पर भी दुःख नहीं मानकर निश्चल रहने वाले साधु के तृणादि के स्पर्श को बाधा के वशीभूत न होने से **तृण-स्पर्श परीषहजय (सहन)** जानना चाहिये, ऐसा साधु तृण परीषहजयी होता है ॥१७॥

स्व और पर के द्वारा मल के अपचय और उपचय के संकल्प के अभाव को मलधारण परीषह-सहन कहते हैं । जलकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए अस्नान जिनका व्रत है, ऐसे परम अहिंसक साधु पसीने के मैल से सारे अंगों के जल जाने पर दाद, खाज आदि चर्मरोगों के प्रकुपित होने पर तथा नख, रोम, दाढ़ी, मूँछ, केश के विकृत होने में एवं अनेक

बाह्य मल के सम्पर्क के कारण चर्मविकार होने पर भी स्वयं मल (शरीरगत मूल) को दूर करने की वा दूसरों से मल को दूर कराने की इच्छा नहीं करते हैं और सदा कर्ममल को दूर करने की चेष्टा करते हैं, जो पूर्व में अनुभूत स्नान, अनुलेपन आदि के स्मरण से पराङ्मुख हैं, उन संयमीजनों के **मलधारण परीषहजय** होता है, अर्थात् वे ही साधु मलपरीषह को सहन करने वाले होते हैं ॥१८॥

प्रश्न – केश लुन्घन करने में वा केशों का संस्कार नहीं करने पर महान खेद होता है अतः केश लुन्घन को सहन करना वा केशसंस्कार नहीं करना नाम एक परीषह और होना चाहिये ।

उत्तर – यद्यपि केशलुन्घन और केशसंस्कार नहीं करने पर खेद होता है, पर यह मलपरीषह में अन्तर्भूत हो जाता है अतः इसको पृथक् ग्रहण नहीं किया है ।

मान और अपमान में तुल्यभाव होना, सत्कार-पुरस्कार की भावना नहीं होना, सत्कार- पुरस्कार परीषहजय है । 'चिर काल में ब्रह्मचर्य व्रत के धारी महातपस्वी, स्व-पर-समय-निश्चयज्ञ, हितोपदेशी कथामार्गकुशल, अनेक बार परवादी के साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करने वाले ' मेरा कोई प्रणाम, भक्ति, आदर (आने पर खड़े होना-चलने पर पीछे-पीछे चलना) आसन-प्रदान आदि से सत्कार-पुरस्कार नहीं करता है', इस प्रकार की दुर्भावनाओं को मन में न लाकर मान और अपमान में समवृत्ति रखने वाले सत्कार-पुरस्कार की आकांक्षा नहीं करने वाले और मात्र श्रेयोमार्ग का ध्यान करने वाले संयमी के सत्कार-पुरस्कार परीषहजय होता है । सत्कार-पुरस्कार में समभाव रखने वाला ही साधु **सत्कार-पुरस्कार परीषहजयी** होता है । पूजा प्रशंसात्मक सत्कार है और क्रिया के प्रारम्भ में मुखिया बनाना, प्रधानता देना, आमन्त्रण देना पुरस्कार है ॥ १९॥

प्रज्ञा (बुद्धि) का विकास होने पर भी प्रज्ञा मद नहीं करना प्रज्ञा परीषहजय है । 'मैं अंग पूर्व प्रकीर्णक आदि में विशारद हूँ सारे ग्रन्थों के अर्थ का ज्ञाता हूँ, अनुत्तरवादी हूँ, त्रिकाल विषयार्थवेदी हूँ, शब्द (व्याकरण), न्याय, अध्यात्म में निपुण हूँ, मेरे समक्ष सूर्य के सामने खद्योत के समान अन्यवादी निस्तेज हो जाते हैं, इस प्रकार विज्ञान का मद नहीं होने देना **प्रज्ञा परीषहजय** है ॥२०॥

अज्ञान के कारण होने वाले अपमान एवं ज्ञान की अभिलाषा को सहन करना अज्ञान परीषहजय है । 'यह अज है, कुछ नहीं जानता, पशु समान है' इत्यादि आक्षेप (तिरस्कार) वचनों को शान्तिपूर्वक सहने वाले, अध्ययन और अर्थग्रहण में श्रम करने वाले, चिरप्रव्रजित (बहुत काल का दीक्षित) विविध तपविशेष के भार से आक्रान्त मूर्ति (विविध प्रकार के घोर तपों को करने वाले), सर्व क्रियाओं में प्रमाद नहीं करने वाले और अशुभ मन, वचन, काय की क्रियाओं से रहित मुझे आज तक कोई ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है, इस प्रकार अपने मन में अज्ञान से हीन भावना नहीं आने देना, मानसिक ताप से सन्तापित नहीं होना **अज्ञान परीषहजय** जानना चाहिये ॥२१॥

'दीक्षा लेना आदि अनर्थक है', इस प्रकार मानसिक विचार नहीं होने देना, अदर्शन परीषह- सहन है । संयम पालन करने में प्रधान, दुष्कर तप तपने वाले, परम वैराग्य भावना से शुद्ध हृदय युक्त, सकल तत्त्वार्थवेदी, अर्हदायतन, साधु और धर्म के प्रतिपूजक चिरप्रव्रजित मुझ तपस्वी को आज तक कोई ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ है । 'महोपवास करने वालों को प्रातिहार्यविशेष (चमत्कारी ऋद्धियां) उत्पन्न हुए थे' यह सब प्रलाप मात्र है, असत्य है, यह दीक्षा लेना व्यर्थ है, व्रतों का पालन निरर्थक है । इस प्रकार से चित्त में अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देना, अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ रखना, अदर्शन परीषह सहन करना जानना चाहिये । तप के बल पर ऋद्धियों के उत्पन्न न होने पर जिनवचन पर अश्रद्धान नहीं करना **अदर्शन परीषहजय** है । इस प्रकार असंकल्पित (बिना संकल्प के) उपस्थित परीषहों को संक्लेश परिणामरहित सहन करने वाले साधु के रागादि परिणाम रूप आस्रव का अभाव होने से महान संवर होता है ॥२२॥

प्रश्न – श्रद्धान और आलोचन (अवलोकन) के भेद से दर्शन दो प्रकार का है अतः यहाँ अविशेषता से दोनों का ग्रहण होगा । क्योंकि यहां दर्शन का कोई विशेष लिंग आश्रित नहीं है?

उत्तर – यद्यपि दर्शन के श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते हैं, तथापि यहां अव्यभिचार दिखाने के लिये दर्शन का अर्थ 'श्रद्धान' ही ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि यहां मति आदि पांच ज्ञानों के अव्यभिचारी श्रद्धान रूप दर्शन का ग्रहण है, आलोचन रूप दर्शन श्रुत और मनःपर्यय ज्ञानों में नहीं होता है अतः उसका ग्रहण नहीं है, अव्यभिचारी श्रद्धान का ही ग्रहण है ।

प्रश्न – अदर्शन परीषह में दर्शन का अर्थ श्रद्धान करना स्व-मनोरथ कल्पना मात्र है ।

उत्तर – आगे कहे जाने वाले दर्शनमोह के उदय से ही अदर्शन परीषह बताई जायेगी । 'दर्शनमोहान्तरायोरदर्शनालाभौ' अतः दर्शन का श्रद्धान अर्थ केवल कल्पनामात्र नहीं है ।

प्रश्न – अवधि आदि दर्शन को भी परीषह में ग्रहण करना चाहिये क्योंकि 'मेरी आंख अच्छा देखती है, इसकी आंख में कोई अतिशय नहीं है', गुणप्रत्यय भी अवधि है, आगम में लिखा भी है कि 'इसमें उसके योग्य गुण नहीं है' इत्यादि वचनों को सहन करना अवधि आदि दर्शन परीषहजय है अतः अवधिदर्शन परीषह को भी ग्रहण करना चाहिये ।

उत्तर – यद्यपि अवधिदर्शन आदि के न होने पर 'इसमें यह गुण नहीं है' आदि रूप से अवधिदर्शन परीषह हो सकती है, परन्तु इसका अज्ञान परीषह में अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि ये अवधि आदि दर्शन अपने-अपने ज्ञानों के सहचारी होते हैं । अवधि आदि ज्ञान के अभाव में उनके सहचारी दर्शन का भी अभाव रहता है । जैसे सूर्य के प्रकाश के अभाव में उसके

प्रताप का अभाव रहता है इसलिये अज्ञान परीषह में ही उन-उन अवधिदर्शन अभाव आदि परीषहों का अन्तर्भाव है ।

प्रश्न – यदि अज्ञान परीषह में अवधि- दर्शनाभाव आदि का अन्तर्भाव हो जाता है तो श्रद्धान भी ज्ञान का अविनाभावी है अतः अदर्शन परिषह का भी प्रज्ञा परीषह में अन्तर्भाव प्राप्त होता है ?

उत्तर – इस प्रकार भवान रूप दर्शन को ज्ञान का अविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता । क्योंकि किसी में प्रज्ञा के होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव पाया जाता है, अतः व्यभिचारी है अर्थात् प्रज्ञा के साथ श्रद्धान का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है ।

शिष्य पूछता है कि परीषहों को जीतने से संवर होता है, ऐसा आपने कहा है, अब यह बताइये कि

प्रश्न – संसार समुद्र से तिरने की इच्छा करने वाले इन मुनिगण को क्या ये सर्व परीषह एक साथ दुःख देती हैं कि इनमें कुछ विशेषता है?

उत्तर – जिनका लक्षण कह चुके हैं ऐसी ये क्षुधादि परीषह भिन्न-भिन्न चारित्र के अनुसार विभक्त हो जाती है । इनमें विशेषता है परन्तु नीचे के सूत्र द्वारा तीन गुणस्थानों में नियम से चौदह परिषह होती हैं, वह सूत्र कहा जाता है -

सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीत-रागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

अन्वयार्थ : सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) और छद्मस्थ-वीतराग (ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान) में चौदह परीषह होती हैं ॥१०॥

सर्वार्थसिद्धि :

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह हैं। सूत्र में आये हुए 'चतुर्दश' इस वचन से अन्य परीषहों का अभाव जानना चाहिये।

शंका – वीतरागछद्मस्थ के मोहनीय के अभाव से तत्कृत आगे कहे जाने वाले आठ परीषहों का अभाव होने से चौदह परीषहों के नियम का वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में मोहनीय का उदय होने से चौदह परीषह होते हैं यह नियम नहीं बनता।

समाधान – यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ मोहनीय का सद्भाव है। वहाँ पर केवल लोभसंज्वनलन कषाय का उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म होता है, इसलिये वीतराग छद्मस्थ के समान होने से सूक्ष्मसाम्पराय में चौदह परीषह होते हैं यह नियम वहाँ भी बन जाता है।

शंका – इन स्थानों में मोह के उदय की सहायता नहीं होने से और मन्द उदय होने से क्षुधादि वेदना का अभाव है इसलिये इनके कार्यरूपसे 'परीषह' संज्ञा युक्ति को नहीं प्राप्त होती।

समाधान – ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ शक्तिमात्र विवक्षित है। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि के देव के सातवीं पृथ्वी के गमन के सामर्थ्य का निर्देश करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये।

यदि शरीरवाले आत्मा में परीषहों के सन्निधान की प्रतिज्ञा की जाती है तो केवलज्ञान को प्राप्त और चार कर्मों के फल के अनुभव के वशवर्ती भगवान के कितने परीषह प्राप्त होते हैं इसलिये यहाँ कहते हैं। उनमें तो-

एकादश जिने ॥११॥

अन्वयार्थ : जिन में ग्यारह परीषह सम्भव हैं ॥११॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है ऐसे जिन भगवान में वेदनीय कर्म का सद्भाव होने से तन्निमित्तक ग्यारह परीषह होते हैं।

शंका – मोहनीय के उदय की सहायता न होने से क्षुधादि वेदना के न होने पर परीषह संज्ञा युक्त नहीं है ?

समाधान – यह कथन सत्य ही है तथापि वेदना का अभाव होने पर भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा से यहाँ परीषहों का उपचार किया जाता है। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण के नाश हो जाने पर एक साथ समस्त पदार्थों के रहस्य को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानातिशय के होने पर चिन्ता-निरोध का अभाव होने पर भी कर्मों के नाश रूप उसके फल की अपेक्षा ध्यान का उपचार किया जाता है उसी प्रकार यहाँ परीषहों का उपचार से कथन जानना चाहिए, अथवा जिन भगवान में ग्यारह परीषह 'नहीं' हैं इतना वाक्य शेष कल्पित कर लेना चाहिये क्यों कि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं । 'वाक्य शेष की कल्पना करनी चाहिये और वाक्य वक्ता के अधीन होता है' ऐसा स्वीकार भी किया गया है। मोह के उदय की सहायता से होने वाली क्षुधादि वेदनाओं का अभाव होने से 'नहीं' यह वाक्य शेष उपन्यस्त किया गया है।

यदि सूक्ष्मसाम्पराय आदि में अलग-अलग परीषह होते हैं तो मिलकर वे कहाँ होते हैं, यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

घातिया कर्मोदय की सहायता का अभाव होने से शक्ति क्षीण वेदनीय के सद्भावों में भी क्षुधादि परीषह नहीं हैं ?

प्रश्न – घातिया-कर्मों का क्षय हो जाने से उनके उदय रूप निमित्त के अभाव में जिनेन्द्र भगवान के नाश, अरति, स्ती, निषद्या, आक्रोश, याचना, अलाभ, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन परीषह मत होओ, परन्तु वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव होने से वेदनीय के आश्रय से होने वाली क्षुधा आदि परीषह तो जिनेन्द्र-भगवान में होनी ही चाहिये ?

उत्तर – घातिया-कर्म के उदय रूप सहकारी कारण का अभाव हो जाने से अन्य-कर्मों का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है । जैसे -- मन्त्र, औषधि के बल से (प्रयोग से) जिसकी मारण-शक्ति क्षीण हो गई है ऐसे विष-द्रव्य को खाने पर भी मरण नहीं होता है वा वह विष-द्रव्य मारने में समर्थ नहीं है; उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिया-कर्म रूपी ईंधन के जल जाने पर अप्रतिहत (अनन्त) ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय के धारी केवली-भगवान के अन्तराय कर्म का अभाव हो जाने से प्रतिक्षण शुभ-कर्म पुद्गलों का संचय होता रहता है अतः प्रक्षीण-सहाय वेदनीय-कर्म के उदय का सदभाव होने पर भी वह अपना कार्य नहीं कर सकता तथा सहकारी कारण के बिना स्वयं प्रयोजन उत्पादन के प्रति असमर्थ होने से क्षुधादि का अभाव है । जैसे १३वें गुणस्थान में ध्यान को उपचार से कहा जाता है, वैसे ही वेदनीय का सदभाव होने से केवली में ११ परीषह उपचार में कही जाती हैं । अथवा, यह वाक्यशेष नहीं है कि केवली में ११ परीषह कोई मानते हैं ? अपितु केवली के ११ परीषह हैं ऐसा अर्थ करना चाहिये । जैसे -- समस्त ज्ञानावरण कर्म का नाश ही जाने के कारण परिपूर्ण केवल-ज्ञानी, केवली-भगवान में 'एकाग्रचिन्तानिरोध' का अभाव होने पर भी कर्मरज के विघ्न-रूप (कर्म-नाश रूपी) ध्यान के फल को देखकर उपचार से केवली में ध्यान का सद्भाव माना जाता है; उसी प्रकार क्षुधा आदि वेदना रूप वास्तविक परीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्मोदय रूप द्रव्य-परीषह का सद्भाव देखकर ग्यारह परीषहों का केवली-भगवान में उपचार कर लिया जाता है ।

बादर-साम्पराये सर्वे ॥१२॥

अन्वयार्थ : बादर साम्पराय गुणस्थान तक सभी परीषह सम्भव हैं ॥१२॥

सर्वार्थसिद्धि :

साम्पराय कषाय को कहते हैं। जिसके साम्पराय बादर होता है वह बादर साम्पराय कहलाता है। यह गुणस्थान विशेष का ग्रहण नहीं है। तो क्या है ? सार्थक निर्देश है। इससे प्रमत्त आदिक संयतों का ग्रहण होता है। इनमें कषाय और दोषों के अथवा कषाय दोष के क्षीण न होने से सब परीषह सम्भव हैं।

शंका – तो किस चारित्र में सब परीषह सम्भव हैं ?

समाधान – सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि संयम इनमें से प्रत्येक में सब परीषह सम्भव हैं।

कहते हैं - इन परीषहों के स्थान विशेष का अवधारण किया, किन्तु हम यह नहीं जानते कि किस प्रकृति का क्या कार्य है इसलिये यहाँ पर कहते हैं -

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

अन्वयार्थ : ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान, दो परीषह होती हैं ॥१३॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – यह अयुक्त है ?

उत्तर – यहाँ क्या अयुक्त है।

शंका – माना कि ज्ञानावरण के होने पर अज्ञान परीषह उत्पन्न होता है, परन्तु प्रज्ञा परीषह उसके अभाव में होता है, इसलिये वह ज्ञानावरण के सद्भाव में कैसे हो सकता है ?

समाधान – यहाँ कहते हैं - क्षयोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के होने पर मद को उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने पर नहीं, इसलिये ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा परीषह होती है यह कथन बन जाता है।

पुनः अन्य दो परीषहों की प्रकृति विशेष का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

दर्शन-मोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं ॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि :

इस सूत्र में 'यथासंख्य' पद का सम्बन्ध होता है। दर्शनमोह के सद्भाव में अदर्शन परीषह होता है और लाभान्तराय के सद्भाव में अलाभ परीषह होता है।

कहते हैं - यदि आदि के मोहनीय के भेद के होने पर एक परीषह होता है तो दूसरे भेद के होने पर कितने परीषह होते हैं, इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं-

चारित्रमोहे नाग्र्यारति-स्त्री-निषद्या-क्रोश-याचना- सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

अन्वयार्थ : चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्र्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं ॥ १५॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – नाग्र्यादि परीषह पुंवेदोदय आदि के निमित्त से होते हैं, इसलिये मोहोदय को उनका निमित्त कहते हैं पर निषद्या परीषह मोहोदय के निमित्त से कैसे होता है ?

समाधान – उसमें भी प्राणिपीड़ा के परिहार की मुख्यता होने से वह मोहोदय निमित्तक माना गया है, क्योंकि मोहोदय के होने पर प्राणिपीड़ारूप परिणाम होता है।

अब अवशिष्ट परीषहों की प्रकृति विशेष का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

अन्वयार्थ : बाकी के सब परीषह वेदनीय के सद्भाव में होते हैं ॥१६॥

सर्वार्थसिद्धि :

ग्यारह परीषह पहले कह आये हैं। उनसे अन्य शेष परीषह हैं। वे वेदनीय के सद्भाव में होते हैं। यहाँ 'भवन्ति' यह वाक्य शेष है।

शंका – वे कौन-कौन हैं ?

समाधान – क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरीषह।

कहते हैं, परीषहों के निमित्त, लक्षण और भेद कहे। प्रत्येक आत्मा में उत्पन्न होते हुए वे एक साथ कितने हो सकते हैं, इस बात को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

एकादयो भाज्या युगपदेक-स्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

अन्वयार्थ : एक साथ एक जीव के उन्नीस परीषह तक होती हैं ॥१७॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ 'आङ्' अभिविधि अर्थ में आया है। इससे किसी एक आत्मा में एक साथ उन्नीस भी सम्भव हैं यह ज्ञात होता है।

शंका – यह कैसे ?

समाधान – एक आत्मा में शीत और उष्ण परीषहों में से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों के एक साथ होने में विरोध आता है। इन तीनों के निकाल देने पर एक साथ एक आत्मा में इतर परीषह सम्भव होने से वे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए।

शंका – प्रज्ञा और अज्ञान परीषह में भी विरोध है, इसलिये इन दोनों का एक साथ होना असम्भव है?

समाधान – एक साथ एक आत्मा में श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान आदि के अभाव की अपेक्षा अज्ञान

परीषद रह सकते हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं है।

कहते हैं, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषदजय ये पाँच संवर के हेतु कहे। अब चारित्रसंज्ञक संवर का हेतु कहना चाहिये, इसलिये उसके भेद दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

सामायिकछेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय- यथाख्यात-मितिचारित्रम् ॥१८॥

अन्वयार्थ : सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र है ॥१८॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – दश प्रकार के धर्म में संयम का कथन कर आये हैं और वह ही चारित्र है, इसलिये उसका फिर के ग्रहण करना निरर्थक है ?

समाधान – निरर्थक नहीं है, क्योंकि धर्म में अन्तर्भाव होने पर भी चारित्र मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है यह दिखलाने के लिए उसका अन्त में ग्रहण किया है।

सामायिक का कथन पहले कर आये हैं।

शंका – कहाँ पर?

समाधान – 'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक' – इस सूत्र का व्याख्यान करते समय। वह दो प्रकार का है- नियतकाल और अनियतकाल। स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक है और ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है।

प्रमाद कृत अनर्थप्रबन्ध का अर्थात् हिंसादि अव्रतों के अनुष्ठान का विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करने पर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुनः व्रतोंका ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना चारित्र है।

प्राणि वध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। जिस चारित्र में कषाय अतिसूक्ष्म हो जाता है वह सूक्ष्म साम्परायचारित्र है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्था स्वरूप अपेक्षा लक्षण जो चारित्र होता है वह यथाख्यातचारित्र कहा जाता है। पूर्व चारित्र का अनुष्ठान करने वालों ने जिसका कथन किया है पर मोहनीय के क्षय या उपशम होने के पहले जिसे प्राप्त नहीं किया, इसलिये उसे यथाख्यात कहते हैं। 'अथ' शब्द 'अनन्तर' अर्थवर्ती होने से समस्त मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम के अनन्तर वह आविर्भूत होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अथवा इस चारित्र का एक नाम यथाख्यात भी है। जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं।

सूत्र में आया हुआ 'इति' शब्द परिसमाप्ति अर्थ में जानना चाहिये। इसलिये इससे यथाख्यात चारित्र से समस्त कर्मों के क्षय की परिसमाप्ति होती है यह जाना जाता है। उत्तरोत्तर गुणों के प्रकर्ष का ख्यापन करने के लिए सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि क्रम से इनका नाम निर्देश किया है।

कहते हैं, चारित्र का कथन किया। संवर के हेतुओं का निर्देश करने के बाद 'तपसा निर्जरा च' यह सूत्र कहा है, इसलिये यहाँ तप का विधान करना चाहिये, अतः यहाँ कहते हैं- वह दो प्रकार का है- बाह्य और आभ्यन्तर। उसमें भी यह प्रत्येक छह प्रकार का है। उनमें से पहले बाह्य तप के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रस-परित्याग- विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

अन्वयार्थ : अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकार का बाह्य तप है ॥१९॥

सर्वार्थसिद्धि :

दृष्टफल मन्त्र साधना आदि की अपेक्षा किये बिना संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए **अनशन तप** किया जाता है।

संयम को जागृत रखने, दोषों के प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए **अवमौदर्य तप** किया जाता है।

भिक्षा के इच्छुक मुनि का एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ता का अवरोध करना **वृत्तिपरिसंख्यान तप** है। आशा की निवृत्ति इसका फल जानना चाहिये।
इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए और सुख पूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए घृतादि गरिष्ठ **रस का त्याग करना** चौथा तप है।
एकांत, जन्तुओं की पीड़ा से रहित शून्य घर आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की प्रसिद्धि के लिए संयत को **शय्यासन लगाना** चाहिये। ये पांचवा तप है।
आतापन योग, वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार के प्रतिमास्थान इत्यादि करना **कायक्लेश** है, यह छठा तप है। यह किसलिए किया जाता है यह देह-दुःख को सहन करने के लिए, सुखविषयक आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन की प्रभावना करने के लिए किया जाता है।

शंका – परीषह और कायक्लेश में क्या अन्तर है ?

समाधान – अपने आप प्राप्त हुआ परीषह और स्वयं किया गया कायक्लेश है, यही इन दोनों में अन्तर है।

शंका – इस तप को बाह्य क्यों कहते हैं ?

समाधान – यह बाह्य-द्रव्य के आलम्बन से होता है। और दूसरों के देखने में आता है, इसलिये इसे बाह्य तप कहते हैं।
अब आभ्यन्तर तप के भेदों को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ॥

२० ॥

अन्वयार्थ : प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है ॥२०॥

सर्वार्थसिद्धि :

शंका – इसे आभ्यन्तर तप क्यों कहते हैं ?

समाधान – मन का नियमन करने वाला होने से इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं।

प्रमादजन्य दोष का परिहार करना **प्रायश्चित्त तप** है।

पूज्य पुरुषों का आदर करना **विनय तप** है।

शरीर की चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना **वैयावृत्य तप** है।

आलस्य का त्याग कर ज्ञान की आराधना करना **स्वाध्याय तप** है।

अहंकार और ममकाररूप संकल्प का त्याग करना **व्युत्सर्ग तप** है, तथा

चित्त के विक्षेप का त्याग करना **ध्यान तप** है।

अब इनके भेदों को दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

नवचतुर्दश-पञ्च द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अन्वयार्थ : ध्यान से पूर्व के आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से नौ, चार, दश, पांच और दो भेद हैं ॥२१॥

सर्वार्थसिद्धि :

सूत्र में 'यथाक्रमम्' यह वचन दिया है। इससे प्रायश्चित्त नौ प्रकार का है, विनय चार प्रकार का है, वैयावृत्य दश प्रकार का है, स्वाध्याय पाँच प्रकार का है, और व्युत्सर्ग दो प्रकार का है। ऐसा सम्बन्ध होता है। सूत्र में-'प्राग्ध्यानात्' यह वचन दिया है, क्योंकि ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहना है, इसलिये उसका आगे कथन करेंगे।

अब पहले आभ्यन्तर तप के भेदों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग- तपश्छेदपरिहारो-पस्थापनाः ॥२२॥

अन्वयार्थ : आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है ॥२२॥

सर्वार्थसिद्धि :

गुरू के समक्ष दश दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना **आलोचना** है।
'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरू से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना **प्रतिक्रमण** है।
आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन होने से **तदुभय प्रायश्चित्त** है।
संसक्त हुए अन्न, पान और उपकरण आदि का विभाग करना **विवेक प्रायश्चित्त** है।
कायोत्सर्ग आदि करना **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** है।
अनशन, अवमौदर्य आदि करना **तप प्रायश्चित्त** है।
दिवस, पक्ष और महीना आदि की प्रव्रज्या का छेद करना **छेद प्रायश्चित्त** है।
पक्ष, महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना **परिहार प्रायश्चित्त** है।
पुनः दीक्षा का प्राप्त करना **उपस्थापना प्रायश्चित्त** है।
विनय के भेदों का ज्ञान कराने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं :-

राजवार्तिक :

लज्जापरपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं यदि न शोधयेद् अपरोक्षितायव्याधमर्णवदवसीदति। महदपि तपस्कर्म
अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम् आविरिक्तकायगतौषधवत् कृतानालोचनस्यापि
गुरुमतप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवत् महाफलं न स्यात्। कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत्
परिभ्राजते।

= लज्जा और पर तिरस्कार आदिके कारण दोषोंका निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी
आमदनी और खर्चका हिसाब न रखनेवाले कर्जदारकी तरह दुःखका पात्र होना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्याएँ भी
आलोचनाके बिना उसी तरह इष्ट फल नहीं दे सकती जिस प्रकार विवेचनसे शरीर मलकी शुद्धि किये बिना खायी गयी
औषधि। आलोचना करके भी यदि गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका अनुष्ठान नहीं किया जाता है। तो वह बिना सँवारे
ध्यानकी तरह महाफलदायक नहीं हो सकता। आलोचना युक्त चित्तसे किया गया प्रायश्चित्त माँजे हुए दर्पणके रूपकी तरह
निखरकर चमक जाता है।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र्योपचाराः ॥२३॥

अन्वयार्थ : ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र्य विनय और उपचार विनय यह चार प्रकार का विनय है ॥२३॥

सर्वार्थसिद्धि :

अधिकार के अनुसार 'विनय' इस पद का सम्बन्ध होता है- ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्यविनय और उपचार विनय।
बहुत आदर के साथ मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और स्मरण करना आदि **ज्ञानविनय** है।
शंकादि दोषों से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना **दर्शनविनय** है।
सम्यग्दृष्टि का चारित्र्य में चित्त का लगना **चारित्र्यविनय** है। तथा
आचार्य आदिक के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि **उपचार विनय** है
तथा उनके परोक्ष में भी काय, वचन और मन से नमस्कार करना, उनके गुणों का कीर्तन करना और स्मरण करना आदि
उपचार विनय है।

अब वैयावृत्य के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धिविधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं
ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिज्ञानविनयो वेदितव्यः।.. यथा भगवद्भिरुपदिष्टाः पदार्थाः तेषां तथाश्रद्धाने
निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः।..... ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणानन्तरमुद्भिन्न-
रोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावतश्चानुष्ठातृत्वं चारित्र्यविनयः प्रत्येतव्यः। = आलस्य
रहित हो देशकालादिकी विशुद्धि के अनुसार शुद्धचित्त से बहुमान पूर्वक यथाशक्ति मोक्ष के लिए ज्ञानग्रहण अभ्यास और
स्मरण आदि करना ज्ञान विनय है। जिनेन्द्र भगवान् ने श्रुत समुद्र में पदर्थों का जैसा उपदेश दिया है, उसका उसी रूप से
श्रद्धान करने आदि में निःशंक आदि होना दर्शन विनय है। ज्ञान और दर्शनशाली पुरुष के पाँच प्रकार के दुश्चर चारित्र्य का
वर्णन सुनकर रोमांच आदि के द्वारा अन्तर्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अंजलि रखकर आदर प्रगट करना
और उसका भाव पूर्वक अनुष्ठान करना चारित्र्य विनय है।

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष्य-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥

अन्वयार्थ : आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्य के भेद से वैयावृत्य दश प्रकार का है ॥२४॥

सर्वार्थसिद्धि :

वैयावृत्य के दश भेद हैं, क्योंकि उसका विषय दश प्रकार का है। यथा- आचार्य-वैयावृत्य और उपाध्याय-वैयावृत्य आदि। जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह **आचार्य** कहलाता है। मोक्ष के लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वह **उपाध्याय** कहलाता है। महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाला **तपस्वी** कहलाता है। शिक्षाशील **शैक्ष** कहलाता है। रोग आदि से क्लान्त शरीर वाला **ग्लान** कहलाता है। स्थविरो की सन्तति को **गण** कहते हैं। दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदाय को **कुल** कहते हैं। चार वर्ण के श्रमणों के समुदाय को **संघ** कहते हैं। चिरकाल से प्रव्रजित को **साधु** कहते हैं। लोकसम्मत साधु को **मनोज्ञ** कहते हैं। इन्हें व्याधि होने पर, परीषह के होने पर व मिथ्यात्व आदि के प्राप्त होने पर शरीर की चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्य द्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्य तप है। यह समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। स्वाध्याय के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अन्वयार्थ : वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय है ॥२५॥

सर्वार्थसिद्धि :

ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का निर्दोष प्रदान करना **वाचना** है। संशय का उच्छेद करने के लिए अथवा निश्चित बल को पुष्ट करने के लिए प्रश्न करना **पृच्छना** है। जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना **अनुप्रेक्षा** है। उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुनः-पुनः दुहराना **आम्नाय** है और धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना **धर्मोपदेश** है।
शंका – यह पूर्वोक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय किसलिए किया जाता है?
समाधान – प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तप में वृद्धि करने के लिए और अतीचारों में विशुद्धि लाने आदि के लिए किया जाता है।

अब व्युत्सर्ग तप के भेदों का ज्ञान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

बाह्याभ्यन्तरोपधयोः ॥२६॥

अन्वयार्थ : बाह्य और अभ्यन्तर उपधि का त्याग यह दो प्रकार का व्युत्सर्ग है ॥२६॥

सर्वार्थसिद्धि :

व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है जिसका अर्थ त्याग होता है। वह दो प्रकार का है- **बाह्य उपधि त्याग** और **अभ्यन्तर उपधि त्याग**। आत्मा से एकत्व को नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि है क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है। तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक काय का त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता है। यह निःसंगता, निर्भयता और जीविताशा का व्युदास आदि करने के लिये किया जाता है।

जो बहुवक्तव्य ध्यान पृथक् स्थापित कर आये हैं उसके भेदों का कथन करना इस समय प्राप्त काल है तथापि उसे उल्लंघन करके इस समय ध्यान के प्रयोक्ता, स्वरूप और काल निर्धारण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

उत्तम-संहननस्यैकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानमान्त-मुहूर्तात् ॥

२७ ॥

अन्वयार्थ : उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ॥२७॥

सर्वार्थसिद्धि :

आदि के वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन ये तीन संहनन उत्तम हैं। ये तीनों ही ध्यान के साधन हैं। मोक्ष का साधन तो प्रथम ही है। जिसके ये उत्तम संहनन होते हैं वह उत्तम संहनन वाला कहलाता है उस उत्तम संहनन वाले के। यहाँ इस पद द्वारा प्रयोक्ता का निर्देश किया है। 'अग्र' पद का अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखों से लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषय में नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है। इस द्वारा ध्यान का स्वरूप कहा गया है। मुहूर्त यह काल का विवक्षित परिमाण है। जो मुहूर्त के भीतर होता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। 'अन्तर्मुहूर्त काल तक' इस पद द्वारा काल की अवधि की गयी है। इतने काल के बाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर होती है।

शंका – यदि चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है निरोध अभाव स्वरूप होता है, इसलिये गधे के सींग के समान ध्यान असत् ठहरता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य चिन्ता की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूप से प्रवृत्ति होने के कारण वह सत् कहा जाता है, क्यों कि अभाव भावान्तर स्वभाव होता है और अभाव वस्तु का धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व विपक्ष व्यावृत्ति इत्यादि हेतु के अंग आदि के द्वारा सिद्ध होती है। अथवा, यह निरोध शब्द 'निरोधनं निरोधः' इस प्रकार भाव साधन नहीं है। तो क्या है ? 'निरुध्यत इति निरोधः' -- जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्म साधन है। चिन्ता का जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्नि शिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

अब उसके भेद दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

जिसके द्वारा जाना जाता है या जिसमें जाना जाता है ऐसा अग्र मुख है ।३। अग्र शब्द अर्थ का पर्यायवाची है, जिसके द्वारा गमन किया जाये या जाना जाये सो अग्र या अर्थ है ऐसा अर्थ समझना ।७। जो गमन करता है या जानता है सो अग्र आत्मा है ।२१।

जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषूत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसंबन्धात्, न क्षायिकपारिणामिकेषु....तत्संबन्धाभावात् । = रूपी पदार्थ विषयक अवधिज्ञान भाव की अपेक्षा स्वविषयभूत पुद्गलस्कन्धों के रूपादि विकल्पों में तथा जीव के औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक भावों में वर्तता है, क्योंकि रूपीद्रव्य का (कर्मों का) सम्बन्ध होने के कारण ये भाव पौद्गलिक हैं । परन्तु क्षायिक व पारिणामिक भावों में नहीं वर्तता है, क्योंकि उन दोनों में उस रूपीद्रव्य के सम्बन्ध का अभाव है ।

‘रूपिषु’ इत्यनेन पुद्गलाः पुद्गलद्रव्यसंबन्धाश्च जीवाः परिगृह्यन्ते । = सूत्र में कहे गये ‘रूपिषु’ इस पद से पुद्गलों का और पुद्गलों से बद्ध जीवों का ग्रहण होता है ।

आर्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥२८॥

अन्वयार्थ : आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं ॥२८॥

सर्वार्थसिद्धि :

आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ऋत का अर्थ दुःख है और अर्तिकी 'अर्दनं अर्तिः' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें (ऋत में या अर्ति में) जो होता है वह **आर्त** है। रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। इसका कर्म या इसमें होने वाला **रौद्र** है। धर्म का व्याख्यान पहले कर आये हैं। जो धर्म से युक्त होता है वह **धर्म्य** है। तथा जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है वह **शुक्ल** है। यह चार प्रकार का ध्यान दो भागों में विभक्त है, क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार का है। जो पापास्रव का कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मों के निर्दहन करने की

सामर्थ्य से युक्त है वह प्रशस्त है।
तो वह क्या है ऐसा प्रश्न करने पर आगे का सूत्र कहते हैं-

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

अन्वयार्थ : उनमें से पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं ॥२९॥

सर्वार्थसिद्धि :

पर, उत्तर और अन्त्य इनका एक अर्थ है। अन्तिम शुक्लध्यान है और इसका समीपवर्ती होने से धर्म्यध्यान भी पर है ऐसा उपचार किया जाता है, क्योंकि सूत्र में 'परे' यह द्विवचन दिया है, इसलिए उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण होता है। 'पर' अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ये मोक्षके हेतु हैं इस वचनसे अर्थात् आर्त और रौद्र ये संसार के हेतु हैं यह तात्पर्य फलित होता है, क्योंकि मोक्ष और संसार के सिवा और कोई तीसरा साध्य नहीं है।

उनमें आर्तध्यान चार प्रकार का है। उनमें से प्रथम भेद के लक्षण का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहारः ॥ ३०॥

अन्वयार्थ : अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिन्तासातत्य का होना प्रथम आर्तध्यान है ॥३०॥

सर्वार्थसिद्धि :

अमनोज्ञ का अर्थ अप्रिय है। विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे बाधा के कारण होने से अमनोज्ञ कहे जाते हैं। उनका संयोग होने पर वे मेरे कैसे न हों इस प्रकार का संकल्प चिन्ताप्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्तध्यान कहलाता है।

अब दूसरे भेद के लक्षण का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अन्वयार्थ : मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है ॥३१॥

सर्वार्थसिद्धि :

किससे वितरीत ? पूर्व में कहे हुए से। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनोज्ञ अर्थात् इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धनादिक के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान जानना चाहिए।

अब तीसरे भेद के लक्षण का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

वेदनायाश्च ॥३२॥

अन्वयार्थ : वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है ॥३२॥

सर्वार्थसिद्धि :

वेदना शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनों अर्थों में विद्यमान है पर यहाँ आर्तध्यान का प्रकरण होने से उससे दुःख वेदना ली गयी है। वातादि विकारजनित दुःख वेदना के होने पर उसका अभाव मेरे कैसे होगा इस प्रकार विकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान कहा जाता है।

अब चौथे आर्तध्यान के लक्षण का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

निदानं च ॥३३॥

अन्वयार्थ : निदान नाम का चौथा आर्तध्यान है ॥३३॥

सर्वार्थसिद्धि :

भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए मनःप्रणिधान का होना अर्थात् संकल्प तथा निरंतर चिन्ता करना निदान नाम का चौथा आर्तध्यान कहा जाता है।

इस चार प्रकार के आर्तध्यान का स्वामी कौन है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां ॥३४॥

अन्वयार्थ : यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के होता है ॥३४॥

सर्वार्थसिद्धि :

असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव अविरत कहलाते हैं, संयतसंयत जीव देशविरत कहलाते हैं और पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से युक्त क्रिया करने वाले जीव प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। इनमें से अविरत और देशविरत जीवों के चारों ही प्रकारका आर्तध्यान होता है, क्योंकि ये असंयमरूप परिणामसे युक्त होते हैं। प्रमत्तसंयतों के तो निदान के सिवा बाकी के तीन प्रमाद के उदय की तीव्रतावश कदाचित् होते हैं।

संज्ञा आदि के द्वारा आर्तध्यान का व्याख्यान किया। अब दूसरे ध्यान की संज्ञा, हेतु और स्वामी का निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

हिंसानृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥ ३५॥

अन्वयार्थ : हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है। वह अविरत और देशविरत के होता है ॥३५॥

सर्वार्थसिद्धि :

हिंसादिक के लक्षण पहले कह आये हैं। वे रौद्रध्यान की उत्पत्ति के निमित्त होते हैं। इससे हेतुनिर्देश जाना जाता है। हेतु का निर्देश करने वाले इन हिंसादिक के साथ अनुवृत्ति को प्राप्त होने वाले 'स्मृतिसमन्वाहार' पद का सम्बन्ध होता है। यथा- हिंसा का स्मृतिसमन्वाहार आदि। यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरत के जानना चाहिए।

शंका – रौद्र ध्यान अविरत के होओ देशविरत के कैसे हो सकता है?

समाधान – हिंसादिक के आवेश से या वित्तादि के संरक्षण के परतन्त्र होने से कदाचित् उसके भी हो सकता है। किन्तु देशविरत के होने वाला वह रौद्रध्यान नारकादि दुर्गतियों का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की ऐसी ही सामर्थ्य है। परन्तु संयत के तो वह होता ही नहीं है, क्योंकि उसका आरम्भ होने पर संयमसे पतन हो जाता है।

कहते हैं, अन्तर्के दो ध्यान मोक्षके हेतु हैं यह कह आये। उनमें से मोक्ष के हेतुरूप प्रथम ध्यानके भेद, स्वरूप और स्वामी का निर्देश करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं-

आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अन्वयार्थ : आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है ॥३६॥

सर्वार्थसिद्धि :

विचयन करना विचय है। विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनका परस्पर द्वन्द्व समास होकर विचय शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है और इस प्रकार 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः' पद बना है। 'स्मृतिसमन्वाहारः' पद की अनुवृत्ति होती है। और उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। यथा- आज्ञाविचय के लिए स्मृतिसमन्वाहार आदि। स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से तथा पदार्थों के सूक्ष्म होने से तत्त्व के समर्थन में हेतु और दृष्टान्त का अभाव होने पर सर्वज्ञप्रणीत आगम को प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। अथवा स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्व-सिद्धांत के अविरोध द्वारा तत्त्व का समर्थन करने के लिए उसका जो तर्क, नय और प्रमाण की योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से **आज्ञाविचय** कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है। अथवा, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना **अपायविचय** धर्मध्यान है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावनिमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना **विपाकविचय** धर्मध्यान है। तथा

लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करना **संस्थानविचय** धर्मध्यान है।

पहले उत्तम क्षमादिरूप धर्मका स्वरूप कह आये हैं। उससे अनपेक्षित अर्थात् युक्त धर्मध्यान चार प्रकार का जानना चाहिए। यह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों के होता है।

तीन ध्यानों का कथन किया, इस समय शुक्लध्यान का कथन करना चाहिए, उसके आगे चार भेद कहने वाले हैं उनमें-से आदि के दो भेदों के स्वामीका कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

प्रश्न – अनित्य आदि अनुप्रेक्षा भी धर्मध्यान की जाति होने से धर्मध्यान में अन्तरभूत हो जाती है, अतः अनित्यादि भावनाओं का पृथक् निर्देश करना व्यर्थ है ?

उत्तर – अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं में जब बार-बार चिन्तन-धारा चालू रहती है तब वे ज्ञान-रूप हैं पर जब उन भावनाओं में एकाग्र चिन्ता-निरोध होकर चिन्तन-धारा एक स्थान में केन्द्रित हो जाती है तब वे ध्यान कहलाती हैं अतः सविकल्प चिन्तन भावना है और निर्विकल्प ध्यान है, यह इन दोनों में भेद है।

धर्म-ध्यान तो अप्रमत्त गुणस्थान में ही होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अप्रमत्त गुणस्थान में ही धर्म-ध्यान मानने पर असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त-संयत के धर्म-ध्यान के अभाव का प्रसंग आता है। असंयत सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग्दर्शन के प्रभाव से धर्मध्यान होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन-पूर्वक धर्म-ध्यान होता है अतः वह असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और प्रमत्त-संयत के भी होता है। यदि धर्मध्यान 'अप्रमत्त के ही होता है' ऐसी अवधारणा की जाती है तो असंयतादि गुणस्थानों में धर्म-ध्यान को निवृत्ति का प्रसंग आता है।

उपशान्त-कषाय और क्षीण-कषाय में धर्म-ध्यान होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर उपशान्त-कषाय और क्षीण-कषाय में शुक्ल-ध्यान के अभाव का प्रसंग आता है परन्तु उपशान्त-कषाय और क्षीण-कषाय में शुक्ल-ध्यान माना जाता है, धर्म-ध्यान नहीं।

उपशान्त-कषाय और क्षीण-कषाय गुणस्थान में धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान दोनों मानना उचित नहीं है, ऐसा मानने पर पूर्वाचार्यों के कथन में विरोध आता है, क्योंकि पूर्वाचार्य-कथित आर्ष-ग्रंथों में श्रेणियों में शुक्ल-ध्यान का ही उल्लेख किया है, धर्म-ध्यान का नहीं।

यदि धर्म-ध्यान चतुर्थ-गुणस्थान से लेकर सप्तम-गुणस्थान पर्यन्त होता है, तो शुक्ल-ध्यान किसके है ? ऐसा पूछने पर आगे कहे जाने वाले शुक्ल-ध्यान के चार विकारों में प्रथम दो विकारों के स्वामियों का निर्देश करते हैं --

शुक्ले चाद्ये पूर्व-विदः ॥३७॥

अन्वयार्थ : आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद के होते हैं ॥३७॥

सर्वार्थसिद्धि :

आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यान के भेदों में से आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं। सूत्र में 'च' शब्द आया है उससे धर्मध्यानका समुच्चय होता है। 'व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है' इस नियम के अनुसार श्रेणि चढ़नेसे पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

शेष के दो शुक्लध्यान किसके होते हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

पूर्वविद अर्थात् श्रुत-केवली के आदि के दो शुक्ल-ध्यान होते हैं ॥३७॥

आदि के दो शुक्ल-ध्यान धारण करने का सामर्थ्य सकल श्रुत के धारी के है, अन्य के नहीं। इस बात की सूचना देने के लिये

पूर्वविद विशेषण का ग्रहण किया गया है ॥१॥

पूर्वकथित धर्म-ध्यान के समुच्चय के लिये 'व' शब्द का उल्लेख किया है कि पूर्वविद (श्रुत-केवली) के आदि के पृथक्-वितर्क-वीचार और एकत्व-वितर्क ये दो ध्यान होते हैं और धर्म-ध्यान भी होता है ॥२॥

प्रश्न – 'च' शब्द से धर्म-ध्यान को ग्रहण करने पर विषय का भेद नहीं रहेगा कि किसके धर्म-ध्यान होता है और किसके शुक्ल-ध्यान ?

उत्तर – 'च' शब्द से धर्म-ध्यान को ग्रहण करने पर विषय के भेद का अभाव नहीं होता; क्योंकि धर्म-ध्यान श्रेणी-आरोहण के पहले होता है तथा श्रेण्यारोहण-काल में शुक्ल-ध्यान होता है, यह बात व्याख्यान से ज्ञात हो जाती है ॥३॥

परे केवलिनः ॥३८॥

अन्वयार्थ : शेष के दो शुक्लध्यान केवली के होते हैं ॥३८॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिसके समस्त ज्ञानावरण का नाश हो गया है ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवली के पर अर्थात् अन्त के दो शुक्लध्यान होते हैं।

अब क्रम से शुक्लध्यान के भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

अंतिम के दो शुक्ल-ध्यान केवलज्ञानी के होते हैं

प्रश्न – यदि आदि के दो शुक्लध्यान उपशान्त-काषायी और क्षीण-मोही के नियम से होते हैं तो शेष दो शुक्ल-ध्यान किसके होते हैं ?

उत्तर – 'केवली' यह शब्द सामान्य है, अतः इस केवली शब्द से अचिंत्य विभूति रूप केवलज्ञान साम्राज्य का अनुभव करने वाले सयोग-केवली और अयोग-केवली इन दोनों का ग्रहण करना चाहिये। इससे यह फलितार्थ हुआ की उपशांत-मोही के पृथक्त्व-वितर्क शुक्ल-ध्यान, क्षीणमोही (बारहवें गुणस्थान) के एकत्व-वितर्क शुक्ल-ध्यान, सयोग-केवली के सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और अयोग-केवली के व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति शुक्ल-ध्यान होता है। अतः अन्तिम दो शुक्ल-ध्यान केवली के गुणस्थान होते हैं, छद्मस्थों के नहीं।

प्रश्न – अंधकार को मुष्टि से घात करने के समान इस शुक्लध्यान का अनुष्ठान करने वालों की प्रक्रिया के प्रति हमारी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनके लक्षण विशेष के निर्देश की उपलब्धि नहीं होती ?

उत्तर – यदि इनके लक्षण-विशेष का निर्देश नहीं होता तो इनके परस्पर विशिष्ट पर्यायान्तर नहीं होते, परन्तु परस्पर जो पर्यायान्तर हैं, उन्हें कहते हैं -

पृथक्त्वैकत्व-वितर्क-सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-व्युपरत-क्रियानिवर्तिनि ॥३९॥

अन्वयार्थ : पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं ॥३९॥

सर्वार्थसिद्धि :

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं। आगे कहे जानेवाले लक्षण की अपेक्षा सबका सार्थक नाम जानना चाहिए।

अब उसके आलम्बन विशेष का निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवर्ति, ये चार शुक्ल-ध्यान हैं ॥३९॥

आगे कहे जाने वाले लक्षण की अपेक्षा से ये चारों ही ध्यान सार्थक नाम वाले हैं। जैसे -- पृथक्त्वितर्क=श्रुत और वीचार=अर्थ व्यंजन का परिवर्तन जिसमें हो अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रुत का परिवर्तन जिसमें होता है वह पृथक्-वितर्क-वीचार है, इनका लक्षण आगे कहेंगे ॥१॥

यदि ये चार प्रकार के शुक्ल-ध्यान हैं तो उनका आलम्बन क्या है ? विषय क्या है ? सो कहते हैं --

त्र्येकयोग-काययोगायोगानाम् ॥४०॥

अन्वयार्थ : वे चार ध्यान क्रम से तीन योगवाले, एक योगवाले, काययोगवाले और अयोग के होते हैं ॥४०॥

सर्वार्थसिद्धि :

'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्र में योग शब्द का व्याख्यान कर आये हैं। पूर्व में कहे गये शुक्लध्यान के चार भेदों के साथ त्रियोग आदि चार पदों का क्रम से सम्बन्ध जान लेना चाहिए। तीन योग वाले के पृथक्त्ववितर्क होता है। तीन योगों में-से एक योग वाले के एकत्ववितर्क होता है। काययोगवाले के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है और अयोगी के व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है।

अब इन चार भेदों में-से आदि के दो भेदों के सम्बन्ध में विशेष ध्यान कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

राजवार्तिक :

तीनों योग वालों के पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, किसी एक योग वाले के एकत्व-वितर्क-वीचार, काय-योग वालों के सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और अयोगी के व्युपरत-क्रिया-निवर्ती ध्यान होता है ॥४०॥

इस तत्त्वार्थ-सूत्र के छोटे अध्याय के प्रथम सूत्र "काय-वाङ्मनः कर्मयोगः" में योग का अर्थ कर दिया गया है ॥१॥

इन चारों ध्यानों का सम्बन्ध क्रमशः लगाना चाहिये अर्थात् शुक्लध्यान के चार विकल्प कहे हैं। उन विकल्पों के साथ यथासंभव सम्बन्ध होता है -- जैसे पृथक्त्व-वितर्क-वीचार शुक्ल-ध्यान तीनों के साथ हो सकता है। एकत्व-वितर्क तीनों योगों में से किसी एक योग के साथ होता है, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती शुक्ल-ध्यान काय-योग वाले के होता है और अयोगी के व्युपरत-क्रिया-निवर्ती ध्यान होता है ॥२॥

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान का विशेष ज्ञान कराने के लिये कहते हैं ---

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अन्वयार्थ : पहले के दो ध्यान एक आश्रय वाले, सवितर्क और सवीचार होते हैं ॥४१॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिन दो ध्यानों का एक आश्रय होता है वे एक आश्रयवाले कहलाते हैं। जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। जो वितर्क और वीचार के साथ रहते हैं वे सवितर्कवीचार ध्यान कहलाते हैं। सूत्र में आये हुए पूर्व पद से पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान लिये गये हैं। पूर्व सूत्र में यथासंख्य का प्रसंग होने पर अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अन्वयार्थ : दूसरा ध्यान अवीचार है ॥४२॥

सर्वार्थसिद्धि :

पहले के दो ध्यानों में जो दूसरा ध्यान है वह अवीचार जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है तथा दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अवीचार होता है।

अब वितर्क और वीचार में क्या भेद है यह दिखलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अन्वयार्थ : वितर्क का अर्थ श्रुत है ॥४३॥

सर्वार्थसिद्धि :

विशेष रूप से तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क श्रुतज्ञान कहलाता है।
अब वीचार किसे कहते हैं यह बात अगले सूत्र द्वारा कहते हैं-

वीचारोऽर्थव्यंजन-योगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अन्वयार्थ : अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति वीचार है ॥४४॥

सर्वार्थसिद्धि :

अर्थ ध्येय को कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं। **व्यञ्जन** का अर्थ वचन है तथा काय, वचन और मन की क्रिया को **योग** कहते हैं। **संक्रान्ति** का अर्थ परिवर्तन है।

द्रव्य को छोड़कर पर्याय को प्राप्त होता है और पर्याय को छोड़ द्रव्य को प्राप्त होता है-यह **अर्थसंक्रान्ति** है।

एक श्रुतवचन का आलम्बन लेकर दूसरे वचन का आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचन का आलम्बन लेता है-यह **व्यंजन-संक्रान्ति** है।

काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर काययोग को स्वीकार करता है-यह **योगसंक्रान्ति** है। इस प्रकार के परिवर्तन को **वीचार** कहते हैं। सामान्य और विशेष रूप से कहे गये इस चार प्रकार के धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकार के उपायों से युक्त होने पर संसार का नाश करने के लिए जिसने भले प्रकार से परिकर्म को किया है ऐसा मुनि ध्यान करने के योग्य होता है। जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साह से युक्त बालक अव्यवस्थित और मौथरे शस्त्र के द्वारा भी चिरकाल में वृक्ष को छेदता है उसी प्रकार चित्त की सामर्थ्य को प्राप्तकर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचन में पृथक्त्व रूपसे संक्रमण करने वाले मन के द्वारा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान को धारण करने वाला होता है। पुनः जो समूल मोहनीय कर्म का दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धि विशेष को प्राप्त होकर बहुत प्रकार की ज्ञानवरण की सहायीभूत प्रकृतियों के बन्ध को रोक रहा है, जो कर्मों की स्थिति को न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञान के उपयोग से युक्त है, जो अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति से रहित है, निश्चल मनवाला है, क्षीणकषाय है और वैदूर्यमणि के समान निरुपलेप है वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटता है। इस प्रकार उसके एकत्ववितर्क ध्यान कहा गया है। इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसने चार घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है, जिसके केवलज्ञानरूपी किरणसमुदाय प्रकाशित हो गया है, जो मेघमण्डल का निरोध कर निकले हुए सूर्य के समान भासमान हो रहा है ऐसे भगवान्, तीर्थंकर केवली या सामान्य केवली इन्द्रों के द्वारा आदरणीय और पूज्यनीय होते हुए उत्कृष्टरूप से कुछ कम पूर्व कोटि काल तक विहार करते हैं। वह जब आयु में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति आयुर्कर्म के बराबर शेष रहती है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और बादरकाययोग को त्यागकर तथा सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करता है, परन्तु जब उन सयोगी जिन के आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और शेष तीन कर्मों की स्थिति उससे अधिक शेष रहती है तब जिन्हें सातिशय आत्मोपयोग प्राप्त है, जिन्हें सामायिक का अवलम्बन है, जो विशिष्ट करण से युक्त हैं, जो कर्मों का महासंवर कर रहे हैं और जिनके स्वल्पमात्रा में कर्मों का परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने आत्मप्रदेशों के फैलने से कर्मरज को परिशातन करने की शक्तिवाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को चार समयों के द्वारा करके अनन्तर प्रदेशों के विसर्पण का संकोच करके तथा शेष चार कर्मों की स्थिति को समान करके अपने पूर्व शरीरप्रमाण होकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करते हैं। इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यान को आरम्भ करते हैं। इसमें प्राणापान के प्रचाररूप क्रिया का तथा सब प्रकार के कर्मबन्ध के आस्रव का निरोध हो जाने से तथा बाकी के बचे सब कर्मों के नाश करने की शक्ति के उत्पन्न हो जाने से अयोगिकेवली के संसार के सब प्रकार के दुःखजाल के सम्बन्ध का उच्छेद करने वाला सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र, ज्ञान और दर्शनरूप साक्षात् मोक्ष का कारण उत्पन्न होता है। वे अयोगिकेवली भगवान् उस समय ध्यानातिशयरूप अग्नि के द्वारा सब प्रकार के मल-कलंक बन्धन को जलाकर और किट्ट धातु व पाषाण का नाश कर शुद्ध हुए सोने के समान अपने आत्मा को प्राप्तकर परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह दोनों प्रकार का तप नूतन कर्मों के आस्रव के निरोध का हेतु होने से संवर का कारण है और प्राक्तन कर्मरूपी रज के नाश करने का हेतु होने से निर्जरा का भी हेतु है।

यहाँ कहते हैं कि सब सम्यग्दृष्टि क्या समान निर्जरावाले होते हैं या कुछ विशेषता है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

**सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरता-नन्तवियोजक-दर्शनमोह-
क्षपकोपशम-कोपशांत-मोहक्षपक-क्षीणमोह-जिनाः**

क्रमशोऽसंख्येय-गुण-निर्जराः ॥४५॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यगुण निर्जरावाले होते हैं ॥४५॥

सर्वार्थसिद्धि :

सम्यग्दृष्टि आदि ये दश क्रम से असंख्येयगुण निर्जरा वाले होते हैं। यथा- जिसे पूर्वोक्त काललब्धि आदि की सहायता मिली है और जो परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसा भव्य पंचेन्द्रिय जीव क्रम से अपूर्वकरण आदि सोपान पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है।

सर्वप्रथम वह ही प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त के मिलने पर **सम्यग्दृष्टि** होता हुआ असंख्येयगुण कर्मनिर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही चारित्र मोहनीय कर्म के एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय विशुद्धि का प्रकर्ष होने से **श्रावक** होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही प्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की विशुद्धिवश **विरत** संज्ञा को प्राप्त होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ की **विसंयोजना** करता है तब परिणामों की विशुद्धि के प्रकर्षवश उससे असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही दर्शनमोहनीयत्रिकरूपी तृणसमूह को भस्मसात् करता हुआ परिणामों की विशुद्धि के अतिशयवश **दर्शनमोह क्षपक** संज्ञा को प्राप्त होता हुआ पहले से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

इस प्रकार वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणि पर आरोहण करने के सम्मुख होता हुआ तथा चारित्र मोहनीय के उपशम करने के लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धि के प्रकर्षवश **उपशमक संज्ञा** को अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीय के उपशमक निमित्त मिलने पर **उपशान्त कषाय संज्ञा** को प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरा से असंख्येय गुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही चारित्रमोहनीय की क्षपणा के लिए सम्मुख होता हुआ तथा परिणामों की विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होकर **क्षपक संज्ञा** को अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीय की क्षपणा के कारणों से प्राप्त हुए परिणामों के अभिमुख होकर **क्षीणकषाय संज्ञा** को प्राप्त करता हुआ पहले कही गयी निर्जरा से असंख्येय गुण निर्जरा वाला होता है।

पुनः वह ही द्वितीय शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिकर्म समूह का नाश करके **जिन संज्ञा** को प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

कहते हैं, सम्यग्दर्शन का सान्निध्य होने पर भी यदि असंख्येयगुण निर्जरा के कारण ये परस्पर में समान नहीं हैं तो क्या श्रावक के समान ये विरत आदिक भी केवल गुणभेद के कारण निर्ग्रन्थपने को नहीं प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए कहते हैं कि यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यतः गुणभेद के कारण परस्पर भेद होने पर भी नैगमादि नय की अपेक्षा वे सभी होते हैं-

राजवार्तिक :

प्रथम सम्यक्त्व आदि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामों) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दसों स्थान क्रमशः असंख्येय-गुणी निर्जरा-वाले हैं। जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञान-शक्ति प्रकट होती है, या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे ऊँघते-ऊँघते भी अल्प स्मृति होती है, या विष-मूर्च्छित व्यक्ति को विष का एकदेश वेग कम होने पर चेतना आती है, अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है -- उसी प्रकार अनन्त-काय आदि एकेन्द्रियों में बार-बार जन्म-मरण-परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो-इन्द्रिय आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस-पर्याय मिलती है। कदाचित् पुनः वहीं एकेन्द्रियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। अर्थात् कोई प्राणी निगोद से निकलकर द्विन्द्रिय आदि में भ्रमण कर पुनः निगोद में चले जाते हैं। इस प्रकार अनेक बार चढ़-उतर कर (कभी एकेन्द्रिय, कभी दो इन्द्रिय, कभी तीन इन्द्रिय आदि में हजारों बार परिभ्रमण करके) नरकादि पर्यायों में दीर्घकाल तक पंचेन्द्रियत्व का अनुभव करके घुणोत्कीर्ण अक्षर (घुण चलता है, उसने अक्षर का आकार बन जाना घुणाक्षर न्याय है) के समान अतीव कठिनता से मानव-जन्म प्राप्त करता है। फिर भी (मानुषभव प्राप्त करके) संसार में भ्रमण कर मानुष पर्याय से भी अति-दुर्लभ उत्तम देश, उत्तम कुल, आदि को प्राप्त करके अल्प संक्लेश के कारण वह भव्यजीव प्रतिभा शक्ति वाला हो थोड़ी सी विशुद्धि को पा लेता है, परिणामों की विशुद्धि से अन्तरात्मा का प्रक्षालन होने पर भी यदि योग्य उपदेश नहीं मिलता तो उसे सन्मार्ग की प्राप्ति नहीं होती और वह कुतीर्थों के द्वारा प्रतिपादित मिथ्या पदार्थों को मानकर मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्या-मार्गों में भटककर पुनः जन्माटवी में परिभ्रमण करता है, यानी संसार का अतिथि बना रहता है। इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम से ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्धि, उपदेश, लब्धि-सम्पन्न (क्षयोपशम-लब्धि, विशुद्धि-लब्धि, देशना-लब्धि को प्राप्त करता है) होता है। अथवा कभी मुनिराज-कथित जिन-धर्म को सुनता है तथा कदाचित् प्रतिबन्धी कर्मों के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है; जैसे कतक-फल के सम्पर्क से जल का कीचड़ नीचे बैठ जाता

है, और जल निर्मल बन जाता है उसी प्रकार मिथ्या उपदेश से अतिमलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ-श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मों की असंख्यात-गुणी निर्जरा करता है और अभूतपूर्वकरण (अनिवृत्ति-करण परिणामों) से प्रथम सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तथा जिनेन्द्र के वचनों में परम रुचि एवं श्रद्धान करता हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। अर्थात् उपशम सम्यक्त्व का अनुभव करता है। पुनः सम्यक्त्व भावना रूप अमृत रस से विशुद्धि को बढ़ाता हुआ मिथ्यात्व की घातक शक्ति का आविर्भाव होने से, धान्य को कूटने से जैसे तुष, कण और चावल पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार मिथ्या-दर्शन के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, ये तीन विभाग कर के सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करता हुआ सद्भूत पदार्थों का श्रद्धान करना जिसका फल है ऐसा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। पुनः प्रशम, संवेग, अनुकम्पादि गुणों का धारी जिनेन्द्र-भक्ति से बढ़ी हुई विपुल भावनाओं का आगार यह वेदक सम्यग्दृष्टि जहाँ केवली है वहाँ उनके चरणमूल में मोह (दर्शनमोह) का क्षय करना प्रारम्भ करता है। उस क्षायिक सम्यक्त्व की पूर्णता पूर्व में बाँधे हुए आयुर्कर्म के अनुसार चारों गतियों में से किसी भी गति में करता है, (परन्तु प्रारम्भ कर्म-भूमिया मनुष्य ही करता है) इस प्रकार मिथ्यात्व का निराकरण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। (अर्थात् जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था में नरकायु, तिर्यन्चायु, मनुष्यायु का बन्ध कर लिया हो, पुनः क्षायिक-सम्यक्त्व करना प्रारम्भ किया हो तथा अनन्तानुबन्धी चार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व-प्रकृति का क्षय करके मर गया हो, पुनः चारों गतियों में से किसी में जन्म लेकर सम्यक्त्व-प्रकृति का क्षय करता है अतः मोह के क्षय की समाप्ति चारों गतियों में है) अथवा, पूर्व-कथित शंकादि दोषों से रहित, कुसमयों (कुशास्तों) से अक्षुब्ध बुद्धि वाला, सत्पदार्थों की उपलब्धि करने वाला और मोहतिमिर

पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

अन्वयार्थ : पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ हैं ॥४६॥

सर्वार्थसिद्धि :

जिन का मन उत्तरगुणों की भावनासे रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतों में भी परिपूर्णता को नहीं प्राप्त होते हैं वे अविशुद्धपुलाक (मुरझाये हुए धान्य) के समान होने से **पुलाक** कहे जाते हैं।

जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतोंका अखण्डरूप से पालन करते हैं, शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार से घिरे रहते हैं और विविध प्रकार के मोह से युक्त होते हैं वे **बकुश** कहलाते हैं। यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्द का पर्यायवाची है।

कुशील दो प्रकारके होते हैं-प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो परिग्रह से घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणों में परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील कहलाते हैं। जिन्होंने अन्य कषायों के उदयको जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषायके अधीन हैं वे कषायकुशील कहलाते हैं।

जिस प्रकार जलमें लकड़ी से की गयी रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रकट होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करते हैं वे **निर्ग्रन्थ** कहलाते हैं।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है ऐसे दोनों केवली **स्नातक** कहलाते हैं। ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ होते हैं। इनमें चारित्ररूप परिणामों की न्यूनाधिकता के कारण भेद होने पर भी नैगम और संग्रह आदि नयों की अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

अब उन पुलाक आदि के सम्बन्ध में पुनरपि ज्ञान प्राप्त कराने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थलिङ्ग-लेश्योपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अन्वयार्थ : संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों का व्याख्यान करना चाहिए ॥४७॥

सर्वार्थसिद्धि :

ये पुलाक आदि संयम आदि आठ अनुयोगों के द्वारा साध्य हैं अर्थात् व्याख्यान करने योग्य हैं। यथा- पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में रहते हैं। कषायकुशील पूर्वोक्त दो संयमों के साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय इन दो संयमों में रहते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक मात्र यथाख्यात संयम में रहते हैं।

श्रुत- पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टरूप से अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं। जघन्यरूप से पुलाक का श्रुत आचार वस्तुप्रमाण होता है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों का श्रुत पाठ

प्रवचनमातृका प्रमाण होता है। स्नातक श्रुतज्ञान से रहित केवली होते हैं।

प्रतिसेवना- दूसरों के दबाववश जबरदस्ती से पाँच मूलगुण और रात्रिभोजन वर्जन व्रत में से किसी एक को प्रतिसेवना करने वाला पुलाक होता है। बकुश दो प्रकार के होते हैं, उपकरणबकुश और शरीरबकुश। उनमें से अनेक प्रकार की विशेषताओं को लिये हुए उपकरणों को चाहने वाला उपकरणबकुश होता है तथा शरीर का संस्कार करने वाला शरीरबकुश होता है। प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों को विराधना न करता हुआ उत्तरगुणों की किसी प्रकार की विराधना की प्रतिसेवना करनेवाला होता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकों के प्रतिसेवना नहीं होती।

तीर्थ- ये सब निर्ग्रन्थ सब तीर्थकरों के तीर्थों में होते हैं।

लिंग- लिंग दो प्रकार का है, द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा पाँचों ही साधु निर्ग्रन्थ लिंगवाले होते हैं। द्रव्यलिंग अर्थात् शरीरकी ऊँचाई, रंग व पीछी आदि की अपेक्षा उनमें भेद है।

लेश्या- पुलाक के आगे की तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना-कुशील के छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील के अन्त की चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय कषायकुशील के तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक के केवल शुक्ल लेश्या होती है और अयोगी लेश्यारहित होते हैं।

उपपाद- पुलाक का उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार कल्प के उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। इन सभी का जघन्य उपपाद सौधर्म कल्प में दो सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं।

स्थान- कषायनिमित्तक असंख्यात संयमस्थान होते हैं। पुलाक और कषायकुशील के सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनों असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। इसके बाद पुलाक की व्युच्छिति हो जाती है। आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानों तक अकेला जाता है। इससे आगे कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। यहाँ बकुश की व्युच्छिति हो जाती है। इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील की व्युच्छिति हो जाती है। पुनः इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर कषाय कुशील की व्युच्छिति हो जाती है। इससे आगे अकषाय स्थान है जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त होता है। उसकी भी असंख्यातस्थान आगे जाकर व्युच्छिति हो जाती है। इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त होता है। इनकी संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्ति में नौवां अध्याय समाप्त हुआ।

अधिकार-१० (मोक्षाधिकार)

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अन्वयार्थ : मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है ॥१॥

सर्वार्थसिद्धि :

कहते हैं अन्त में कहे गये मोक्ष के स्वरूप के कथन का अब समय आ गया है। यह कहना सही है तथापि केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति के कारणों का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है॥१॥

इस सूत्र में समास करना उचित है, क्योंकि इससे सूत्र लघु हो जाता है।

शंका - कैसे ? प्रतिशंका - क्योंकि ऐसा करने से एक क्षय शब्द नहीं देना पड़ता है और अन्य विभक्ति के निर्देश का अभाव हो जाने से 'च' शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता है, इसलिए सूत्र लघु हो जाता है। यथा - 'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्'।

समाधान - यह कहना सही है तथापि क्षय के क्रम का कथन करने के लिए वाक्यों का भेद करके निर्देश किया है। पहले ही मोह का क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त काल तक क्षीणकषाय संज्ञा को प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और

अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है। इन कर्मों का क्षय केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्ति का निर्देश किया है।

शंका – पहले ही मोह के क्षय को कैसे प्राप्त होता है ?

समाधान – परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों में-से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणि पर आरोहण करने के लिए सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त होकर अपूर्वकरण के प्रयोग द्वारा अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान संज्ञा का अनुभव करके और वहाँ पर नूतन-परिणामों की विशुद्धिवश पापप्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को कृश करके तथा शुभकर्मों के अनुभाग की वृद्धि करके अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति द्वारा अनिवृत्तिबादरसाम्पराय क्षपकगुणस्थान पर आरोहण करके तथा वहाँ आठ कषायोंका नाश करके तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्रम से नाश करके, छह नोकषाय का पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुषवेद का क्रोधसंज्वलन में, क्रोधसंज्वलन का मानसंज्वलन में, मानसंज्वलन का मायासंज्वलन में और मायासंज्वलन का लोभसंज्वलन में क्रम से बादरकृष्टिविभाग के द्वारा संक्रमण करके तथा लोभसंज्वलन को कृश करके, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकत्व का अनुभव करके, समस्त मोहनीय का निर्मूल नाश करके, क्षीणकषाय गुणस्थान पर आरोहण करके, मोहनीय के भार को उतारकर क्षीणकषाय गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला का नाश करके तथा अन्तिम समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का अन्त करके तदनन्तर ज्ञानदर्शनस्वभाव अवितर्क्य विभूति विशेषरूप केवलपर्याय को प्राप्त होता है।

कहते हैं कि किस कारण से मोक्ष प्राप्त होता है और उसका लक्षण क्या है यह बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अन्वयार्थ : बन्ध-हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है ॥२॥

सर्वार्थसिद्धि :

मिथ्यादर्शनादिक हेतुओं का अभाव होने से नूतन कर्मों का अभाव होता है और पहले कही गयी निर्जरारूप हेतु के मिलने पर अर्जित कर्मों का नाश होता है। इन दोनों से, 'बन्धहेत्वभावनिरजराभ्याम्' यह हेतुपरक विभक्ति का निर्देश है, जिसने भवस्थिति के हेतुभूत आयुर्कर्म के बराबर शेष कर्मों की अवस्था को कर लिया है उसके उक्त कारणों से एक साथ समस्त कर्मों का आत्यन्तिक वियोग होना मोक्ष है ऐसा जानना चाहिए। कर्म का अभाव दो प्रकार का है - **यत्नसाध्य** और **अयत्नसाध्य**। इनमें-से चरम देहवाले के नरकायु, तिर्यचायु और देवायु का अभाव यत्नसाध्य नहीं होता, क्योंकि चरम देहवाले के उनका सत्व नहीं उपलब्ध होता।

आगे यत्न-साध्य अभाव कहते हैं - असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में सात प्रकृतियों का क्षय करता है। पुनः निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नामवाली सोलह कर्मप्रकृतियों का अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थान में एक साथ क्षय करता है। इसके बाद उसी गुणस्थान में आठ कषायों का नाश करता है। पुनः वहीं पर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्रम से क्षय करता है। तथा छह नोकषायों को एक ही प्रहार के द्वारा गिरा देता है। तदनन्तर पुरुषवेद संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमाया का वहाँ पर क्रम से अत्यन्त क्षय करता है। तथा लोभसंज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। निद्रा और प्रचला क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान के उपान्त्य समय में प्रलय को प्राप्त होते हैं। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का उसी गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय होता है। कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कर्मण शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, औदारिक शरीर अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, छह संहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त रस, पाँच अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र नामवाली बहत्तर प्रकृतियों का अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में विनाश होता है तथा कोई एक वेदनीय, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थकर और उच्चगोत्र नामवाली तेरह प्रकृतियों को अयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में वियोग होता है।

कहते हैं कि क्या इन पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रकृतियोंके वियोग से ही मोक्ष मिलता है या भावकर्मों के भी अभाव से मोक्ष मिलता है इस बातको बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

औपशमिकादि-भव्यत्वानां च ॥३॥

अन्वयार्थ : तथा औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने से मोक्ष होता है ॥३॥

सर्वार्थसिद्धि :

क्या होता है ? मोक्ष होता है। यहाँ पर 'मोक्ष' इस पद की अनुवृत्ति होती है। अन्य पारिणामिक भावों की निवृत्ति करने के लिए सूत्र में भव्यत्व पद का ग्रहण किया है। इससे पारिणामिक भावों में भव्यत्व का और औपशमिक आदि भावों का अभाव होने से मोक्ष होता है यह स्वीकार किया जाता है।

कहते हैं, यदि भावोंके अभाव होने से मोक्ष की प्रतिज्ञा करते हो तो औपशमिक आदि भावों की निवृत्ति के समान समस्त क्षायिक भावों की निवृत्ति मुक्त जीव के प्राप्त होती है ? यह ऐसा होवे यदि इसके सम्बन्धमें कोई विशेष बात न कही जावे तो। किन्तु इस सम्बन्धमें विशेषता है इसलिए अपवादका विधान करने के लिए यह आगे का सूत्र कहते हैं-

अन्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अन्वयार्थ : पर केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान और सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता ॥४॥

सर्वार्थसिद्धि :

यहाँ पर अन्यत्र शब्द की अपेक्षा पंचमी विभक्ति का निर्देश किया है। केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इनके सिवा अन्य भावों में यह विधि होती है।

शंका – सिद्धों के यदि चार ही भाव शेष रहते हैं तो अनन्तवीर्य आदि की निवृत्ति प्राप्त होती है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ज्ञान-दर्शन के अविनाभावी होने से अनन्तवीर्य आदिक भी सिद्धों में समानरूप से पाये जाते हैं, क्योंकि अनन्त सामर्थ्य से हीन व्यक्ति के अनन्तज्ञान की वृत्ति नहीं हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है।

शंका – अनाकार होने से मुक्त जीवोंका अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान – नहीं। क्योंकि उनके अतीत अनन्तर शरीर का आकार उपलब्ध होता है।

शंका – यदि जीव शरीर के आकारका अनुकरण करता है तो शरीर का अभाव होने से उसके स्वाभाविक लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होने के कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव के तत्प्रमाण होने का कोई कारण नहीं उपलब्ध होता। नामकर्म का सम्बन्ध जीव के संकोच और विस्तार का कारण है, किन्तु उसका अभाव हो जाने से जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार नहीं होता।

यदि कारण का अभाव हो जाने से प्रदेशों का संकोच और विस्तार नहीं होता तो गमनके कारण का अभाव हो जाने से जिस प्रकार यह जीव तिरछा और नीचे की ओर गमन नहीं करता है उसी प्रकार उसका ऊर्ध्वगमन भी नहीं प्राप्त होता है, इसलिए जिस स्थान पर मुक्त होता है उसी स्थान पर उसका अवस्थान प्राप्त होता है, ऐसी शंकाके होनेपर आगेके सूत्र द्वारा उसका समाधान करते हैं।

तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्या-लोकान्तात् ॥५॥

अन्वयार्थ : तदनन्तर मुक्त जीव लोक के अन्त तक ऊपर जाता है ॥५॥

सर्वार्थसिद्धि :

उसके अनन्तर।

शंका – किसके ?

समाधान – सब कर्मों के वियोग होने के। सूत्रमें 'आङ्' पद अभिविधि अर्थ में आया है। लोक के अन्त तक ऊपर जाता है। जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है इसका कोई हेतु नहीं बतलाया, इसलिए इसका निश्चय कैसे होता है, अतः इसी बात का निश्चय करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्-बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अन्वयार्थ : पूर्वप्रयोग से, संग का अभाव होने से, बन्धन के टूटने से और वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥६॥

सर्वार्थसिद्धि :

कहते हैं, पुष्कल (बहुत) भी हेतु दृष्टान्त द्वारा समर्थन के बिना अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होते इसलिए आगे का सूत्र कहते हैं --

आविद्धकुलालचक्रवद्- व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

अन्वयार्थ : घुमाये गये कुम्हार के चक्र के समान, लेप से मुक्त हुई तूमड़ी के समान, एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान ॥७॥

सर्वार्थसिद्धि :

पिछले सूत्र में कहे गये हेतुओं का और इस सूत्र में कहे गये दृष्टान्तों का क्रम से सम्बन्ध होता है। यथा- कुम्हार के प्रयोग से किया गया हाथ, दण्ड और चक्र के संयोगपूर्वक जो भ्रमण होता है उसके उपरत हो जाने पर **पूर्व प्रयोगवश** संस्कारका क्षय होने तक चक्र घूमता रहता है। इसी प्रकार संसार में स्थित आत्मा ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अनेक बार प्रणिधान किया है उसका अभाव होने पर भी उसके आवेश पूर्वक मुक्त जीव का गमन जाना जाता है। **असंगत्वात्**- जिस प्रकार मृत्तिका के लेप से तूमड़ी में जो भारीपन आ जाता है उससे जल के नीचे पड़ी हुई तूमड़ी जल से मिट्टी के गीले हो जाने के कारण बन्धन के शिथिल होने से शीघ्र ही ऊपर ही जाती है उसी प्रकार कर्मभार के आक्रमण से आधीन हुआ आत्मा उसके आवेशवश संसार में अनियम से गमन करता है किन्तु उसके संग से मुक्त होने पर ऊपर ही जाता है। **बन्धच्छेदात्**- जिस प्रकार बीजकोश के बन्धन के टूटने से एरण्ड बीज की ऊर्ध्व गति देखी जाती है उसी प्रकार मनुष्यादि भव को प्राप्त कराने वाले गतिनाम और जातिनाम आदि समस्त कर्मों के बन्ध का छेद स्वभाववाले वायु के सम्बन्ध से रहित प्रदीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करती है उसी प्रकार मुक्त आत्मा भी नानागति रूप विकार के कारणभूत कर्म का अभाव होने पर ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से ऊपर की ओर ही आरोहण करता है। कहते हैं कि यदि मुक्त जीव ऊर्ध्व गति स्वभाववाला है तो लोकान्त से ऊपर भी किस कारण से नहीं गमन करता है, इसलिए यहाँ आगे का सूत्र कहते हैं-

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अन्वयार्थ : धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव लोकान्त से और ऊपर नहीं जाता ॥८॥

सर्वार्थसिद्धि :

गति के उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है, इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता। और यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर भी अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है। कहते हैं कि निर्वाण को प्राप्त हुए ये जीव गति, जाति आदि भेद के कारणों का अभाव होने से भेद व्यवहार से रहित ही हैं। फिर भी इनमें कथंचित् भेद भी है क्योंकि-

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थचारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित- ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अन्वयार्थ : क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं ॥९॥

सर्वार्थसिद्धि :

क्षेत्रादिक तरह अनुयोगों के द्वारा सिद्ध जीव साध्य हैं अर्थात् विभाग करने योग्य हैं और यह विभाग वर्तमान और भूत का

अनुग्रह करने वाले दो नयों की विवक्षा से किया गया है।

यथा- क्षेत्र की अपेक्षा किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं ? वर्तमान को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा सिद्धि क्षेत्र में, अपने प्रदेश में या आकाश-प्रदेश में सिद्धि होती है। अतीत को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा जन्म की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में और अपहरण की अपेक्षा मानुष क्षेत्र में सिद्धि होती है।

काल- काल की अपेक्षा किस काल में सिद्धि होती है ? वर्तमानग्राही नय की अपेक्षा एक समय में सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है। अतीतग्राही नय की अपेक्षा जन्म की अपेक्षा सामान्य रूप में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेष रूप से अवसर्पिणी काल में सुषमा-दुःषमा में सिद्ध नहीं होता। इस कालको छोड़कर अन्यकालमें सिद्ध होता है।

गति- गति की अपेक्षा किस गति में सिद्धि होती है ? सिद्धिगति में या मनुष्यगति में सिद्धि होती है।

लिंग- किस लिंग से सिद्धि होती है ? अवेद भाव से या तीनों वेदों से सिद्धि होती है। यह कथन भाव की अपेक्षा है द्रव्य की अपेक्षा नहीं। द्रव्य की अपेक्षा पुलिंग से ही सिद्धि होती है अथवा निर्ग्रन्थलिंग से सिद्धि होती है। भूतपूर्वनय की अपेक्षा सग्रन्थ लिंग से सिद्धि होती है।

तीर्थ- तीर्थ सिद्धि दो प्रकारकी है- तीर्थ- करसिद्ध और इतरसिद्ध। इतर दो प्रकार के हैं, कितने ही जीव तीर्थकर के रहते हुए सिद्ध होते हैं और कितने ही जीव तीर्थकर के अभाव में सिद्ध होते हैं।

चारित्र- किस चारित्र से सिद्धि होती है ? नामरहित चारित्र से सिद्धि होती है या एक, चार और पाँच प्रकार के चारित्र से सिद्धि होती है।

प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्ध- अपनी शक्तिरूप निमित्त से होने वाले ज्ञान के भेद से प्रत्येकबुद्ध होते हैं और परोपदेशरूप निमित्त से होने वाले ज्ञान के भेद से बोधितबुद्ध होते हैं, इस प्रकार ये दो प्रकार के हैं।

ज्ञान- किसी ज्ञान से सिद्धि होती है। एक, दो, तीन और चार प्रकार के ज्ञान विशेषों से सिद्धि होती है।

अवगाहना- आत्मप्रदेश में व्याप्त करके रहना इसका नाम अवगाहना है। वह दो प्रकार की है- जघन्य और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरब है। बीच के भेद अनेक हैं। किसी एक अवगाहना में सिद्धि होती है।

अन्तर- क्या अन्तर है ? सिद्धि को प्राप्त होने वाले सिद्धों का जघन्य अन्तर का अभाव दो समय है और उत्कृष्ट अन्तर का अभाव आठ समय। जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना।

संख्या- जघन्य रूप से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट रूप से एक समय में एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

अल्पबहुत्व- क्षेत्रादि की अपेक्षा भेदों को प्राप्त जीवों की परस्पर संख्या का विशेष प्राप्त करना अल्पबहुत्व है। यथा- वर्तमान नय की अपेक्षा सिद्धिक्षेत्र में सिद्ध होने वाले जीवों का अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्व नय की अपेक्षा विचार करते हैं- क्षेत्र सिद्ध जीव दो प्रकारके हैं- जन्मसिद्ध और संहरणसिद्ध। इनमें-से संहरणसिद्ध जीव सबसे अल्प हैं। इनसे जन्मसिद्ध जीव संख्यातगुणे हैं। क्षेत्रों का विभाग इस प्रकार है- कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक। इनमें से ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे अधोलोक सिद्ध संख्यातगुणे हैं, इनसे तिर्यग्लोक सिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे द्वीपसिद्ध संख्यातगुण हैं। यह सामान्य रूपसे कहा है। विशेष रूप से विचार करने पर लवण समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे कालोद सिद्ध संख्यातगुण हैं। इनसे जम्बूद्वीप सिद्ध संख्यातगुणे हैं। इनसे धातकी खण्ड सिद्ध संख्यातगुण हैं। इनसे पुष्करार्द्ध द्वीप सिद्ध संख्यातगुण हैं। इसी प्रकार कालादि का विभाग करने पर भी आगम के अनुसार अल्पबहुत्व जान लेना चाहिए।

राजवार्तिक :

सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेशभागभवति। आयुषः क्षयात् म्रियते। = मोह की सर्व प्रकृतियों का उपशम हो जाने पर उपशान्तकषाय संज्ञावाला होता है। आयु का क्षय होने पर वह मरण को भी प्राप्त हो जाता है।